ISSN : 2394-5974

प्रभा

वर्ष : 2018-19 (A MULTILINGUAL JOURNAL OF HUMANITIES & SOCIAL SCIENCES) अंक - 05

PATRON :
SHRI AJEET KUMAR SINGH

ADVISORY COMMITTEE

Prof. Manger Pandey
(Ex-Chairman CIL/SL JNU, New Delhi)
Prof. Awadesh Pradhan
(Deptt. of Hindi, B.H.U., Varanasi)
Prof. Gop Bandhu Mishra
(Deptt. of Sanskrit, B.H.U., Varanasi)
Prof. R. P. Pathak
(Dean, Faculty of Social Science, B.H.U., Varanasi)
Prof. Ravindra Nath Singh
(Deptt. of AIHC & Arch, B.H.U., Varanasi)
Prof. M. S. Pandey
(Head, Deptt. of English, B.H.U., Varanasi)
Prof. Arvind Kumar Joshi
(Head, Deptt. of Sociology, B.H.U., Varanasi)
Prof. M. N. Thakur
(CPS/SSS, J.N.U., New Delhi)
Prof. Karmendu Shishir
(Deptt. of Hindi, B.D. Evening College, Patna)
(Patliputra University, Patna)
Dr. Gaya Singh
(Ex. Principal, Harishchandra P. G. College, VNS.)
Dr. Anuradha Banerjee
(Ret. Asso. Prof. Deptt. of English, V. K. M., Varanasi)
Dr. Rakesh Kumar Dwivedi
(Deptt. of Hindi, D.A.V. P.G. College, Varanasi)
Dr. Satish Kumar Singh
(Deptt. of Philosophy, D.A.V. P.G. College, VNS.)

EDITORIAL BOARD

Editor in Chief
Dr. S. D. Singh

Editor
Dr. Samir Kumar Pathak

Editorial Board
Dr. Mishri Lal
Dr. S. B. Singh
Dr. Bandana Bal Chandnani
Dr. Rahul

प्रकाशक
डी. ए. वी. पी. जी. कॉलेज, वाराणसी
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
(नैक (NAAC) द्वारा "A" ग्रेड प्राप्त)
महर्षि दयानन्द मार्ग, वाराणसी- 221001
दूरभाष- 0542-2214438, वेब-साइट : www.davpgvns.ac.in

महाविद्यालय की प्रार्थना

''ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।''

पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा द्युलोक में व्याप्त सविता रूप परमात्मा के उस श्रेष्ठ तेज का हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करते हैं।

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा। सन्न इन्द्रो वृहस्पतिः। शन्नोविष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मवदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवन्तु। तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम्।।

मित्ररूप परमात्मा हमारे लिये कल्याण करें, वरुण रूप परमात्मा कल्याण करें, अर्यमा रूप परमात्मा हमारे लिये कल्याण करें, व्यापक विष्णु (रूप परमात्मा) हमारे लिये कल्याणकर हों। तुम बह्म हों! तुम्हीं को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, ऋत कहूँगा, सत्य कहूँगा। वह ब्रह्म मेरा रक्षण करें, वह वक्ता का रक्षण करें, पुनः मेरा रक्षण करें और वक्ता की रक्षा करे।

ओ३म् सहनावतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।

(परमात्मा) एक साथ हम दोनों गुरु-शिष्य का रक्षण करें, एक साथ हम दोनों का पोषण करें, एक साथ हम दोनों वीर कर्म करें। तेजस्वी हम दोनों का अध्ययन हो, हम दोनों विद्वेष न करें।

ओ३म् आ ब्रह्मन् ब्रह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योतिव्याधी महारथो जायताम्। दोन्ध्रीं धेनुवोंढानड्वानाशुः सप्तिः पुरिन्धर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरा जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो नः औषधः पच्यंताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्।

सब ओर ब्राह्मण ब्रह्म तेजवाला हो, सब ओर राष्ट्र में क्षत्रिय शूर वीर-साधक, व्याधिमुक्त, महारथी हो, गाय दुधारू, बैल वहन करने वाला, घोड़ा द्रुतगति वाला, यज्ञकर्त्ता भी धारणाशील युवा और जयी, श्रेष्ठ थी, सभ्य हो। मेघ हमारे लिए इच्छाभर बरसें। औषधियाँ हमारे लिए फलवती हों। हमारा योगक्षेम बने।

''ओ३म् तेजोह्सि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोह्स्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोह्सिस हो मयि धेहि।

(परमात्मान्) आप तेज हो, तेज मुझमें भरो। वीर्यवान् हो, वीरता मुझमें भरो, बल हो, बल मुझमें भरो। ओज हो, ओज मुझमें भरो। सह (धीरता) हो, सह मुझमें भरो।

ओ३म् असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माह्मृतं गमय।।

असत् से मुझे सत् की ओर प्रेरित करो, तम से मुझे ज्योति की ओर प्रेरित करो। मृत्यु से मुझे अमृत की ओर प्रेरित करो।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
''सर्वस्सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वं सर्वत्र नन्दतु।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।''

सभी कठिनाइयाँ पार करें, सब भलाइयाँ देखें। सद सद् बुद्धि पायें, सब सर्वत्र आनन्द पायें

अनुक्रम

	पहला पन्ना : प्रधान सम्पादक		(iv)
	संपादकीय		(vi)
	स्मरण		
1.	चम्पारण आन्दोलन के दुलर्भ सहयोगी : राजकुमार शुक्ल	डॉ. शिवबहादुर सिंह	1
2.	अगस्त क्रांति और भारत का शासक वर्ग	रणधीर सिंह सुमन	8
	विशेष आलेख		
3.	'वैदिक गणित' की समीक्षा	गुणाकर मुले	16
4.	बीसवीं सदी के अंधेरे में (जर्मन दार्शनिक एडोर्नो पर केंद्रित)	अच्युतानन्द मिश्र	27
5.	नामवर सिंह : कुछ बातचीत, कुछ टिप्पणियाँ	पी. एन. सिंह	41
6.	नीतिशास्त्र का भारतीय परिप्रेक्ष्य और अशोक के अभिलेख	तनवीर हुसैन	54
7.	अस्मिता की खोज : संकट की शुरूआत या समाधान का अंत	डॉ. सतीश कुमार सिंह	59
	आलेख		
8.	मित्रता का अद्वितीय आख्यान 'सुदामा-चरित'	डॉ. राकेश कुमार द्विवेदी	63
9.	साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में दलित विमर्श	डॉ. राकेश कुमार राम	69
10.	मार्क्सवादी समाज दर्शन का महत्व	डॉ. हरिश्चन्द्र यादव	77
11.	उदयन - वासवदत्ता : एक सांस्कृतिक आख्यान	डॉ. मनीषा सिन्हा	82
12.	संस्कृत नाटकों में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति	डॉ. पूनम सिंह	86
13.	पर्यावरण प्रतिबलकों के प्रभाव का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	डॉ. शैलजा सिंह	92
14.	भारतीय दर्शन में मुक्ति	डॉ. रामेन्द्र सिंह	96
15.	कौन समझेगा वरुणा और अस्सी का मर्म?	प्रताप बहादुर सिंह	100
16.	Mahadeo Govind Ranade as An Economic Thinker	Dr. Parul Jain	102
17.	Importance of Relationships for Development of Children and Young people	Dr. Satyagopal jee	106
18.	New Historicism and Shakespeare's *Hamlet*	Dr. Indrajeet Mishra	109
19.	Possible Impact of Union Budget on the Indian Stock Markets	Anand Singh	114
20.	Female Literary Tradition and Elaine Showalter's A Literature of Their Own	Dr. Mahima Singh	118
	धरोहर		
21.	काकोरी के वीरों से परिचय	सरदार भगत सिंह	125
	पुस्तक समीक्षा		
22.	राजनीतिक विचारों का इतिहास	शुभनीत कौशिक	129
	उर्दू - गलियारा		
23.	کیفی اعظمی کی فلمی نغمہ نگاری	तमन्ना शाहीन	134
24.	سیماب: نظریہ ساز شاعر	Mohd Kalam	141
25.	''کنور مہندر سنگھ بیدی سحر۔ انسانی قبیلے کا ایک فرد''	Dr. Habibullah	146

पहला पन्ना : प्रधान सम्पादक

सामाजिक प्रासंगिकता, मौलिक प्राथमिकता और सांस्कृतिक गुणवत्ता के सवाल, जो हाशिये पर चले गये हैं, उन्हें केन्द्र में लाने की चिंता के साथ इस रिसर्च जर्नल का प्रकाशन शुरू किया गया था। यह कार्य गहरी अनुसंधान दृष्टि औरर चिंतन दृष्टि की माँग करता है। इस अन्तरअनुशासनिक शोध पत्रिका के माध्यम से चिंतन, विश्लेषण और अभिव्यक्ति की नई चेतना प्रवाहित करने का संकल्प लेकर हम चले थे, कितना कुछ सही कर पा रहे हैं इसे तो पाठक ही तय करेंगे। लेकिन अपनी जगह हम अपनी प्रतिबद्धता पर कायम हैं। सम्पादक मण्डल आग्रह मुक्त है लेकिन रिसर्च जर्नल के माध्यम से विचारों की खुली बहस का स्वागत करता है। लेखकों के विचार उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति हैं। हम सबका आदर करते हैं।

इस अंक को प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष हो रहा है और सहज संकोच भी, क्योंकि पहले प्रकाशित अंकों के निरीक्षण, अनुभव, चिंतन-मनन तथा सार्वजनिक संवाद के फल से - कुछ और बेहतर होने की संभावना थी लेकिन तकनीकी कारणों, दुनियावी व्यस्तताओं के कारण जिस रूप में इसे प्रस्तुत होना चाहिए था, वह उद्देश्य मेरे हिसाब से पूरा नहीं हो सका। इसलिए संकोच है। अंग्रेजी में एक कहावत है–***'लेट नॉट द बेस्ट, बी द एनेमी ऑफ द गुड।'*** लेकिन अच्छा या बुरा जो भी बन पड़ा, उसे अपने मित्रों, शुभचिंतकों को सौंपते हुए संकोच भी कैसा?

अनुसंधान, चिंतन, विश्लेषण का महत्व अपने समय को समझने, समाज को सचेत करने तथा सजगता के साथ सार्थक बदलाव का प्रयास करने में है। लेकिन क्या ऐसा होता दिखाई दे रहा है? क्या बौद्धिक अकादमिक लोग और संस्थान इसके प्रति सचेत है? क्या वर्तमान शोधकार्यों के स्तर से संतुष्ट हुआ जा सकता है? वर्तमान शोधकार्य (जो विभिन्न संस्थाओं में हो रहे हैं) के स्तर को देखकर इसे समझा जा सकता है। रिसर्च का कार्य केवल व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा कैरियर पूर्ति हेतु हो रहे हैं। विभिन्न संस्थाओं में चल रहे ये व्यवसायिक, गैर-रचनात्मक शोधकार्य Criticism और Research के क्षेत्र में शर्मनाक दस्तावेज लगते हैं। ऐसे में शोध के स्तर और महत्व को बनाये रखना बहुत ही जटिल और कठिन कार्य है, हमारा प्रयास है कि उसका एक स्तर निश्चित होना चाहिए, उसकी उपलब्धियों का रेखांकन होना चाहिये और सीमाओं का भी। परम्परा के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए भी चिंतन-विश्लेषण में पूर्व पक्ष के प्रति गंभीर और सार्थक हस्तक्षेप का भाव शोध के लिए आवश्यक है। समस्याओं की पहचान और समाधान के प्रयास की कोशिश होनी चाहिए। केवल वाक्-चातुर्य या वाक्-छल से कुछ नहीं होता। राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक एकता, भाषा, साहित्य, समय-समाज, धर्म, संस्कृति पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से लिखे होने के बावजूद भी इस अंक में शामिल प्रत्येक लेख का अपना विशिष्ट रंग है, सबकी पहचान अलग-अलग है।

शोध निबंधों के माध्यम से बहु-आयामी, बहु-स्तरीय विश्लेषण का यह हमारा अल्प प्रयास भर है। इस प्रयास को सिर्फ प्रयास ही माना जाए, किसी प्रकार का दावा करना का प्रयत्न नहीं। बस, मुझे इतना ही करना है।

इस रिसर्च जर्नल को उत्साहपूर्वक अपना कर जिन लोगों ने अमूल्य सहयोग हमें प्रदान किया है, उनके प्रति आभार केवल औपचारिकता मात्र है।

उच्च शिक्षा से जुड़े अध्यापकों –शोधार्थियों – छात्रों को इन सवालों से टकराना है और समाधान करना है। जो है, उससे बेहतर निर्माण का प्रयास करना है। यह कार्य व्यक्तिगत स्तर पर हल नहीं हो सकता, इसके लिए सबकी सहभागिता आवश्यक है। हमारा प्रयास शैक्षणिक तरक्की के साथ-साथ दृष्टि सम्पन्न अनुसंधान के माध्यम से रचनात्मक अकादमिक उन्नयन का लक्ष्य हासिल करना है, दायित्वपूर्ण सहभागिता सुनिश्चित करनी है। मुझे खुशी है कि शिक्षा की संस्कृति और संस्कृति की शिक्षा के लिहाज से डी ए वी पीजी कालेज न सिर्फ रचनात्मक पुनर्नवता का आकांक्षी है बल्कि सृजनात्मक पुनर्नवता का प्रयोग केन्द्र (Centre of Experiment with inovetive creativity) बनाना चाहता है। रिसर्च जर्नल 'प्रभा' इस सामूहिक सहभागिता का सार्थक वैचारिक पड़ाव है। इस अन्तर-अनुशासनात्मक शोध पत्रिका के माध्यम से चिंतन, शोध-विश्लेषण और अभिव्यक्ति की नई चेतना प्रवाहित करने का संकल्प लेकर हम चले हैं, हमारा ध्येय है : 'वाद-विवाद संवाद और जरूरी अनुसंधान को प्रकाश में लाना एवं अपने पाठकों का ज्ञान अन्तरिक्ष विस्तृत करना'।

यह 'ध्येय' सम्पादकीय टीम के सभी सदस्यों की सम्मिलित भागीदारी से अपना शक्ल लेने की कोशिश में है। इस अवसर पर मैं सम्पादकीय टीम के सभी सदस्यों को बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि 'प्रभा' का उद्देश्य सामूहिक प्रयास के साथ संवाद का केन्द्र बनने तथा वाद-विवाद-संवाद के द्वारा लोकतांत्रिक चेतना का उत्तरोत्तर विकास करना होगा। आने वाली पीढ़ी को ज्ञान चेतना से परिचित कराना और अपनी जातीय विरासत की वर्तमान अर्थवत्ता तलाशना–हमारा संकल्प है।

(डा. सत्यदेव सिंह)
प्राचार्य

। इस बीच भारतीय राजनीति के करिश्माई व्यक्तित्व, उदात्त राजनीति के ध्रुवतारा, भारत के सच्चे सपूत अटल बिहारी बाजपेयी राष्ट्र को शोकाकुल छोड़कर अनन्त यात्रा पर निकल गये। उनकी कमी सदैव खलेगी लेकिन हमारे अन्तस में आलोक जगायेगी। 'प्रभा' परिवार की तरफ से उस अटल विराट व्यक्तित्व को भावभीनी विदाई!

(डा. सत्यदेव सिंह)

सम्पादकीय

आज समूचे देश में विकास और जनकल्याण के नाम पर गैर-सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) तथा स्वयंसेवी संगठनों (वालटरी आर्गनाइजेशस) और सत्ता की राजनीति करने वाले तथाकथित सांस्कृतिक संगठनों ने सामाजिक – राजनीतिक – सांस्कृतिक गतिविधियों सहित अकादमिक गतिविधियों तक में अपनी गहरी पैठ बना ली है। इस संदर्भ में आम जनता तो लापरवाह है ही, बहुत हद तक बुद्धिजीवियों में भी इनको लेकर भ्रम बना हुआ है। विभिन्न संस्थानों में कुछ ऐसे लोग हैं जो किसी न किसी फेलोशिप/प्रोजेक्ट्स पर स्वयंसेवी संगठनों के तहत सत्ता प्रतिष्ठान के मनोनुकूल कार्य कर रहे हैं। इससे वे किसको फायदा पहुँचा रहे हैं– इस विषय में न तो वे बहुत जागरूक हैं, न सतर्क। विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में भी स्वयंसेवी संगठनों के इशारे पर बौद्धिक कवायदें हो रही है, इस तरह के कार्यों के होने में सत्ता प्रतिष्ठान की अपनी भूमिका है इसलिए उनकी चुप्पी स्वाभाविक है बल्कि इस चुप्पी के एवज में देशभक्ति की बहस अधिक लाभप्रद है इसलिए उस कदमताल में भीड़भाड़ और चहल-पहल है। भूमण्डलीकरण की संस्कृति में आई एन. जी. ओ. की बाढ़ के पीछे नवसाम्राज्यवादी सिद्धान्तकारों की गहरी समझ काम कर रही है। अपने यहाँ भूमण्डलीकरण की यह आँधी राष्ट्रीय अस्मिता को साधे हुए है इसलिए लोकतंत्र को भीड़तंत्र में बदलने पर आमादा है। भूमण्डलीकरण की अगुवाई करने वाले पूँजी तथा प्रौद्योगिकी के सहारे विश्वविजय का अश्व छोड़ चुके हैं। दुनिया भर के गरीब, पिछड़े और कमजोर देशों की आर्थिक–सामाजिक–राजनीतिक तथा समूची सांस्कृतिक विकास की देशी संरचनाों को बहुराष्ट्रीय निगमों के हित में बदलने के प्रयास हो रहे हैं।

परजीवितामूलक उपभोक्तावादी मूल्यों का ताना-बाना सांस्कृतिक संकट की सूचना देता है। उपभोक्तावाद अपने उफान पर है। सूचना तंत्र, इलेक्ट्रानिक मीडिया के माध्यम से नवसाम्राज्यवाद हमारी रचनात्मकता, संस्कृति, विचारशीलता और मनुष्यता पर चौतरफा हमला कर रहा है। यह खतरनाक इसलिए है कि यह मूल्यनिष्ठ सामाजिकता, रचनात्मक–पुनर्नवता और दृष्टिसम्पन्न आधुनिकता के विकास को सुनियोजित ढंग से खत्म करने का प्रयास भी है। शांति, जनकल्याण और इंसानियत का नारा लगाने वाले झण्डाबरदार देश अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को ध्यान में रखकर मुनाफा केन्द्रित नीति बनाते हैं जबकि हजारों–लाखों इंसान भूखों मरने के लिए मजबूर है। व्यापार की, संस्कृति की, शांति की, राजनीतिक की परिभाषाएँ बदल रही है। यह कौन सी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है कि एक तरफ अरब देशों में स्त्री-अधिकारों के बर्बर दमन के खिलाफ आवाज न उठाने को *'अंदरुनी मामलों'* में दखल न देने की कूटनीतिक सूझबूझ का खिताब दिया जा रहा है तो दूसरी तरफ किसी देश की भोली-भाली जनता के खिलाफ बम-वर्षक हमलों को *'शैतान को सबक सिखाने'* की कार्यवाही बताकर गौरवान्वित किया जा रहा है। यह विश्व की राजनीति की वर्तमान तस्वीर है।

21वीं सदी शताब्दी के भारत में एक तरफ औद्योगिक-तकनीकी विकास की आपाधापी मची है तो दूसरी तरफ धार्मिक-रूढ़ियों और वैचारिक कट्टरता भी उत्साह के साथ जारी है। आधुनिकता-उत्तर आधुनिकता

की आँधी के बाद भी गणेश जी का दूध पीना और धार्मिक चैनलों की बाढ़ आना- इसके क्या मायने हैं? तकनीकी विकास की आपाधापी में अपनी जातीय-सांस्कृतिक विरासत से हम अलग हो रहे है. या अलग किए जा रहे हैं। उपभोक्तावाद केवल फास्ट-फूड ही नहीं पेश कर रहा बल्कि संस्कृति के मामले में नितांत चलताऊ दृष्टिकोण भी विकसित हो रहा है। बिकाऊ और बाजारू संस्कृति से हमारे संस्कार तय किए जा रहे हैं।

आज पूरे देश में कहीं कोई आंदोलन नहीं है। एकाध जगह राजनीतिक-सामाजिक आंदोलन दिख रहे हैं (वे भी बड़े आंदोलन नहीं हैं) लेकिन सांस्कृतिक आंदोलन नहीं विकसित हो रहा है। स्वाधीनता आंदोलन के जमाने में सांस्कृतिक आंदोलन की निर्णायक भूमिका रही है। हिंदी प्रदेश में नई विचार दृष्टि, सांस्कृतिक आंदोलनों के मार्फत आई। 1857 के विद्रोह से लेकर आजादी तक सांस्कृतिक आंदोलनों की शानदार भूमिका रही है। भारत के इतिहास में प्रतिरोध की चेतना बहुत गहरी है, सांस्कृतिक आंदोलनों की समृद्ध ताकतवर परम्परा है– उससे जुड़कर 'संस्कृति को अपसंस्कृति में अपदस्थ' करने वाली लड़ाई का सामना किया जा सकता है। नवसाम्राज्यवाद भी खुशहाली और लोककल्याण का नारा लगा रहा है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि अंग्रेज भी हमें आधुनिक और सभ्य बनाने आए थे और अपने तई बना भी रहे थे। उस सभ्यता की कलई तब खुली जब औपनिवेशिक बेलगाम अश्व के सामने गाँधी आकर खड़े हुए और डट गये। गाँधी सहित 20वीं शताब्दी के तमाम चिंतक भारतीय समाज की कमियों और पश्चिम की खामियों को भली-भाँति जानते थे। इसलिए दोनों की तीखी आलोचना गाँधी के यहाँ मिलेगी और प्रेमचंद के यहाँ भी। गाँधी और प्रेमचंद की तीखी आलोचना सार्थक विवेक पर आधारित है। इसलिए उनका पक्ष स्पष्ट और मजबूत है। अपनी परम्परा में बहुत कुछ ऐसा है जो सार्थक है और आज के लिए मददगार भी। अपनी विरासत से वाद-विवाद किए बिना न अपना पक्ष तय किया जा सकता है, न विपक्ष। असहमति का साहस और सहमति का विवेक के लिए सार्थक विमर्श बहुत जरूरी है। दुःखद यह है कि अब वाद-विवाद भी सार्थक बहस की ओर उन्मुख न होकर तू-तू मैं-मैं की परिणति को प्राप्त कर लेता है। यह अत्यंत खेदजनक है। कुछ लोग सकारात्मक और रचनात्मक कार्य कर सकने वाले होकर भी स्वयं कार्य नहीं करते, दूसरों के कार्यों पर केवल टिप्पणियाँ करते हैं तो कुछ लोग नया करने की हड़बड़ी में पूरी परम्परा को ध्वस्त करने पर तुले हुए हैं। अपनी विरासत के प्रति यह दृष्टिकोण आपत्तिजनक है और इससे सार्थक विमर्श नहीं हो सकता। इन्हीं चिंताओं को ध्यान में रखकर यह Research Journal 'प्रभा' प्रकाशित हो रही है।

'प्रभा' के इस अंक को प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस अंतर अनुशासनात्मक शोध पत्रिका के प्रकाशन की अवधि अर्द्धवार्षिक होगी। चिंतन–शोध–विश्लेषण और अभिव्यक्ति की नई चेतना प्रवाहित करने का संकल्प लेकर हम चले हैं, इसका पूर्ण दावा तो नहीं कर सकते लेकिन कोशिश तो कर ही सकते है। Research Journal विभिन्न अभिरुचियों के तमाम पाठकों तक पहुँचाने की प्रतिबद्धता के साथ शुरू हो रही है। हमारा मुख्य ध्येय है– *'वाद-विवाद संवाद और जरूरी अनुसंधान को प्रकाश में लाना एवं अपने पाठकों का सार्थक ज्ञानवर्धन करना।'*

आज उच्च शिक्षा को व्यापार योग्य वस्तु मानकर बेचने की तैयारी हो रही है। शिक्षा-स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जिम्मेदारियों से राज्य भाग रहा है। शिक्षा

संस्थान डिग्रियाँ बाँटने के केन्द्र में तब्दील होते जा रहे हैं और इस आपाधापी में तमाम शिक्षण संस्थानों का मकसद मात्र मुनाफा कमाना रह गया है। ऐसे में शिक्षा-संस्थान के साथ सामाजिक सरोकार, नवाचार और शोध गुणवत्ता को बढ़ाने का स्वप्न देखना और उस स्वप्न को साकार करने का संकल्प लेना– इस दृष्टि से राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण आवश्यक है। हमारी कोशिश यह है कि शिक्षा की संस्कृति और संस्कृति की शिक्षा के लिहाज से यह संस्थान अपनी परिकल्पना की शानदार उपलब्धि को साकार करें। इस बड़े सपने को साकार करने की जिम्मेदारी आज हम सबके ऊपर है। स्वाधीनता संग्राम के समय बड़े सपने देखने वाले लोग थे, उनमें एक मिशनरी जज्बा थी। उनके सपने एकदम साकार नहीं हुए, ऐसा तो नहीं मानता लेकिन इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। आज उन सपनों पर सोचने वाले भी कम हो गए हैं क्योंकि साकार करने का संकल्प (इच्छाशक्ति) नहीं रह गया। कला, इतिहास, दर्शन शिक्षा संस्कृति को नए संदर्भ में व्याख्यातित-विश्लेषित करने और व्यापक विचार-विमर्श के उद्देश्य से ऐसे अंतर-अनुशासनिक शोध प्रकाशन की जरूरत इसलिए है कि तहजीब, मौलिकता, विश्लेषण और चिंतन के बजाय हम एबनार्मल, बनावटीपन, अनुवाद और तोता-रटंत तौर-तरीके में जीने के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। हमारा सारा कौशल आत्म-मुग्ध दिखावे में रहने का है। सामाजिक प्रासंगिकता, मौलिक प्राथमिकता और सांस्कृतिक गुणवत्ता के सवाल हाशिए पर चले गए है। उन सभी प्रश्नों को केन्द्र में लाना रिसर्च जर्नल की पहली चिंता होगी। यह कार्य गरी अनुसंधान दृष्टि और चिंतन दृष्टि की माँग करता है। Research Journal 'प्रभा' में ऐसा किया ही गया है, ऐसा मैं नहीं जानता, ऐसा करने का यह प्रयास भर है।

हिन्दी प्रदेश में सामाजिक - राजनीतिक - सांस्कृतिक पिछड़ेपन के सवाल यथावत् बने हुए हैं। उच्च शिक्षा से जुड़े शिक्षकों - अध्यापकों का उन सवालों से टकराना है और समाधान का प्रयास भी करना है। जो है उससे बेहतर निर्माण के लिए प्रयास करना है। यह कार्य केवल राजनीतिक स्तर पर हल नहीं हो सकता, इसके लिए सबकी सहभागिता आवश्यक है। परस्पर की सहभागिता के बल पर ही हमारे प्राचार्य डॉ. सत्यदेव सिंह जी ने *'सृजनात्मक पुनर्नवता का प्रयोग'* (Experiment with Innovative Creativity) के रूप में एक बड़े सपने को साकार करने का संकल्प लिया है। बड़े सपने का पूरा होना बड़े प्रयास पर आधारित है। आज जिस माहौल में हम लोग रह रहे हैं, उसमें अवसरवाद, काहिली और जुमलेबाजी से सब कुछ किया – कराया जा रहा है। गलाकाट प्रतिस्पर्धा, महत्वाकांक्षा और गैर जरूरी आपाधापी इतनी बढ़ी है कि कुछ कर सकने वाले लोग भी हताश-निराश हो गए है। लेकिन सुखद यह है कि उस रचनात्मक सपने को साकार करने वाले हमारे आदरणीय प्राचार्य डॉ. सत्यदेव सिंह जी और श्रद्धेय अजीत कुमार सिंह जी (मंत्री,डीएवी पीजी कालेज प्रबंध समिति) परिस्थितियों के कारण मन मारकर बैठ जाने वाले नहीं है बल्कि सचेत होकर प्रयास करने वाले और हमेशा आशावान बने रहने वाले भी है। यह हमारे लिए प्रेरणादायक है। वे हम लोगों को सकारात्मक कार्यों में लगे रहने के लिए बराबर प्रोत्साहित करते रहे हैं। सम्पादकीय टीम उनके प्रति आभारी है।

(समीर कुमार पाठक)

स्मरण :

चम्पारण आन्दोलन के दुर्लभ सहयोगी : राजकुमार शुक्ल

- डॉ. शिवबहादुर सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, डी.ए.वी. पी.जी. कालेज, वाराणसी

दक्षिण अफ्रीका से 1915 में भारत लौटने के बाद महात्मा गाँधी ने सबसे पहले ग्रामीण भारत में जाकर असली भारत को समझने की जो कोशिश शुरू की, उसका महत्वपूर्ण पड़ाव चंपारण ही था। चंपारण में दी गई आहुति ही भारत में ताकतवर ब्रिटिश साम्राज्य को स्वाहा करने की महाशुरूआत थी, जिसकी कल्पना गाँधी जी ने उसी वक्त कर ली थी, जब उन्हें डबरन में एक अंग्रेज ने ट्रेन के फर्स्ट क्लास कंपार्टमेंट से धक्के मारकर बाहर निकाल दिया था। भारत आगमन के दो वर्ष के भीतर ही गाँधी जी इस बात को बखूबी समझ गए थे कि भारतीय इतिहास में आन्दोलनों अथवा बदलावों के लिए उपजाऊ आधार के रूप में विख्यात बिहार-भूमि ही यहाँ से अंग्रेजों के खात्मे की *'मील का पत्थर'* साबित होगी। 1917 में चंपारण आंदोलन की कहानी भी यही बताती है। चंपारण के गरीब नील किसानों पर अंग्रेज मालिक निलहों के जुल्मों की दास्तां वहाँ के अनेक पत्रकारों और वकीलों जैसे–राजकुमार शुक्ल, पीर मुहम्मद मूनिस, गोरख प्रसाद, मजहरुल हक, ब्रजकिशोर बाबू, धरणीधर बाबू, रामनवमी प्रसाद, अनुग्रह नारायण सिंह, विंध्येश्वरी प्रसाद और सबसे बढ़कर डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आदि की कलम से लगातार देश-दुनिया तक पहुँचती रही।

चंपारण आंदोलन हमारी आजादी की लड़ाई में अनूठी मिसाल इसीलिए भी है, क्योंकि गाँधी जी ने यहाँ अपनी लड़ाई केवल अंग्रेजों के जुल्मों या अंग्रेजी राज को समाप्त करने के लिए ही नहीं लड़ी थी, बल्कि इस आन्दोलन के तहत चंपारण और देश के अन्य सभी हिस्सों में फैली सामाजिक कुरीतियों, बुराइयों, गंदगी, अशिक्षा, भूख और गरीबी के विरुद्ध भी शंखनाद किया था। उन सबसे बढ़कर चंपारण इसीलिए भी हमेशा याद रहता है क्योंकि यह पूरी तरह से सत्य और अहिंसा पर आधारित आंदोलन था। आनेवाली पीढ़ियाँ शायद मुश्किल से यह विश्वास कर पाएं कि एक साधारण-सी लंगोटी लपेटे गरीब देहाती जैसे दिखने वाले इंसान ने बिना कोई लाठी-बंदूक चलाए केवल अपने सत्य और अहिंसा भरे आचरण के जोर पर तीन सौ साल के

इतने विशाल ब्रिटिश साम्राज्य के सूरज को भारत में केवल तीस साल में अस्त होने पर मजबूर कर दिया था।

चंपारण एक आन्दोलन भर नहीं था। इसने न केवल भारत, बल्कि दुनिया के तमाम लोकतांत्रिक और दूसरी व्यवस्थाओं पर चलने वाले देशों में शासित और शासक वर्ग के बीच होने वाले व्यवहार को एक स्थाई और सही दिशा देने में भी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जरा याद कीजिए, चंपारण के महज पाँच साल बाद चौरीचौरा की हिंसक घटना के बाद गाँधी जी ने देश की आजादी के प्रति जनता में भीषण उबाल लाने वाले अपने असहयोग आन्दोलन को सिर्फ इसीलिए वापस ले लिया था कि अंग्रेज पुलिस द्वारा कुछ लोगों को पीटे जाने पर क्रोधित भीड़ ने पूरे थाने को आग लगा दी थी, जिसमें कुछ सिपाही जलकर मर गए थे। 1922 में उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन के कद्दावर नेता जवाहरलाल नेहरू, सरदार बल्लभभाई पटेल, मोहम्मद अली जिन्ना इत्यादि ने उन्हें बहुत समझाने की कोशिश की थी कि वे इस आन्दोलन को वापस न लें क्योंकि अब आजादी के लिए जनचेतना बिल्कुल उबाल पर है। परन्तु गाँधी जी अपने सत्याग्रहपूर्ण आचरण से भारत की भावी पीढ़ियों को भी संदेश देना चाहते थे कि जो कार्य सत्य और अहिंसा का मार्ग अपना कर पूरा किया जा सकता है, उसे आक्रमणकारी बनकर शायद कुछ समय के लिए तो साधा जा सकता है, लेकिन इससे एक शक्तिशाली और स्थाई राष्ट्र के चरित्र का निर्माण नहीं किया जा सकता।

चंपारण आन्दोलन इस बात के लिए भी जाना जाता है कि इसने पूरे भारत के तत्कालीन समाज के उस तबके की आँखें खोलने का भी काम किया था, जो अंग्रेजों के साथ मिलकर देश की ज्यादातर गरीब, भूखी-नंगी और अशिक्षित जनता का शोषण अपने फायदे के लिए कर रहा था। यह कोई संयोग से शुरू हुआ आन्दोलन नहीं था, बल्कि अंग्रेजों के सैकड़ों साल के जुल्मों और महात्मा गाँधी की दूरदृष्टि का परिणाम था। आजादी के बाद का इतिहास इस बात का गवाह है कि चंपारण आन्दोलन का ताना-बना महात्मा गाँधी ने बड़ी समझदारी से बुना था।

15 अप्रैल, 1917 को **राजकुमार शुक्ल** जैसे एक अनाम-से आदमी के साथ मोहनदास करमचंद गाँधी नाम का आदमी चंपारण आया था। मोहनदास वर्षों बाद स्वदेश लौटे थे, चंपारण का नाम भी नहीं सुना था और नील की खेती के बारे में न के बराबर जानते थे। कानूनी पढ़ाई के लिए इंग्लैण्ड से जो विदेश-यात्रा शुरू हुई ती वहीं उन्हें दक्षिण अफ्रीका ले गई और फिर वहीं अवस्थित भी कर आई थी। सपरिवार सब कुछ ठीकठाक ही चल रहा था। वकालत भी जम गई थी कि अचानक मोरित्सफर्ग स्टेशन पर मूढ़मति टिकटचेकर ने उन्हें डिब्बे से उतार फेंकने का कारनामा कर डाला। अगर उस टिकटचेकर को जरा भी इल्म होता कि इस काले को डब्बे से उठाकर फेंकने से गोरों के साम्राज्य की नींव ही उखड़ जाएगी तो वह ऐसा कभी न करता। लेकिन उसने बैरिस्टर एमके गाँधी को भीतर से मोहनदास करमचंद गाँधी कर दिया जो धीरे-धीरे चोला उतारता-उतारता कब महात्मा गाँधी और फिर बापू बन गया, इसकी खोज में आज भी इतिहास भटक रहा है। इसलिए यह याद रखने जैसा तथ्य है कि गाँधीजी जब चंपारण गए तब तक वे एकदम परिपक्व सत्याग्रही बन चुके थे।

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह का हथियार उन्हें मिला, जिसे धारदार बनाकर उन्होंने रंग और जातीय भेद के खिलाफ इस्तेमाल भी किया, अपने जीवन में भी और अन्ततः जीवन की दिशा में भी कितने फेर-फार किए। परिवार को अपनी तरह से जीने की दिशा में ढाला, अपने आश्रम बनाए, उसके अनुरूप जीने की पद्धतियाँ विकसित की, अपनी लड़ाई के पक्ष में जनमत बनाने के लिए इंग्लैण्ड तक की यात्रा की और विदेशी सरकार से लेकर विदेशी अखबार और विदेशी समाज के लोगों तक को साथ लेने की कला विकसित की। जनरल स्मट्स के साथ बराबरी के स्तर पर बातचीत का वह नया रिश्ता बनाया जिसमें ब्रिटिश नागरिक और उसकी सरकार अपनी हैसियत पर आ सकती है। चंपारण आने से पहले गाँधी युद्धभूमि में उतर चुके थे।

जूलू विद्रोह के दौरान सार्जेंट मेजर एमके गाँधी के नाम की पट्टी लगाकर भारतीयों की टुकड़ी के कमांडर बनकर वे युद्ध के मैदान में गोलियों के बीच भागते-दौड़ते घायल सिपाहियों की तिमारदारी कर चुके थे। *'हिन्द-स्वराज'* नाम की कालजयी पुस्तिका लिख चुके थे। दक्षिण अफ्रीका का अपना संघर्ष जीत कर भारत आए तो रही-सही कसर उनके राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले ने पूरी कर दी। वचनबद्ध गाँधी पूरे साल भर तक *'आँख खुली, मुँह बन्द'* कर सारा भारत घूमते रहे। देश देखा, लोग देखे, प्रकृति देखी और देखा हर मान-अपमान को सहकर जीने का भारतीय स्वभाव। इसी भारत दर्शन के क्रम में वे यह पहचान सके कि सैकड़ों साल की गुलामी अब विवशता नहीं, मनःस्थिति में बदल चुकी हैं।

राजकुमार शुक्ल गाँधी को नील किसानों की दुरवस्था दिखाने के लिए चंपारण ले गए। गाँधी ने यहाँ आकर वह सब देखा जो गुलामी की बीमारी के विषाणु थे। यह जानना बड़ा मजेदार है और आँखे खोलने वाला भी कि वे यहाँ आकर अंग्रेजों से, निलहों से कोई लड़ाई लड़ते ही नहीं हैं। वे लड़ाई शुरू करते हैं गुलामी की मानसिकता से। वे रात-दिन गुलाम भारतीयों को उनकी गुलामी का अहसास कराते रहे। बिहार के पहले दर्जे के वकीलों की फौज उनके साथ आ जुटी। बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद, रामनवमी प्रसाद, राजेन्द्र प्रसाद, धरणीधर बाबू आदि सभी गाँधी से सुरक्षित दूरी रख कर, गाँधी के करीब आते गए। ये तब के वक्त में दस हजार रुपये तक की फीस वसूलने वाले वकील थे। गाँधी ऐसी वकालत और ऐसी कमाई का संसार छोड़ कर ही आए थे तो इनकी चमक-दमक से अप्रभावित इन्हें समझाते थे कि लड़ाई न अधूरी होती है और न अधूरेमन से लड़ी जाती है।

गाँधी ने अपने मतलब के लोगों को गुजरात, महाराष्ट्र आदि से बुलाते और सफाई से रहना, पढ़ना, खाना बनाना आदि शुरू करवाते हैं। सबसे पहले सबकी रसोई एक साथ एक ही जगह से बने- वे इसका आग्रह करते हैं। हर बड़ा वकील अपने साथ सेवक, रसोइया लेकर आता है। गाँधी धीरे से इसे अनावश्यक बताते हैं और समझाते हैं कि सब मिलकर एक दूसरे की मदद से वे सारे काम कर सकते हैं जिनके लिए हम इन पर आश्रित हैं। वे कहते ही नहीं, बल्कि खुद ही करने भी लगते हैं। उस दिन तो हद ही हो गई जिस दिन **दीनबंधु सीएफ एंड्रूज** को (जो तब दीनबंधु नहीं कहलाते थे) मोतिहारी से बाहर जाना था और उसके लिए खाना बनाने वाला कोई नहीं था। जैसे-तैसे रोटी और उबले आलू का खाना बना और एंड्रूज खाने बैठे तभी गाँधीजी उन्हें देखने आ गए और यह देखकर पानी-पानी हो गए कि एंड्रूज एकदम कच्ची रोटी खा रहे थे, जो उनकी थाली में धर दी गई थी। गाँधी लोगों पर नाराज हुए और फिर खुद ही रोटियाँ बनाने बैठे। वे रोटियाँ बेलते रहे, करीने से सँकते रहे और कितने की मान-दुलार से एंड्रूज की थाली में डालते गए। बस, उस दिन से रसोई भी और नौकर भी एक हो गए। इन सबमें कहीं भी न अंग्रेज आते हैं और न उनसे लड़ाई आती हैं।

चंपारण सत्याग्रह में गाँधी जी के बाद अगर किसी का नाम लिया जाता है तो वे राजकुमार शुक्ल ही हैं। वे एक सामान्य किसान परिवार और कम हैसियत वाला होकर भी उन्होंने जो काम किया, उसका पूरा श्रेय इस अकेले गौरव से पूरा नहीं होता, क्योंकि आजादी के आंदोलन में उन्होंने कुछ पाया नहीं, अपना सब कुछ गंवाया ही। यह सही है कि उनकी बेलवा कोठी के मैनेजर एम्मन से निजी रंजिश भी थी, लेकिन चाणक्य की तरह शिखा खोलकर अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ने की प्रतिज्ञा करना और निभाना साधारण बात नहीं है। जिस दिन एम्मन ने उनके मुरली भरहवा स्थित खेल और गोवास पर लगी आलू की फसल उजड़वाई और अपमानित कराने के लिए अपने गुंडों से कई और काम कराए, उसी दिन से जैसे शुक्ल जी के पैरों में घनचक्कर लग गया। सौभाग्य से, उनकी डायरी परिवार के लोग अब भी रखे हुए हैं। अब यह प्रकाशित भी हो गई है। इसे देखकर यह लगता है कि राजकुमार शुक्ल और उनका घोड़ा शायद

ही किसी दिन चैन से बैठे हों। पर दुर्भाग्यपूर्ण है कि 1917 के अलावा कई और डायरियाँ थीं, जो इधर गायब हुई हैं। उनकी कोई कॉपी भी उपलब्ध नहीं है।

इतना ही नहीं, उन्होंने किसी दिन अपनी साठ एकड़ की खेती और इलाहाबाद के किसी सज्जन की बीस एकड़ की खेती कराने का जिम्मा भी निभाया होगा, यह समझना भी मुश्किल है। उनके परिवार के पास दो सौ पशु होने की बात भी सामने आती है। उनका जन्म 1861 में सतवरिया, चनपटिया के कोलाहल शुक्ल के यहाँ हुआ था। उनका एक घर मुरली भरहवा में भी था, जो इस जगह से ज्यादा दूर न था। उनकी पढ़ाई बहुत सामान्य थी और पहले रामनगर राज और बाद में बेतिया राज में उन्होंने नौकरी भी की थी। बेतिया में वे रानी के स्टाफ में थे, पर राजनीतिक कामों के लिए ही उन्होंने नौकरी छोड़ दी। शुरू में तो वे भी शेख गुलाब और शीतल राय वाली मंडली में शामिल हुए और किसानों को संगठित करने के लिए काफी भागदौड़ की, लेकिन वे जिले के उन कुछ लोगों में थे, जिन्होंने एहसास कर लिया कि अंग्रेजों से लड़ाई अब पुराने तरीके से नहीं जीती जा सकती। फिर उन्होंने पीर मुहम्मद मूनिस के साथ मिलकर गाँधी जी को चंपारण आने का न्योता दिया और एक बार उनकी हल्की स्वीकृति पाने के बाद तो इसे जीवन-मरण का सवाल समझ कर उनके पीछे ही लग गए और चंपारण लाकर ही माने। गाँधी जी को उनकी क्षमताओं पर अविश्वास हुआ और यह बात उन्होंने अपने भतीजे मगनलाल गाँधी को लिखी चिट्ठी में भी लिखी है। पर वही गाँधी जी और बा उन्हें बहुत स्नेह देने लगी और उनके जीवन के आखिरी समय तक स्नेहशील बने रहे। वे गाँधी को मनाने और लाने के लिए कहाँ-कहाँ गए, वे सब अब इतिहास के हिस्से हैं। राजकुमार शुक्ल क्या थे, इसे लेकर अब इतिहास लिखने वालों के बीच मतभेद है। यह काफी कुछ इतिहासकारों के अपने अहं, आँख पर पट्टी बन गई विचारधारा और सबसे बढ़कर शुक्ल जी के सीधेपन से जुड़ी चीजें हैं। एक इतिहासकार ने आधिकारिक इतिहास लिखते हुए शुक्ल जी को सिर्फ एक फुटनोट भर में सिमटाने लायक माना तो दूसरे ने उन्हें पूरा आंदोलन खड़ा करने वाला और गाँधी को उनके आन्दोलन को हड़प लेने वाला बताया है। पर इस सीधे-सादे नायक को शायद ही किसी ने ठीक से समझा। गाँधी जी ने भी राजकुमार शुक्ल के साथ पहली बार पटना पहुँचने पर अपनी यात्रा की व्यवस्था ठीक न देखकर खुद ही कमान हाथ में ली और अपने भतीजे मगनलाल गाँधी को पत्र में लिखा कि राजकुमार शुक्ल एकदम भोले हैं और पटना में उनकी कोई खास जान-पहचान नहीं है, इसीलिए अब मुझे ही सब कुछ करना होगा। जब वे लोग मुजफ्फरपुर पहुँचे, तब गाँधी जी तो प्लांटर्स एसोसिएशन और कमिश्नर से मिलने और स्थानीय वकीलों से चर्चा में लगे, पर शुक्ल चंपारण के उस पट्टी-जसौली गाँव की तरफ चल दिए, जहाँ नया-नया निलहा जुल्म हुआ था और जहाँ गाँधी जी सबसे पहले जाना चाहते थे। गाँधी जी के पूरे चंपारण-सत्याग्रह में उनकी भूमिका भागादौड़ी करके गाँधी जी के काम को आसान और चंपारण की मुश्किल दूर कराने की थी। उनका अपना भाई परिवार या सुख-दुख भी कुछ है, यह उस पूरे दौर की उनकी उपलब्ध डायरी से कहीं पता नहीं चलता। पूरी डायरी से कहीं-कहीं उनके खर्च का अंदाजा तो होता है, पर उनकी अपनी सम्पत्ति या आमदनी का अंदाजा नहीं होता। यह जानकर हैरानी होती है कि उनके पास करीब 60 बीघा से ज्यादा खेती थी, 200 पशुधन थे और बेतिया राजदरबार की नौकरी थी। उनकी पोस्टिंग महारानी जानकी कुँवर के गार्डेन महल में थी। चार साल नौकरी के बाद उन्होंने निलहों के खिलाफ लड़ाई को ही मुख्य जिम्मेदारी बना लिया और फिर जैसे उन पर कोई जुनून सवार हो गया हो, पैरों में चकरघिन्नी लग गई। खेती की उपज के साथ खेत बेचकर पैसे खर्च करते रहे। गाँधी जी के चंपारण से विदा होने के बाद जिले में कांग्रेस को खड़ा करने और उनके द्वारा शुरू किए गए स्कूलों को जिंदा रखने में जुटे रहे। फिर उनको बीमारियों ने जकड़ लिया। जब मात्र 54 साल की उम्र में उनकी मौत हुई तो नवयुवकों ने चंदा जुटाकर उनका अंतिम संस्कार किया।

राजकुमार शुक्ल बिहार कांग्रेस के अधिवेशन और फिर कांग्रेस के राष्ट्रीय अधिवेशन में चंपारण से बाजाप्ता कार्यकर्ता के रूप में उनकी मुलाकात ब्रजकिशोर प्रसाद और राजेन्द्र प्रसाद जैसे वकीलों से भी हुई थी। जब राजकुमार शुक्ल और पीर मुहम्मद मूनिस जैसे स्थानीय लोगों ने कांग्रेस के बड़े नेताओं की मदद लेने की सोची, तब विभाजन के बाद लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन होना तय हुआ तो बालगंगाधर तिलक, मदनमोहन मालवीय, मोतीलाल नेहरू, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और (मुस्लिम लीग के नेता) मजहरुल हक तथा मोहम्मद अली जिन्ना समेत सारे लोग आने वाले थे। दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह करके देश में बहुत चर्चित हुए गाँधी जी भी पहली बार कांग्रेस के अधिवेशन में हिस्सा लेने वाले थे। यह सुनकर बिहार से भी सबसे बड़ा करीब नब्बे लोगों का दल गया, जिसमें शुक्ल भी थे। वहाँ ब्रजकिशोर प्रसाद भी थे। वे बिहार विधान परिषद के सदस्य थे और निलहों के खिलाफ लड़ते थे। उन्होंने चंपारण की स्थिति पर प्रस्ताव रखा, जो पारित हुआ। इस प्रस्ताव पर राजकुमार शुक्ल भी बोले, जो किसी किसान द्वारा कांग्रेस अधिवेशन में सशक्त भाषण करने का पहला मौका था।

पर शुक्ल जी भाषण से ज्यादा किसी बड़े नेता को चंपारण लाने की तैयारी से लखनऊ गए थे। तब कांग्रेस के सभी नेताओं में बालगंगाधर तिलक का प्रभाव सबसे ज्यादा था। सो, वे सबसे पहले उनके पास ही विनती लेकर गए, पर उन्होंने यह कह कर मना कर दिया कि अभी हमारे सामने देश की स्वतंत्रता का प्रश्न है। फिर महामना मालवीय के पास गए, तब उन्होंने यह कहकर शुक्ल जी निराश को किया कि जब देश आजाद हो जाएगा तो इस तरह की सारी समस्याएँ खुद दूर हो जाएंगी। फिर वे गाँधी जी के पास गए और पैर पर गिरकर उनके चंपारण का सवाल हाथ में लेने का आग्रह किया। गाँधी जी ने उनके कहा कि फिलहाल मुझे छोड़ दीजिए। मैं खुद देखे बिना कोई राय नहीं दूँगा। तब शुक्ल ब्रजकिशोर बाबू को गाँधी जी की छावनी में ले आए कि वकील बाबू ही सब कुछ बता देंगे। शुक्ल जी लगे रहे, तब गाँधी जी ने एक दिन के लिए चंपारण आने की बात मानी। जब अधिवेशन के बाद गाँधी जी कानपुर गए तो राजकुमार शुक्ल वहाँ भी विराजमान थे। गाँधी जी वहाँ गणेश शंकर विद्यार्थी से मिलने आए थे। शुक्ल ने कहा कि यहाँ से चंपारण नजदीक है, चले चलिए। तब गाँधी जी ने कलकत्ता का अपना कार्यक्रम बनाया और वहाँ से चंपारण चलने की स्वीकृति दी। राजकुमार शुक्ल उनके साथ लग गए। जब अधिवेशन के बाद गाँधी जी इलाहाबाद और कानपुर गए और अखबारों में संपादकों से मिलने के बाद गंगा स्नान करने गए, तब भी शुक्ल जी उनके टकराए और उनका वादा याद दिलाया। उन्होंने गाँधी जी को भी पहली चिट्ठी लिखी, उसमें लिखा था कि चंपारण की 19 लाख दुखी प्रजा श्रीमान् के चरण कमल के दर्शन के लिए टकटकी लगाए बैठी है। उन्हें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि जिस प्रकार भगवान श्रीरामचन्द्र जी के चरण स्पर्श से अहिल्या तर गई थीं, उसी प्रकार श्रीमान के चंपारण में पैर रखते ही हम 19 लाख प्रजाजनों का उद्धार हो जाएगा।

कहा जाता है कि जब गाँधी जी ने पहली बार मार्च में ही चंपारण आने की स्वीकृति दी थी, तब डाक विभाग की गड़बड़ी से चिट्ठी देर से पहुँची और जब तक राजकुमार शुक्ल कलकत्ता पहुँचे, गाँधी जी वहाँ से निकल चुके थे। शुक्ल जी को खाली हाथ लौटना पड़ा। शुक्ल जी की डायरी बताती है कि उस बार वे बिना बहुत तैयारी के और लगभग खाली हाथ गए थे। इस बार सूरजबल प्रसाद और गया प्रसाद सिन्हा से बाहर रुपये उधार लेकर गए थे। पर डाक विभाग की गड़बड़ वाली बात सही नहीं लगती, क्योंकि अगली बार जब वे गए तो उनको समय पर चिट्ठी मिली, वे सबसे मिलते और कार्यक्रम तय करने के साथ इतने पैसों के साथ निकले कि बीच में मुजफ्फरपुर में गया बाबू के पास 175 रुपये जमा कराते गए। ज्यादा पैसा ले जाना उन्हें बेकार लगा। पर इस बात की सूचना का यह पक्ष बहुत बाद के सामने आया कि पहली चिट्ठी की देरी को

लेकर राजकुमार शुक्ल ने किसी के मार्फत यानी केयर ऑफ पत्र मंगाया। उन्होंने इस बार गाँधी को केयर ऑफ भगवान प्रसाद, महावीर प्रसाद रौनियार, पुरानी गुदड़ी, बेतिया शहर का पता दिया था। जब गाँधी जी ने पहला पत्र शुक्ल जी के मुरली भरहवा गाँव के पते पर दिया था तो उनको सचमुच के गाँव क्या होते हैं और वहाँ की डाक व्यवस्था कैसे चलती है, इसका अंदाजा ही नहीं था।

आमतौर पर माना जाता है कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गाँधी जी को पहली बार 'महात्मा' कहा। पर आदर देने के नाम पर शायद सबसे पहले राजकुमार शुक्ल ने इसे उच्चारित किया। उन्होंने गाँधी जी को पहली चिट्‌ठी लिखी, उसमें भी उन्हें 'महात्मा' शब्द से ही सम्बोधित किया गया था। उस समय गाँधी जी *'कर्मवीर गाँधी'* कहे जाते थे। ग्रामीण लोग 'गान्ही महात्मा की जय' के नारे लगाते थे। जब गाँधी जी के मुजफ्फरपुर पहुँचने वाली रात में लोग स्टेशन गए, उनको लेने तो पूरी ट्रेन छान मारने के बाद भी अच्छी डील-डौल और रुआब का व्यक्ति उतरा हुआ नहीं दिखा तो वे सब निराश हुए। नारियल तोड़ने के चक्कर में पेड़ पर चढ़कर जांघ छिलवा चुके कृपलानी ज्यादा भागदौड़ नहीं कर रहे थे और अकेले उन्होंने ही गाँधी जी को देखा था। गाँधी जी और राजकुमार शुक्ल भी गाड़ी से उतरकर एक किनारे खड़े कृपलानी जी का इंतजार कर रहे थे। उनके हाथों में अपने-अपने सामान थे। गाँधी जी ने भी गुजराती किसानों वाली पोशाक पहनी थी और शुक्ल तो धोती -मिरजई वाले थे ही। सो, लड़कों को उन पर शक हुआ। पर जब राजकुमार शुक्ल ने कुछ लड़कों को बेचैनी से इधर-उधर जाते देखा तो खुद ही पूछा कि किसे ढूँढ़ रहे हो। फिर गाँधी जी की बात जानकर उन्होंने बगल में खड़े व्यक्ति के लिए कहा-यही तो वह महात्मा हैं। पहली बार किसी ने गाँधी जी को तभी 'महात्मा' कहा था।

जितने दिन महात्मा गाँधी चंपारण रहे, शुक्ल जी उनके साथ साए की तरह चिपके रहे। गाँधी जी को जिस बात की जरूरत हुई, उन्होंने उसे पूरा किया। जब गाँधी जी ने ज्यादा समय बेतिया रहना शुरू किया तो शुक्ल भी बेतिया ही रहने लगे। बल्कि जब वे कलकत्ता गए थे, गाँधी जी को लेने को निलहों के डर से अपने परिवार को किराये के मकान में बेतिया ही शिफ्ट करा दिया था। गवाही के लिए आने वाले किसानों को संभालना, उनका क्रम तय करना, उनकी मदद करना उनका दिन-भर का काम हो गया। चंपारण आयोग की सुनवाई के दौरान जिले के किसानों के प्रतिनिधि के तौर पर जिन तीन किसानों की गवाही हुई, उनमें राजकुमार शुक्ल भी एक थे। गाँधी जी यहाँ आने के बाद जिन घरों में सबसे गए, उनमें राजकुमार शुक्ल का घर भी था। कस्तूरबा भी उनके घर पर रुकीं। माना जाता है कि चंपारण के लोगों में व्याप्त निरक्षरता को अच्छी तरह जानते हुए शुक्ल जी ने ही गाँधी जी से आग्रह किया था कि वे दक्षिण अफ्रीका की तरह यहाँ भी स्कूल खोलकर लोगों को ज्ञान देने की शुरूआत करें। जब गाँधी जी इसके लिए तैयार हुए तो भितिहरवा की जमान दान दिलाने और स्कूल भवन बनाने के लिए सामग्री जुटाने में उनकी अग्रणी भूमिका रही।

राजकुमार शुक्ल ने गाँधी जी के अहमदाबाद चले जाने के बाद भी कांग्रेस के गठन और असहयोग आंदोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। वे कांग्रेस के पदाधिकारी भी बनाए गए, पर खुद को कार्यकर्ता ही मानते रहे। असल में शेख गुलाब की 1920 में हुई मृत्यु के बाद वे काफी उदासीन रहने लगे थे। उनकी तबीयत भी खराब रहने लगी। इसी अवस्था में वे एक बार साबरमती भी पहुँचे तो महात्मा गाँधी और कस्तूरबा उनको देखकर काफी दुखी हुए। कस्तूरबा तो उनकी हालत देखकर रोने लगीं और महात्मा जी भी उनके इस सवाल का जवाब नहीं नहीं दे सकें कि क्या मेरे जीवित रहते देश आजाद हो पाएगा? लौटने के बाद वे ज्यादा दिन जीवित नहीं रहे और 20 मई, 1929 को उनकी मृत्यु हो गई।

राजकुमार शुक्ल की असमय हुई मौत से जुड़ा एक पक्ष तो क्रांतिकारिता के हिसाब से आज भी बहुत आगे का लगता है। उनकी चिता को 1929 में ही उनकी छोटी बेटी

देवपति ने मुखाग्नि दी थी, क्योंकि उनको कोई बेटा नहीं था। आज से लगभग नब्बे साल पहले ऐसा होना बहुत बड़ी बात थी। उल्लेखनीय है कि दसेक साल में ही गाँधी जी का प्रताप ऐसा फैल गया कि न सिर्फ यह फैसला हुआ, बल्कि समाज ने इस काम की तारीफ की और विरोध की जगह समर्थन दिया। उनका अंतिम संस्कार तो तकलीफ के साथ हुआ, पर श्राद्ध में बड़े-बड़े लोग शामिल हुए। शुक्ल जी भट्ट ब्राह्मण समाज से आते थे और खानपान में पूरे पारंपरिक थे। पर गाँधी जी ने उन्हें पूरी तरह बदल दिया। पर यह बदलाव इतना होगा और पूरे जिले के लोग एक लड़की द्वारा मुखाग्नि दिए जाने की बात मान लेंगे, यह हैरान करने वाली बात है। पर सच है कि उन्हें मुखाग्नि उनकी छोटी बेटी देवपति ने दी थी।

उनकी मौत और श्राद्ध से जुड़ा एक और किस्सा है। जिस निलहे अंग्रेज ए. सी. एम्मन से उनका शुरूआती टकराव हुआ था, उसे बहुत तेज और क्रूर माना जाता था। उसकी क्रूरता और चालाकी के किस्से इलाके के हर किसान को मालूम थे तो निलहों में भी उसे अगुआ माना जाता था। राजकुमार शुक्ल के दो गाँवों में एक उसके इलाके में था और वे खुद उसकी ज्यादतियों का शिकार हुए थे। माना जाता है कि बेतिया राज की नौकरी और खेती छोड़कर शुक्ल ने अगर चाणक्य की तरह निलहा राज समाप्त करने की प्रतिज्ञा की तो उसमें एम्मन के हाथों हुए अपमान का भी योगदान था। पर यही एम्मन उनकी मौत पर शायद सबसे ज्यादा दुखी हुआ। उसने शुक्ल की मौत की खबर सुनी तो तुरन्त अपने एक गुमाश्ते को तीन सो रुपये देकर उनके घर रवाना किया। हक्का-बक्का गुमाश्ता बोला, *'साहब! वे तो जीवनभर आपको बर्बाद करने की लड़ाई लड़ते रहे।'* एम्मन ने कहा, *'तुम उस आदमी को नहीं समझ सकते कि वह क्या था।'* तुम चुपचाप जाकर पैसे दे आओ। शुक्ल जी ने श्राद्ध पर चंपारण आन्दोलन की प्रमुख हस्तियों में राजेन्द्र प्रसाद, अनुग्रह नारायण सिंह, ब्रजकिशोर प्रसाद जैसों के साथ एम्मन भी आया। जब राजेन्द्र बाबू ने उससे पूछा कि अब तो आपको चैन मिल गया होगा कि आपका दुश्मन खत्म हो गया तो डबडबाई आँखों से एम्मन ने कहा, *'वह मेरा दुश्मन नहीं था। मैं अपना काम करता रहा, अपने फायदे के लिए लगा रहा। वह अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ा। मेरा तो मानना है कि वही चंपारण का अकेला मर्द था। उसने मुझसे 25 साल लड़ाई लड़ी। अब वह चला गया और आप देख लीजिएगा कि अब मैं भी ज्यादा दिन नहीं चल पाऊँगा।'* श्राद्ध के अगले दिन उसने राजकुमार शुक्ल के बड़े दामाद सरयू राय को बुलाया और एसपी के नाम सिफारिश चिट्ठी दी, जिससे उन्हें पुलिस में जमादार पद की नौकरी मिल गई। शुक्ल जी की मौत 29 मई, 1929 को हुई थी। तीन महीने बाद एम्मन भी चल बसा।

।

अगस्त क्रांति और भारत का शासक वर्ग

- रणधीर सिंह सुमन

लोकसंघर्ष राजनीति मंच, दिल्ली

''यह एक छोटा-सा मंत्र मैं आपको देता हूँ। आप इसे हृदयपटल पर अंकित कर लीजिए और होशोहवास के साथ उसका जाप कीजिए। वह मंत्र है– '*करो या मरो*'। या तो हम भारत तो आजाद करेंगे या आजादी की कोशिश में प्राण दे देंगे। हम अपनी आँखों से अपने देश को सदा गुलाम और परतंत्र बना रहना नहीं देखेंगे। प्रत्येक सच्चा कांग्रेसी, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, इस दृढ़ निश्चय से संघर्ष में शामिल होगा कि वह देश को बन्धन और दासता में बने रहने को देखने के लिए जिन्दा नहीं रहेगा। ऐसी आपकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए।''
(अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में दिए गए गाँधी जी के भाषण का अंश)

डॉ. राममनोहर लोहिया ने 2 मार्च 1946 को भारत के वायसराय लार्ड लिनलिथगो को एक लंबा पत्र लिखा था। वह पत्र महत्वपूर्ण है और गाँधी जी ने उसकी सराहना की थी। यह पत्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद के क्रूर और षड्यंत्रकारी चरित्र को सामने लाता है। लोहिया ने वह पत्र जेल से लिखा था। भारत छोड़ो आन्दोलन में इक्कीस महीने तक भूमिगत भूमिका निभाने के बाद लोहिया को बंबई में 20 मई 1944 को गिरफ्तार कर लिया गया था। पहले लाहौर किले में और फिर आगरा में उन्हें कैद रखा गया। लाहौर जेल में ब्रिटिश पुलिस ने उन्हें अमानुषिक यंत्रणाएं दीं। दो साल कैद रखने के बाद जून 1946 में लोहिया को छोड़ा गया। इस बीच उनके पिता का निधन हुआ, लेकिन लोहिया ने छुट्टी पर जेल से बाहर आना स्वीकार नहीं किया।

वायसराय ने कांग्रेस नेताओं पर भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान सशस्त्र बगावत की योजना बनाने और आन्दोलन में बड़े पैमाने पर हिस्सा लेने वाली जनता पर हिंसक गतिविधियों में शामिल होने का आरोप लगाया था। उस समय के तीव्र वैश्विक घटनाक्रम और बहस के बीच वायसराय यह दिखाने की कोशिश कर रहे थे कि ब्रिटिश शासन अत्यंत न्यायप्रिय व्यवस्था है और उसका विरोध करने वाली कांग्रेस व भारतीय जनता हिंसक और निरंकुश। आजादी मिलने में केवल सा-दो साल बचा था, लेकिन

वायसराय ऐसा जता रहे थे मानो भारत पर हमेशा के लिए शासन करने का उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

पत्र में लोहिया ने वायसराय के आरोपों का खंडन करते हुए निहत्थी जनता पर ब्रिटिश हुकूमत के भीषण अत्याचारों को सामने रखा। उन्होंने कहा कि आन्दोलन का दमन करते वक्त देश में कई जलियांवाला बाग घटित हुए, लेकिन भारत की जनता ने दैवीय साहस का परिचय देते हुए अपनी आजादी का अहिंसक संघर्ष किया। लोहिया ने वायसराय के उस बयान को भी गलत बताया जिसमें उन्होंने भारत छोड़ो आन्दोलन में एक हजार से भी कम लोगों के मारे जाने की बात कही। लोहिया ने वायसराय को कहा कि उन्होंने असलियत में पचास हजार देशभक्तों को मारा है। उन्होंने कहा कि यदि उन्हें देश में स्वतंत्र घूमने की छूट मिले तो वे इसका प्रमाण सरकार को दे सकते हैं। लोहिया ने पत्र में लिखा, *''श्रीमान लिनलिथगो, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हमने सशस्त्र बगावत की योजना बनाई होती, लोगों से हिंसा अपनाने के लिए कहा होता तो आज गाँधी जी स्वतंत्र जनता और उसकी सरकार से आपके प्राणदंड को रुकवाने के लिए कोशिश कर रहे होते।''*

लोहिया ने वायसराय को उनका बर्बर चेहरा दिखाते हुए लिखा, **''आपके आदमियों ने भारतीय माताओं को नंगा कर पेड़ों से बाँध, उनके अंगों से छेड़छाड़ कर जान से मारा। आपके आदमियों ने उन्हें जबरदस्ती सड़कों पर लिटा-लिटा कर उनके साथ बलात्कार किए और जानें लीं। आप फासिस्ट प्रतिशोध की बात करते हैं जबकि आपके आदमियों ने पकड़ में न आ पाने वाले देशभक्तों की औरतों के साथ बलात्कार किए और उन्हें जान से मारा। वह समय शीघ्र ही आने वाला है जब आप और आपके आदमियों को इसका जवाब देना होगा।''** कुर्बानियों की कीमत रहती है, इस आशा से भरे हुए लोहिया ने अलबत्ता व्यथित करने वाले उन क्षणों में वायसराय को आगे लिखा, *''लेकिन मैं नाखुश नहीं हूँ। दूसरों के लिए दुख भोगना और मनुष्य को गलत रास्ते से हटा कर सही रास्ते पर लाना तो भारत की नियति रही है। निहत्थे आम आदमी के इतिहास की शुरूआत 9 अगस्त की भारतीय क्रांति से होती है।''*

हालांकि कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता फासिस्ट शक्तियों के खिलाफ युद्ध में फंसे 'लोकतांत्रिक' इग्लैण्ड को परेशानी में डालने पर अंत तक दुविधाग्रस्त बने रहे। उनका जिक्र लोहिया ने अपने पत्र में किया है। लेकिन खुद लोहिया को अंग्रेजों को बाहर खदेड़ने के फैसले पर कोई दुविधा नहीं थी। आधुनिकतावादियों जैसी दुविधा उनमें भी होती तो वे जनता के संघर्ष में पूरी निष्ठा और शक्ति से नहीं रम पाते। पत्र में उन्होंने स्पष्ट किया, ''हम भविष्य के प्रति जिज्ञासु हैं। चाहे जीत आपकी हो या धुरी शक्ति की, उदासी और अधिकार चारो ओर बना रहेगा। आशा की मात्र एक ही टिमटिमाहट है। स्वतंत्र भारत इस लड़ाई को प्रजातांत्रिक समापन की ओर ले जा सकता है।'' *(देखें, 'कलेक्टेड वर्क्स ऑफ डॉ. राममनोहर लोहिया खंड 9, संपा, मस्तराम कपूर, पृ. 129)*

हालांकि जनता का विद्रोह पहले तीन-चार महीनों तक ही तेजी से हुआ। नेतृत्व व दूरगामी योजना के अभाव तथा अंग्रेज सरकार के दमन ने विद्रोह को दबा दिया। 8 अगस्त 1942 को भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित हुआ और 9 अगस्त की रात को कांग्रेस के बड़े नेता गिरफ्तार कर लिए गए। नेताओं की गिरफ्तारी के चलते आन्दोलन की सुनिश्चित कार्ययोजना नहीं बन पाई थी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का अपेक्षाकृत युवा नेतृत्व सक्रिय था लेकिन उसे भूमिगत रह कर काम करना पड़ रहा था। जयप्रकाश नारायण ने क्रांतिकारियों का मार्गदर्शन और हौसला-आफजायी करने तथा आन्दोलन का चरित्र और तरीका स्पष्ट करने वाले दो लंबे पत्र अज्ञात स्थानों से लिखे। भारत छोड़ो आन्दोलन के महत्व का एक पक्ष यह भी है कि आन्दोलन के दौरान जनता खुद अपनी नेता थी।

भारत छोड़ो आन्दोलन की कई विशेषताएँ हैं। कई चरणों और नेतृत्व से गुजरे भूमिगत क्रांतिकारी आंदोलन और गाँधी के नेतृत्व में चले जनता के अहिंसक आन्दोलन का मिलन भारत छोड़ो आन्दोलन में होता है। दोनों की समानता और फर्क के बिन्दुओं को लेकर 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम के साथ भी भारत छोड़ो आन्दोलन के सूत्र जोड़े जा सकते हैं। भारत छोड़ो आन्दोलन हिंसक था या अहिंसक, इस सवाल को लेकर काफी बहस हुई। गाँधी, जिन्होंने 'करो या मरो' का नारा दिया और जिन्हें उसी रात गिरफ्तार कर लिया गया, ने जनता से अहिंसक आन्दोलन का आह्वान किया था।

जेपी ने गुप्त स्थान से 'आजादी के सैनिकों के नाम' दो पत्र क्रमशः दिसम्बर 1942 और सितम्बर 1943 में लिखे। अपने दोनों पत्रों में, विशेषकर पहले में, उन्होंने हिंसा-अहिंसा के सवाल को विस्तार से उठाया। हिंसा-अहिंसा के मसले पर गाँधी और कांग्रेस का मत अलग-अलग हैं, यह उन्होंनें अपने पत्र में कहा। उन्होंने अंग्रेज सरकार को लताड़ लगाई कि उसे यह बताने का हक नहीं है कि भारत की जनता अपनी आजादी की लड़ाई का क्या तरीका अपनाती है। उन्होंने कहा कि भारत छोड़ो आन्दोलन के मूल में हत्या नहीं करने और चोट नहीं पहुँचाने का संकल्प है।

उन्होंने लिखा, ''अगर हिन्दुस्तान में हत्याएँ हुई - और बेशक हुई- तो उनमें से 99 फीसदी ब्रिटिश फासिस्ट गुंडों द्वारा और केवल एक फीसदी क्रोधित क्षुब्ध जनता के द्वारा। हर अहिंसात्मक तरीके से अंग्रेजी राज के लिए जिच पैदा करना, उसे पंगु बना कर उखाड़ फेंकना ही उस प्रोग्राम का मूल मंत्र है और 'अहिंसा के दायरे में सब कुछ कर सकते हो यही है हमारा ध्रुवतार। इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं कि जिस प्रोग्राम पर 1942 के अग्त से अब तक कांग्रेस संस्थाओं ने अमल किया है उसका बौद्धिक आधार अहिंसा है–उस अर्थ में अहिंसा, जैसा उसके अधिकारी पुरुषों ने इस अर्से में बताया है।'' *(नया संघर्ष, अगस्त क्रांति विशेषांक, अगस्त-सितम्बर 1991, पृ. 31)*

भारत छोड़ो आन्दोलन में हिंसा-अहिंसा के सवाल पर जनता से लेकर नेताओं तक जो विमर्श उस दौरान हुआ, उसका विश्लेषण होना चाहिए। हिंसा के पर्याय और उसकी पराकाष्ठा पर समाप्त होने वाले दूसरे विश्वयुद्ध के बीच एक अहिंसक आन्दोलन का संभव होना निश्चित ही गंभीर विश्लेषण की मांग करता है। यह विश्लेषण इसलिए जरूरी है कि भारत का अधिकांश बौद्धिक वर्ग 1857 और 1942 की हिंसा का केवल भारतीय पक्ष देखता है और उसकी निन्दा करने में कभी नहीं चूकता और केवल हिंसा के बल पर तीन-चौथाई दुनिया को गुलाम बनाने वाले उपनिवेशवादियों को सभ्य और प्रगतिशील मानता है।

भारत छोड़ो आन्दोलन दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान हुआ। लिहाजा, उसका एक अन्तर्राष्ट्रीय आयाम भी था। आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय पहलू का इतना दबदबा था कि विश्वयुद्ध में अंग्रेजों का साथ देने के औचित्य और भारत की आजादी को विश्वयुद्ध में हुए अंग्रेजों के नुकसान का नतीजा बताने के तर्क भारत में आज तक चलते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों के लिए आजादी के लिए स्थानीय भारतीय जनता का संघर्ष ज्यादा मायने नहीं रखता। आज जो भारतीय जनता की खस्ता हालत हैं, उसमें आजादी के इस तरह के मूल्यांकनों का बड़ा हाथ हैं। हालांकि इसकी जड़ें और गहरी जाती हैं जिनके विश्लेषण का यहाँ स्थान नहीं है। नेताजी सुभाषचंद्र बोस का आजाद हिंद फौज बनाकर अंग्रेजों को बाहर करने के लिए किया गया संघर्ष भी भारत छोड़ो आन्दोलन के पेट से आता है। अंग्रेजों और स्थानीय विभाजक शक्तियों द्वारा देश के विभाजन की बिसात बिछाई जाने का काम भी इसी दौरान हुआ। जेपी ने इन सब पहलुओं पर अपने पत्रों में रोशनी डाली है।

भारत छोड़ो आन्दोलन देश की आजादी के लिए चले विभिन्न आन्दोलनों में जैसा भी भला-बुरा रहा हो लेकिन उन सबका निर्णायक निचोड़ था। विभिन्न स्रोतों से आजादी की जो इच्छा और उसे हासिल करने की जो ताकत भारत में बनी

थी, उसका अंतिम प्रदर्शन भारत छोड़ो आन्दोलन में हुआ। भारत छोड़ो आन्दोलन ने यह निर्णय किया कि आजादी की इच्छा में भले ही नेताओं का भी साझा योगदान रहा हो, उसे हासिल करने की ताकत निर्णायक रूप से जनता की थी। हालांकि अंग्रेजी शासन को नियामत मानने वाले और अपना स्वार्थ साधने वाले तत्व भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान भी पूरी तरह सक्रिय थे। वे कौन थे, इसकी जानकारी जेपी के पत्रों से मिलती है।

यह ध्यान देने की बात है कि गाँधीजी ने आन्दोलन को समावेशी बनाने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में दिए अपने भाषण में समाज के सभी तबकों को सम्बोधित किया था–जनता, पत्रकार, देशी नरेश, सरकारी अमला, सैनिक, विद्यार्थी। उन्होंने अंग्रेजों, यूरोपीय देशों और मित्र राष्ट्रों के नेतृत्व को भी अपने उस भाषण में सम्बोधित किया था। सभी तबको और समूहों से देश की आजादी के लिए *'करो या मरो'* के व्यापक आह्वान का स्वर उनका पिछले 25 सालों के संघर्ष का अनुभव था।

किसी समाज एवं सभ्यता की बड़ी घटना का प्रभाव साहित्य रचना पर पड़ता है। 1857 का पहला स्वतंत्रता संग्राम भारत की एक बड़ी घटना थी। अंग्रेजों का डर कह लीजिए या भक्ति, 1857 का संघर्ष लंबे समय तक साहित्यकारों की कल्पना से बाहर बना रहा। जबकि भारत छोड़ो आन्दोलन ने रचनात्मक कल्पना (क्रियेटिव इमेजिनेशन) को तत्काल और बड़े पैमाने पर आकर्षित किया। विभाजन साहित्य (पार्टीशन लिटरेटर) के बाद भारतीय साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण घटना के रूप में भारत छोड़ो आन्दोलन का चित्रण रहा है। इसका कारण लगता है कि गाँधी के राजनैतिक कर्म और विचारों ने पूंजीवाद के आकर्षण को भारतीय भद्रलोक के मानस से कुछ हद तक काटा था और जनता के संघर्ष की बदौलत आजादी लगभग आ चुकी थी।

मार्क्सवादी लेखकों ने भारत छोड़ो आन्दोलन को विषय बना कर उपन्यास लिखे। हिन्दी में यशपाल, जो अपने साहित्य को मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचार का माध्यम मानते थे, ने आन्दोलन के दौरान ही दो उपन्यास- *'देशद्रोही'* और *'पार्टी कामरेड'* - लिखे। यह ध्यान देने की बात है कि भारत छोड़ो आन्दोलन अपने ढंग के विशिष्ट राजनीतिक उपन्यासकार यशपाल का देर तक पीछा करता है। यशपाल सशस्त्र क्रांतिकारी आन्दोलन में सक्रिय रहे थे। उन्होंने अपने अंतिम महाकाव्यात्मक उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' (1979) में एक बार फिर भारत छोड़ो आन्दोलन का विस्तार से चित्रण किया।

सोवियत रूस के दूसरे विश्वयुद्ध में शामिल होने पर भारत के मार्क्सवादी नेतृत्व ने भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध और अंग्रेजों का साथ देने का फैसला किया। वह कांग्रेस समाजवादियों और मार्क्सवादियों के बीच कटु टकराहट का कारण तो बना ही, उस निर्णय के चलते मार्क्सवादी कार्यकर्ता देशभक्ति और देशद्रोह की परिभाषा व कसौटी को लेकर भ्रमित हुए। यशपाल ने अपने तीनों उपन्यासों में मार्क्सवादी कथानायकों को देशभक्त सिद्ध किया है। सतीनात भादुड़ी का *'जागरी'*, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य का *'मृत्युंजय'*, समरेश बसु का *'जुग जुग जियो'* (चार खंड) जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण उपन्यासों के अलावा भारतीय भाषाओं में, भारतीय अंग्रेजी उपन्यास सहित कई उपन्यास भारत छोड़ो आन्दोलन की घटना पर लिखे गए या उनमें उस घटना का जिक्र आया है। फणीश्वनाथ रेणु के उपन्यास *'मैला आँचल'* का समय करीब आजादी के एक साल पहले और एक साल बाद का है। उनके इस कालजयी उपन्यास पर भारत छोड़ो आन्दोलन की गहरी छाया व्याप्त है। यह परिघटना दर्शाती है कि भारत छोड़ो आन्दोलन राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण होने के साथ हमारी जातीय स्मृति का हिस्सा है।

भारत छोड़ो आन्दोलन का जो भी घटनाक्रम प्रभाव और विवाद रहे हों, मूल बात थी भारत की जनता की लंबे समय से पल रही आजादी की इच्छा– आजादी की इच्छा - का विस्फोट। भारत छोड़ो आन्दोलन के दबाव में भारत के

आधुनिकतावादी मध्यवर्ग से लेकर सामंती नरेशों तक को यह लग गया था कि अंग्रेजों को अब भारत छोड़ना होगा। अतः अपने वर्ग-स्वार्थ को बचाने और मजबूत करने की जिक्र उन्हें लगी। प्रशासन का लौह-शिकंजा और उसे चलाने वाली भाषा तो अंग्रेजों की बनी ही रही, विकास का मॉडल भी वही रहा। भारत का लोकतांत्रिक, समाजवादी व धर्मनिरपेक्ष संविधान भी पूंजीवाद और सामंतवाद के गठजोड़ की छाया से पूरी तरह नहीं बच बाया। अंग्रेजों के वैभव और रौब-दाब की विरासत, जिससे भारत की जनता के दिलों में भय बैठाया जाता था, भारत के शासन वर्ग ने अपनाए रखी। वह उसे उत्तरोत्तर मजबूत भी करता चला गया। गरीबी, महंगाई, बीमारी, बेरोजगारी, शोषण, कुपोषण, विस्थापन और आत्महत्याओं का मलबा बने हिन्दुस्तान में शासक वर्ग का वैभव अश्लील ही कहा जा सकता है। सेवाग्राम और साबरमती आश्रम के छोटे और कच्चे कक्षों में बैठकर गाँधी को दुनिया की सबसे बड़ी साम्राज्यशाही के राजनीतिक-कूटनीतिक संवाद करने में असुविधा नहीं हुई। अपना चिंतन/लेखन/आंदोलन करने में भी नहीं। गाँधी का आदर्श यदि सही नहीं था तो शासन-वर्ग सादगी का कोई और आदमी सामने रख सकता था। बशर्ते वैसी इच्छा होती।

वायसराय के आदमी

लोहिया ने आजाद भारत के शासक-वर्ग और शासनतंत्र की सतत और विस्तृत आलोचना की है। उन्होंने उसे अंग्रेजी राज का विस्तार बताया है। लोहिया को लगता रहा होगा कि उनकी आलोचना से शासक-वर्ग का चरित्र बदलेगा, तदनुरूप शासनतंत्र में परिवर्तन आएगा और भारत की अवरुद्ध क्रांति आगे बढ़ेगी। हालांकि संसद और उसके बाहर जनता के पक्ष में उनका संघर्ष शासक-वर्ग की प्रतिष्ठा को नहीं हिला पाया। आज जब हम अगस्त क्रांति की पचहत्तरवीं सालगिरह मना रहे हैं तो सोचें–किसलिए? क्या हम जनता का पक्ष मजबूत करना चाहते हैं? या स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रेरणा प्रतीकों, प्रसंगों और विभूतियों का उत्सव मना कर उनके सारतत्व को खत्म कर देना चाहते हैं?

नवउदारवाद के विरोध की किसी भी प्रेरणा को नष्ट करने की प्रवृत्ति भारत में जोर-शोर से चल रही है। 1857 के डेढ़ सौवें साल पर कांग्रेस ने दिल्ली से मेरठ और मेरठ से दिल्ली की यात्रा का आयोजन किया था। धूमधाम से किए गए उस आयोजन में कई नवउदारवाद विरोधी बुद्धिजीवियों और एक्टिविस्टो ने शिरकत की। देश की संवैधानिक संप्रभुता समेत उसके समस्त संसाधनों और श्रमशक्ति को नवसाम्राज्यवादी ताकतों का निवाला बना देने वाले प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने लालकिले पर मेरठ से लौटे क्रांति यात्रियों का लाल किले पर स्वागत किया था। यह कटुसत्य है लेकिन इससे कम कुछ नहीं कहा जा सकता कि 1857 के शहीदों का इससे बड़ा अपमान नहीं हो सकता था।

डेढ़ सौवीं वर्षगाँठ के अवसर पर दो वर्षों तक सरकार ने पैसा भी खूब बांटा। पैसा देखते ही बुद्धिजीवियों में भी जोश आ जाता है। जिन्होंने 1857 पर कभी एक पंक्ति न पढ़ी थी, लिखी थी, ऐसे बहुत-से विद्वान सभा-सेमिनारों में सक्रिय हो गए। मार्क्सवादियों ने इस बार कुछ ज्यादा जोर-शोर से 1857 का जश्न मनाया। लेकिन साथ ही उनके नेतृत्व ने यह भी कह दिया कि पूंजीवाद के अलावा विकास का कोई रास्ता नहीं है। यानी मान्यता वही पुरानी रही - अपनी आजादी के लिए लड़ने वाले पिछड़ी/सामंती शक्तियाँ थे और उन्हें गुलाम बनाने वाले अंग्रेज आगे बढ़ी हुई। ऐसे में पिछड़ी और सामंती शक्तियों का हारना तय था। आज तक भारत का मार्क्सवादी और आधुनिकतावादी दिमाग, उत्सव चाहे जितना मना लें, आजादी की इच्छा में अपने प्राणों पर खेल जाने वालों की हिमाकत को माफ नहीं करता है। उनके हिसाब से यह देश अंधकूप था और अंग्रेज न आते तो अंधकूप ही रह जाता। यह केवल नब्बे के दशक का फैसला नहीं है कि भारत की राजनीतिक के सारे कारपोरेट पूंजीवाद की ओर जाते हैं।

लोहिया ने भारत छोड़ो आन्दोलन की पच्चीसवीं वर्षगाँठ पर लिखा, *''नौ अगस्त का दिन जनता की महान*

घटना है और हमेशा बनी रहेगी। पंद्रह अगस्त राज्य की महान घटना थी। लेकिन अभी तक हम 15 अगस्त को धूमधाम से मनाते हैं क्योंकि उस दिन ब्रिटिश वायसराय माउंटबैटन ने भारत के प्रधानमंत्री के साथ हाथ मिलाया था और क्षतिग्रस्त आजादी देश को दी थी। नौ अगस्त जनता की इस इच्छा की अभिव्यक्ति थी– हमें आजादी चाहिए और हम आजादी लेंगे। हमारे लंबे इतिहास में पहली बार करोड़ों लोगों ने आजादी की अपनी इच्छा जाहिर की। कुछ जगहों पर इसे जोरदार ढंग से प्रकट किया गया।'' पच्चीस साल की दूरी से देखने पर लोहिया ने उस आन्दोलन की कमजोरी-सतत दृढ़ता की कमी पर अंगुली रखी। वे लिखते हैं, ''लेकिन यह इच्छा थोड़े समय तक ही रही लेकिन मजबूत रही। उसमें दीर्घकालिक तीव्रता नहीं थी। जिस दिन हमारा देश दृढ़ इच्छा प्राप्त कर लेगा उस दिन हम विश्व का सामना कर सकेंगे। बहरहाल, यह 9 अगस्त 1942 की पच्चीसवीं वर्षगाँठ है। इसे अच्छे तरीके से मनाया जाना चाहिए। इसकी पचासवीं वर्षगाँठ इस प्रकार मनाई जाएगी कि 15 अगस्त भूल जाए, बल्कि 26 जनवरी भी पृष्ठभूमि में चला जाए या उसकी समानता में आए। 26 जनवरी और 9 अगस्त एक ही श्रेणी की घटनाएँ हैं। एक ने आजादी की इच्छी की अभिव्यक्ति की और दूसरी ने आजादी के लिए लड़ने का संकल्प दिखाया।'' *(देखें, रामनोहर लोहिया रचनावली, खण्ड 9, संपा, मस्तराम कपूर, पृ. 413)*

अगस्त क्रांति की पचासवीं वर्षगाँठ देखने के लिए लोहिया जिन्दा नहीं रहे। लोग मरने के बाद उनकी बात सुनेंगे, उनकी यह धारणा अभी तक मुगालता ही साबित हुई है। अगस्त क्रांति की पचासवीं वर्षगाँठ 1992 में पड़ी। कहाँ लोहिया की इच्छा और कहाँ 1992 का साल। यह वह साल है जब नई आर्थिक नीतियों के तहत देश के दरवाजे बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की लूट के लिए खोल दिए गए और **एक पाँच सौ साल पुरानी मस्जिद को राममंदिर आन्दोलन चला कर ध्वस्त कर दिया गया। तब से लेकर नवउदारवाद और संप्रदायवाद की गिरोहबंदी के बूते भारत का शासक-वर्ग उस जनता का जानी दुश्मन बन गया है।** जिसने भारत छोड़ो आन्दोलन में साम्राज्यवादी शासकों के दमन का सामना करते हुए आजादी का रास्ता प्रशस्त किया था। जो हालात हैं उन्हें देख कर कह सकते हैं कि नब्बे के दशक के बाद उपनिवेशवादी दौर के मुकाबले ज्यादा भयानक तरीके से जनता के दमन को अंजाम दिया जा रहा है। अगस्त क्रांति दिवस के मौके पर हम यह विचार कर सकते हैं कि भारत छोड़ो आन्दोलन की तर्ज पर *'बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत छोड़ो'* के नारे क्यों कारगर नहीं होते और क्यों कारपोरेट पूंजीवाद का कब्जा उत्तरोत्तर मजबूत होता जाता है? क्यों सारे देश को नगर और सारी आबादी को उपभोक्ता (कंज्यूमर) बनाने का दु;स्वप्न धड़ल्ले से बेचा जा रहा है? कारण स्पष्ट है, **भारत का शासक वर्ग पूरी तरह से कारपोरेट पूंजीवाद का पक्षधर है। देश के नेता, उद्योगपति, बुद्धिजीवी, लेखक, कलाकार, फिल्मी सितारे, पत्रकार, खिलाड़ी, जनांदोलनकारी, नौकरशाह, तरह-तरह क सिविल सोसायटी एक्टिविस्ट कारपोरेट पूंजीवाद के समर्थन और मजबूती की मुहिम में जुटे हैं।** इसमें जो शामिल नहीं है उनके बारे में माना जाता है कि उनकी प्रतिभा में जरूर कोई खोट या कमी है। नवउदारवाद और उसके पक्षधरों की स्थिति इतनी मजबूत हैं कि अब उनकी आलोचना भी उनके गुणों का बखान हो जाती है और उनका पक्ष और मबजूत करती है।

जैसा कि हमने पहले भी कई बार बताया है, नवउदारवादियों के साथ प्रच्छन्न नवउदारवादियों की एक बड़ी टीम तैयार हो चुकी है। वह शासक वर्ग के साथ नाभिनालबद्ध है और नवउदारवाद विरोध की राजनैतिक संभावनाओं को नष्ट करने में तत्पर रहती है। दरअसल, सीधे नवउदारवादियों के मुकाबले प्रच्छन्न नवउदारवादी जनता और समाजवाद के बड़े दुश्मन बने हुए हैं। नवउदारवाद के मुकाबले में उभरे सच्चे जनांदोलनों और समाजवादी राजनीति के प्रयासों को प्रच्छन्न नवउदारवादियों ने बार-बार भ्रष्ट किया है। इन्होंने एक बड़ा हल्ला,

अंतर्राष्ट्रीय स्तर का वल्ड सोशल फोरम (डब्ल्यूएसएफ) के तत्वावधान में बोला था और उसमें बड़ा हमला, राष्ट्रीय स्तर पर, इंडिया अगेंस्ट करप्शन (आईएसी) के तत्वावधान में बोला हुआ है। प्रच्छन्न नवउदारवादियों के लिए सब कुछ अच्छा हो सकता है; बुरी है तो केवल राजनीति। हालांकि उनकी अपनी राजनीतिक ऐषणाएँ शायद ही कभी एक पल के लिए सोती हों। डब्ल्यूएसएफ के समय कम से कम साम्प्रदायिकता से बचाव था। आईएसी के आन्दोलन में साम्प्रदायवादी और धर्मनिरपेक्षतावादी आपस में मिल गए हैं और वे एक 'जन लोकपाल' के बदले नवउदारवादी व्यवस्था और नेतृत्व को अभयदान देते हैं। आईएसी के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का शुरुआती नारा था– *"मनमोहन सिंह वोट चाहिए तो जन लोकपाल कानून लाओ।* अब बाबा रामदेव कहते घूम रहे हैं, राहुल गाँधी काला धन वापस लाओ, प्रधानमंत्री बन जाओ। सुना है नवउदारवाद के उत्पाद बाबा ने विदेशों में जमा काला धन वापस लाने का आंदोलन फिर से छेड़ने के लिए अगस्त क्रांति दिवस को चुना है।

मुख्यधारा की मीडिया पूरी तरह नवउदारवादियों और प्रच्छन्न नवउदारवादियों के साथ हैं, जिसमें नेता और मुद्दे कम्पनियों के उत्पाद की तरह प्रचारित किए जाते हैं। नतीजा यह है कि भारतीय मानस सम्पूर्णता में शासक-अभिमुख यानी नवउदारवादी रुझान का बनता जा रहा है। नवउदारवादी नीतियों से प्रताड़ित जनता भी इस मुहिम की गिरफ्त में है। यह प्रक्रिया जब मुकम्मल हो जाएगी, कोई भी बदलाव संभव नहीं होगा। केवल फालतू लोगों का सफाया होगा। हम प्रच्छन्न नवउदारवादियों के इस तर्क के कायल नहीं हैं कि वे सरकार पर दबाव डाल कर गरीबों के लिए जनकल्याणकारी योजनाएँ बनवाते हैं। उनकी यह मदद गरीबों को नहीं, कोरपोरेट घरानों को सुरक्षित करती है।

हम हाल का एक वाकया बताना चाहते हैं। 8 जुलाई को पूना में समाजवादी नेता और लेखक/पत्रकार पन्नालाल सुराणा के सम्मान में एक कार्यक्रम आयोजित किया गया। अवसर उनके अस्सीवें साल में प्रवेश करने का था। कार्यक्रम के आयोजन में राष्ट्र सेवा दल की प्रमुख भूमिका थी जिसके वे अध्यक्ष रह चुके हैं। महाराष्ट्र के हर जिले से आए करीब पाँच सौ लोगों ने साने गुरुजी स्मारक पहुँच कर पन्नालाल जी को बधाई दी। चंदा करके उगाहे गए ग्यारह लाख रुपयों का चेक भी भेंट किया गया। सत्ता की राजनीति से बाहर किए गए राजनतिक संघर्ष के लिए उत्तर भारत में ऐसा कार्यक्रम होना असम्भव है। हमने अपनी आँखों से देखा कि एक व्यक्ति नंगे पैर आया और स्वागत कक्ष में चंदा देकर रसीद ली।

कार्यक्रम हालांकि पन्नालाल जी के अभिनन्दन का था, लेकिन चर्चा ज्यादातर राजनीतिक हो गई। स्वागत समिति के अध्यक्ष भाई वैद्य ने पन्नालाल जी के व्यक्तित्व और लेखकीय कृतित्व के साथ समाजवादी आन्दोलन में उनके राजनीतिक संघर्ष पर भी प्रकाश डाला। मुख्य अतिथि जस्टिस राजेन्द्र सच्चर ने अपने वक्तव्य में अवसरोपयुक्त टिप्पणी करने के साथ कार्यक्रम की अध्यक्ष अरुणा राय को सम्बोधित करते हुए कहा कि वे एक बार फिर उन्हें सक्रिय राजनीति में आने की अपील करके उलझन में डालना चाहते हैं। वे शायद पहले भी कतिपय अवसरों पर उनसे वैसी अपील कर चुके होंगे। उन्होंने दूसरे मुख्य अतिथि ऊर्जा मंत्री सुशील कुमार शिंदे को भी नवउदारवादी नीतियों के दुष्परिणामों की चर्चा करके उलझन में डाला। शिंदे साहब का भाषण लम्बा था। वे नवउदारवादी नीतियों की जरूरत और उनसे होने वाले फायदों पर बोले। पन्नालाल जी को हालांकि आयोजकों और वहां आने वाले शुभेच्छुओं का धन्यवाद ही करना था, लेकिन समाजवादी प्रतिबद्धता और राजनीतिक संघर्ष के तहत उन्होंने अपने भाषण में शिंदे साहब की धारणाओं का जोरदार ढंग से खंडन किया।

हमें अच्छा लगा कि एक नागरिक अभिनन्दन कार्यक्रम में अच्छी-खासी राजनीतिक बहस सुनने को मिली। लेकिन आश्चर्य भी हुआ कि राष्ट्रीय सलाहकार समिति की सदस्य अरुणा राय ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में सक्रिय राजनीति की बात करने वालों पर बिना झिझक तानाकशी की। उनका निशाना कारपोरेट पूंजीवाद के

खिलाफ समाजवाद की राजनीति करने वालों पर था। गोया सक्रिय राजनीति करने का अधिकार उस पार्टी और सरकार के लिए सुरक्षित हैं, जिसकी वे सलाहकार हैं। उन्होंने कहा कि वे राजनीति को ज्यादा अच्छी तरह समझती हैं और जो कर रही हैं वह सच्ची राजनीति हैं। उनके मुताबिक, यह उसी राजनीति चेतना का असर है कि लोग अब सवाल पूछ रहे हैं। उन्होंने राजनीतिक चेतना फैलाने में नर्मदा बचाओ आन्दोलन का हवाला भी दिया। मनरेगा को वे राजनीतिक चेतना की देशव्यापी पाठशाला मानती ही होंगी। काफी ऊँचे ओटले से बोलते हुए उन्होंने घोषणा की कि असली आजादी तो अब आई है, जब उन जैसे सिविल सोसायटी एक्टिविस्टो ने लोगों को जागरूक करना शुरू किया है। अरुणा राय अपने वक्तव्य को लेकर इस कदर आत्मव्यामोहित थी कि अपनी मान्यता और भूमिका पर रंच मात्र भी आलोचनात्मक निगाह डालने को तैयार नहीं दिखी।

दरअसल, एनजीओ वालों का राजनीतिक संघर्ष से कोई वास्ता नहीं होता। वे उसके बारे में वाकफियत भी नहीं रखना चाहते। वे गरीबों को साल में सौ दिन सौ रुपया का काम देने को बहुत बड़ी क्रांति मानकर अपनी पीठ ठोकते हैं और इस सच्चाई से आँखे फेरे रहते हैं कि देश में कारपोरेट क्रांति हो चुकी है। अगस्त क्रांति के दिन यह समझना जरूरी है इन लोगों का स्वार्थ शासक-वर्ग के साथ नाभिनालबद्ध है। वरना सीधी बात है, यदि आप किसी सरकार या पार्टी की विचारधारा से सहमत नहीं है तो उसके सलाहकार नहीं बन सकते। काम करने के लिए उस सरकार के प्रोजेक्ट नहीं ले सकते। सोनिया गाँधी की सलाहकार समिति, जिसका सदस्य बनने के लिए मारामारी होती है, द्वारा जो भी काम सम्पादित होता है, सरकार के लिए होता है और कांग्रेस नीत यूपीए सरकार कारपोरेट पूंजीवाद की पैरोकार सरकार हैं।

मजेदारी यह है कि जनता को धोखा देने का यह खेल खुलेआम और बिना किसी ग्लानि के चलता है। अपने वायसराय को लिखे खत में लोहिया ने जिन्हें *'आपके आदमी'* बताया है, सरकारों के सलाहकार बने प्रच्छन्न नवउदारवादी उसी श्रेणी में आते हैं। सोनिया के इन सलाहकारों से पूछा जा सकता है कि आप भारत की करोड़ो माताओं की दुर्दशा में शामिल हैं, उन माताओं के करोड़ो बच्चों के कुपोषण, बीमारी, असमय मृत्यु, अशिक्षा की जिम्मेदारी आप पर आयद होती है, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा देश के संसाधनों की लूट, लोगों के विस्थापन और किसानो की आत्महत्या किसी दैवीय प्रकोप की नहीं, आपकी देन हैं, क्यों आप सरकार के सलाहकार है और उस सरकार की राजनीति से अलग राजनीति के धूर विरोधी।

सीधे राजनीति ही रास्ता

नवउदारवादी गुलामी के खतरे को सबसे पहले देख पाने वाले राजनेता और चिंतक किशन पटनाटक ने यह माना था कि नवउदारवाद के विरोध और विकल्प के लिए जनांदोलनों का राजनीतिकरण और एकीकरण होना चाहिए। वह निश्चित ही एक प्रासंगिक और स्फूर्तिदायक विचार था। किशन पटनायक की साख भी थी और समस्या की सम्यक समझ भी। इस उद्देश्य की प्राप्ति उन्होंने कई वरिष्ठ और युवा समाजवादी साथियों के साथ मिलकर पहल की। 1995 में एक नई राजनीतिक पार्टी समाजवादी जन परिषद (सजप) का गठन हुआ जिसके तहत वैकल्पिक राजनीतिक और वैकल्पिक विकास का विचार लोगों के सामने रखा गया। हालांकि किशन पटनाटक की आशा फलीभूत नहीं हो पाई। भारत सहित दुनिया के सभी देशों में एनजीओ का तंत्र नवउदारवाद विरोधी किसी भी राजनीतिक पहल को निष्क्रिय करने के लिए स्वाभाविक तौर पर सक्रिय रहता है। उसी तंत्र में फंस कर किशन पटनाटक की मौत हो गई।

नवउदारवादी के खिलाफ सजप के अलावा और भी कई राजनीतिक प्रयास हुए हैं। उदारीकरण के पहले 10 सालों में मुख्यधारा राजनीति की तरफ से भी उसके विरोध में कुछ न कुछ स्वर उठते रहे। देश परदेश के शासक-वर्ग द्वारा नवउदारवादी हमले के बाद उसका मुकाबला करने की प्रेरणा केवल जनान्दोलन के भीतर है।

I

विशेष आलेख

'वैदिक गणित' की समीक्षा

- गुणाकर मुले

(गुणाकर मुले हिन्दी में वैज्ञानिक लेखन के क्षेत्र में सुपरिचित नाम हैं। सन् 1959 से विज्ञान, गणित, पुरातत्व, लिपिशास्त्र,, मुद्राशास्त्र और संस्कृति पर असाधारण महत्व की कृतियाँ। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् और विज्ञान प्रसार के फेलो। जन्म 3 जनवरी 1935 विदर्भ के अमरावती में और मृत्यु 16 अक्टूबर 2008 दिल्ली में। साहित्य सम्मान, आत्माराम पुरस्कार, कर्पुरी ठाकुर सम्मान एवं मेघनाद साह पुरस्कार से सम्मानित।)

अमरावती, सी–210 पांडव
नई दिल्ली – 92

गणितीय सिद्धांत 'आसमान' से नहीं टपकते। गणित के सूत्र और प्रमेय किसी इतिहास के मुहताज नहीं होते। गणित का समूचा इतिहास साक्षी है कि यह विषय तार्किक चिंतन और भौतिक आवश्यकताओं से विकसित होता रहा, शनैः-शनैः। प्राचीन सभ्यताओं को उनकी भौतिक आवश्यकताओं के लिए जितने गणित की जरूरत थी, उतना ही वे खोज पाए थे, उससे अधिक नहीं। यह कहना है कि समूचा गणित–समूचा ज्ञान-विज्ञान– किसी एक देश की, किसी एक कालावधि की, किसी एक जनजाति की ही देन है, कोरी कुपमंडूकता के अलावा और कुछ नहीं है।

दुर्भाग्य ने, वेदों को लेकर ऐसी बातें हमारे देश में पहले भी कही जाती रहीं, आज अधिक दुराग्रह के साथ कही जा रही हैं–राजनीतिक प्रयोजन से भी। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों के स्रोत वेदों में खोजने का एक नया उद्यम ही शुरू हो गया है।

हमारे देश में वेदों को अनादि, अनंत, अपरिमेय मानने की भी परम्परा रही है। परन्तु जहाँ एक ओर कई आस्तिक विचारधारा *'वेद प्रामाण्य'* स्वीकार करती रहीं, वहीं दूसरी ओर कई सारी नास्तिक विचारधाराएँ– बौद्ध, जैन, भौतिकवादी आदि–वेदों को निरर्थक और निरुपयोगी भी मानती रही है। प्राचीन काल के कुछ मताग्रही प्रचारकों ने वेदों में ही सारा ज्ञान निहित होने का दावा किया होगा। **(सर्व वेदात् प्रसिध्यति)** तभी प्रत्यक्षप्रमाणवादियों के प्रखर उद्गार निकले थे–**त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।**[01]

वेदों को ज्ञान-विज्ञान के अक्षय भंडार मान लिया जाए, तो फिर इनमें से कुछ भी, लौकिक या अलौकिक, खोज निकालने में कोई कठिनाई नहीं है। वैदिक मंत्रों के मनमाने अर्थ लगाकर इनमें कर्मकांड, अध्यात्म और ज्ञान की नई-नई बातें तलाशने के प्रयास पहले से होते आ रहे हैं। परन्तु प्राचीन काल से लेकर बीसवीं सदी के मध्यकाल तक हमारे किसी भी पंडित या धर्माचार्य ने कभी यह दावा नहीं किया कि वैदिक मंत्रों में गणितशास्त्र के सूत्र मौजूद हैं।

प्रथम आर्यभट्ट (जन्म - 476 ई.) ब्रह्मगुप्त (जन्म - 598 ई.) महावीराचार्य (लगभग 860 ई.) और भास्कराचार्य (जन्म - 1111 ई.) जैसे हमारे महान गणितज्ञों ने भी वेदों का अध्ययन-अनुशीलन किया था, किन्तु प्राचीन भारत के इन तमाम गणितज्ञों और ज्योतिषियों में से किसी ने भी अपनी किसी भी कृति में यह नहीं कहा कि वे जिन गणित को प्रस्तुत कर रहे हैं, वह वेदों में विद्यमान है। इसके विपरीत, हर गणितज्ञ ने कुछ नई बातें ही प्रस्तुत की है। आर्यभट्ट ने श्रुति-स्मृति परम्परा का विरोध करके पहली बार भूभ्रमण-जैसे सही सिद्धान्त प्रतिपादित किए।[02] ब्रह्मगुप्त वेदों के भक्त थे। फिर भी उन्होंने कहीं यह नहीं कहा कि जिस गणित को वे प्रस्तुत कर रहे हैं वह वेदों में विद्यमान है। ब्रह्मगुप्त ने उस महत्वपूर्ण *कुड़क-गणित* (समीकरणों के बीजगणित) का विकास किया जिसका वेदों में शब्दोल्लेख तक नहीं। महावीराचार्य जैन थे, इसलिए उनके *गणितसार-संग्रह* के स्रोत वेदों में खोजना व्यर्थ है। वे अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही *'संख्याज्ञान के प्रदीप से समस्त विश्व को प्रकाशवान करने वाले'* जिनेंद्र भगवान महावीर को नमस्कार करते हैं। भास्काराचार्य अपने पिता महेश्वराचार्य की 'श्रीतस्मार्तविचारसारचतुरो निःशेषविद्यानिधिः' बताते हैं।[03] और वे ही उनके विद्यागुरु थे।[04] वेद किसी भी भारतीय गणितज्ञ के प्रेरणा-स्रोत नहीं रहें, यहाँ तक कि अत्यधिक धार्मिक वृत्ति वाले महान भारतीय गणितज्ञ रामानुजन् (1887-1920ई.) के भी नहीं। पता चलता है कि रामानुज अपनी कुलदेवी नामगिरि को अपनी प्रेरणा का स्रोत मानते थे।

लेकिन अब, हमारे समय में, दावा किया जा रहा है कि वैदिक ऋषियों को वह सारा गणित ज्ञान था जो आज तक खोजा गया है। आजकल इस वैदिक गणित की देश में खूब चर्चा है और इस चर्चा का मूलाधार है, मूलतः अंग्रेजी में लिखा गया ग्रन्थ – *Vadic Mathematics,* जिसके रचनाकार है स्वर्गीय स्वामी श्री भारती तीर्थ (1884-1960 ई.), गोवर्धन मठ, पूरी के शंकराचार्य। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पहली बार 1965 ई. में, लेखक के निधन के पाँच साल बाद प्रकाशित इस पुस्तक की सम्पादकीय प्रस्तावना पुरातत्व व इतिहास के विद्वान डा. वासुदेवशरण अग्रवाल (1904 - 1966 ई.) ने लिखी है।

बहुता के लिए अंधश्रद्धा की सीमा तक आदृत बने हुए 'वैदिक' विशेषण को गणित के साथ जोड़ दिया है और इस 'वैदिक गणित' को शंकराचार्यों की श्रद्धास्पद परम्परा के एक धमाचार्य ने प्रस्तुत किया है, और इतिहास -पुरातत्व के एक प्रख्यात पंडित ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखी है, इसलिए इस समूचे विषय की समीक्षा करना एक सहज कार्य नहीं है। मगर गणित जैसे बुनियादी विषय की शिक्षा का महत्व चंद पंडितों या पुस्तकों के प्रति हमारी भक्ति से कहीं ज्यादा है।

'वैदिक गणित' का सहारा लेकर रूढ़िवादी व साम्प्रदायिक शक्तियाँ, न केवल भारतीय विज्ञान का विकृत इतिहास रचने में जुटी हुई है, बल्कि आज की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक व निरुपयोगी इस तथाकथित 'वैदिक गणित' को जोर-जबरी से विद्यार्थियों पर थोपने के प्रयास भी जारी है।

इसीलिए यह समीक्षा।

स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ की पुस्तक का पूर्ण शीर्षक है (हिन्दी में) : 'वैदिक गणित या वेदों से प्राप्त सोलह सरल गणितीय सूत्र' (गणित के सभी सवालों के एक पंक्ति के उत्तरों के लिए)।[05] उनके इन सूत्रों को हम अंत में दे रहे हैं।

सर्वप्रथम डा. वासुदेवशरण अग्रवाल की 'प्रस्तावना' को ठीक से समझ लेना जरुरी है। वासुदेवशरण ने शंकराचार्य के प्रति अपनी श्रद्धा तो व्यक्त की, किन्तु उनके मतों को अपना बौद्धिक समर्थन बिल्कुल नहीं दिया। शुरू में ही वे स्पष्ट कर देते हैं कि अन्य वैज्ञानिक कृतियों की तरह इस पुस्तक का प्रणयन तथ्यात्मकता या व्यावहारिकता की दृष्टि से नहीं हुआ है।

'पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रगाढ़ अध्येता वासुदेवशरण इस प्रस्तावना में वेदों के बारे में अपनी कोई राय व्यक्त नहीं करते। वे लेखक (शंकराचार्य) की भूमिका का एक अंश उद्धृत करते हैं, जिसमें दावा किया गया है कि मानव समाज के लिए आवश्यक समस्त ज्ञान वेदों में

अवश्य विद्यमान होना चाहिए। अवश्य विद्यमान होना चाहिए को वे खासतौर से रेखांकित करते हैं–स्पष्ट करने के लिए कि यह उनका नहीं, लेखक का अपना निजी मत है।

वासुदेवशरणजी की आगे की टिप्पणी है : 'चूँकि लेखक वैदिक परम्परा को तथ्यात्मकता से नहीं, बल्कि एक आदर्श या काल्पनिक नजरिए से देखता है, इसलिए परम्परा से उपलब्ध वैदिक पाठों में 'वैदिक गणित' के सूत्रों की तलाश करना व्यर्थ है।' वासुदेवशरणजी यह भी स्पष्ट लिख देते है कि जिन 16 सूत्रों को 'वैदिक गणित' का मूलाधार बताया जाता है ..... किसी भी वेद या अथर्ववेद के किसी भी परिशिष्ट से उपलब्ध नहीं है। यह भी वे साफ-साफ बता देते हैं कि इन 16 सूत्रों और इनके उपसूत्रों की भाषा-शैली से स्पष्ट पता चलता है कि इनकी खोज या रचना स्वयं स्वामीजी ने की है।

स्वामीजी के प्रति पूज्यभाव रखने वाले और वाराणसी के अपने अंतिम दिनों में कुछ अधिक हो अध्यात्म-प्रेमी बने डा. वासुदेवशरण अग्रवाल अपनी संपादकीय प्रस्तावना में पुस्तक की विषय-वस्तु के बारे में इससे अधिक स्पष्टता से क्या लिख सकते थे।

वासुदेवशरण जी गणित के अध्येता नहीं थे। वे हिन्दू विश्वविद्यालय नेपाल राज्य संस्कृत ग्रन्थ माला के प्रधान संपादक थे। उन्हें 'वैदिक गणित की पांडुलिपि स्वामीजी के शिष्यों व भक्तों से प्राप्त हुई थी। पुस्तक प्रकाशन के लिए अमरीका गई थी, लेकिन कहीं प्रकाशित नहीं हो सकी। अब उसे प्रकाशित करना डा. वासुदेवशरण अग्रवाल की जिम्मेदारी थी। उन्होंने स्वामीजी की पुस्तक की पांडुलिपि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गणित-विभाग के अध्यक्ष डा. ब्रजमोहन (1908-1991 ई.) के पास परीक्षण के लिए भेजी थी।

डा. ब्रजमोहन केवल गणितज्ञ ही नहीं, एक अच्छे भाषा-विज्ञानी भी थे। उन्होंने गणित और शब्द विज्ञान पर हिन्दी में कई पुस्तकें लिखी हैं। उनका गणित का इतिहास (1965 ई.) हिन्दी में इस विषय की पहली कृति है।[6] ब्रज मोहनजी को स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ के 'वैदिक गणित' संबंधी प्रवचन सुनने का भी अवसर मिलता था। अतः यह जानना उपयोगी होगा कि स्वामीजी की पुस्तक की पांडुलिपि पढ़ने पर डा. ब्रजमोहन की क्या प्रतिक्रिया हुई। डा. वासुदेवशरण ने इसके बारे में कुछ नहीं लिखा, मगर ब्रज मोहनजी ने अपने ग्रन्थ गणित का इतिहास के 'प्राक्कथन' में 'वैदिक गणित' के बारे में अपने विचार सुस्पष्ट कर दिए हैं।

लगता है कि ब्रज मोहनजी की पुस्त जब छप रही थी, तब स्वामी शंकराचार्य के कुछ भक्तों ने उसमें 'वैदिक गणित' की भी चर्चा करने का उनके अनुरोध किया होगा। मगर डा. ब्रज मोहन ने उस अनुरोध को स्वीकार नहीं किया और अपनी पुस्तक के प्राक्कथन में उसका कारण भी विस्तार से स्पष्ट कर दिया। इस संदर्भ में उनका पहला ही वाक्य है। हमने अपने इतिहास में केवल उन्हीं तथ्यों का समावेश किया है जिनकी सत्यता हमारे विचार में प्रायः असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो चुकी है?''[07]

डा. ब्रज मोहन ने ये शब्द काफी जाँच-पड़ताल करने के बाद ही लिखे, क्योंकि आगे वे बताते हैं : ''स्वामीजी ने इन सूत्रों का यह अभिदेश दिया था : अथर्ववेद परिशिष्ट-1। मुझे अथर्ववेद के जितने भी संस्करण काशी के पुस्तकालयों में मिल सके, मैंने सब छान मारे। मुझे उपरिलिखित सूत्र कहीं नहीं मिले। मैंने शंकराचार्यजी को इस विषय में तीन पत्र लिखे। मुझे कोई उत्तर नहीं मिला। तत्पश्चात् में वेदों के उद्‌भट विद्वानों से मिला, जैसे पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी और पंचगंगाघाट काशी, के पं. रामचंद्र भट्ट। उन्होंने बताया कि उपरिलिखित सूत्रों की भाषा ही वैदिक संस्कृत से मेल नहीं खाती। अतः वे वैदिक सूत्र हो ही नहीं सकते। इसके अतिरिक्त वेदों में कहीं गणितीय विषयों का उल्लेख है ही नहीं। इसी दौड़-धूप में मेरे हाथ निम्नलिखित पुस्तक लगी– G. M. Bolling and J. V. Negelen : The Parishishtas of the Atharva Veda. Vol 1, Parishishtas 1-52 Leupzing (1909).

''मैंने यह सब अपने मित्र डा. वासुदेवशरण अग्रवाल को दिखाया। उन्होंने उसे देखकर कहा कि उक्त पुस्तक में भी कहीं किसी गणितीय विषय का उल्लेख नहीं है। अतः मुझे शंकराचार्यजी के दिए हुए सूत्रों का कहीं पता नहीं चला..

हम उक्त सूत्रों का वास्तविक अभिदेश जानने के लिए बहुत उत्सुक हैं। किन्तु जब तक यथार्थ अभिदेश न मिल जाए, तब तक हम इतनी अप्रमाणित बात अपनी पुस्तक में नहीं दे सकते।''[08]

डा. ब्रज मोहन को इन सूत्रों के स्रोत वेदों में नहीं मिले, आज तक किसी को भी नहीं मिले, मगर उन्होंने अंततः पता लगा ही लिया कि स्वामी शंकराचार्य ने अपनी किस मानसिक परेशानी के कारण 'वैदिक गणित' का यह गोरखधंधा खड़ा किया।[09]

स्वामी जी ने अपने जीवन के कई दशक 'वैदिक गणित' के प्रचार में खर्च किए। जगह-जगह भाषण दिए, गणनाशक्ति के प्रदर्शन किए। अपनी पुस्तक की पांडुलिपि प्रकाशनार्थ अमरीका साथ ले गए, मगर वह वहाँ न छपकर उनके देहावसान के पाँच साल बाद भारत में ही छपी।[10] आरम्भ में कई साल तक इस पुस्तक को किसी ने भी कोई महत्व नहीं दिया।

जो बात एक धर्माचार्य के कई दशकों के प्रभावशाली प्रचार से संभव नहीं हुई, उसे अब राजनीतिक ताकत से अबोध बच्चों की शिक्षा पर थोपा जा रहा है। बड़े-जोर-शोर से कहा जा रहा है कि स्वामीजी ने गणित के जो सूत्र वेदों में खोजे हैं और इनकी जैसी व्याख्याएँ, उन्होंने अपनी पुस्तक में प्रस्तुत की हैं उनका गणित की आधुनिक शिक्षा में समावेश होना चाहिए। अप्रैल 15, 1992 को राज्य विज्ञान शिक्षा संस्थान, इलाहाबाद, द्वारा आयोजित 'वैदिक गणित' विषयक कार्यशाला के अवसर पर उत्तर प्रदेश के तत्कालीन संघी-भाजपाई शिक्षामंत्री का 'उद्बोधन' था : ''मुझे गर्व है कि गणित के क्षेत्र में वैदिक कालीन भारतीय योगदान आज विश्‍व मानचित्र पर अत्याधुनिक है। वास्तव में वैदिक गणित मूल रूप से विधि सम्मत है और प्रचलित गणित की अपेक्षा श्रेष्ठ और सर्वमान्य है। यह व्यक्त करने में मुझे हर्ष और गर्व की अनुभूति हो रही है कि भारत के लिए जो अतिप्राचीन है, वही विश्व के लिए अत्याधुनिक है। छात्रों को भारत के गौरवशाली अतीत तथा उस समय की गणित से अवगत कराने के लिए आगामी शिक्षण सत्र से 'वैदिक गणित' का शिक्षण प्रारम्भ करने का निर्णय लिया गया है।''

भारत का अतिप्राचीन गणित-ज्ञान वस्तुतः कैसा था, यह जानने के पहले स्वामीजी द्वारा 'खोजे' गए 'वैदिक गणित' पर एक नजरर डालना उपयोगी होगा। सोलह सूत्रों और कुछ उपसूत्रों का उपयोग करके स्वामीजी ने अंकगणित तथा बीजगणित के गणन, भाग आदि परिकर्मो के लिए और गुणनखंड, वर्गमूल, घनमूल, महत्तम, समापवर्त्तक, वर्ग-समीकरण आदि से संबंधित सवालों के हल के लिए कतिपय युक्तियाँ (trick) सुझाई है। जैसे, निखिलं नवतक्षरमं दशतः (सबको 9 से, अंतिम को 10 से) का और कुछ अन्य सूत्रों का उपयोग करके गुणन के सवालों को हल करने की कुछ युक्तियाँ सुझाई गई है। [11] इसी प्रकार, बीजगणित के समीकरणों और रेखागणित के कुछ प्रमेयों के लिए भी युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

इस समूचे प्रयास के बारे में महत्व की बात यह है कि स्वामीजी ने जितने और जिस तरह के गणित के लिए युक्तियाँ सुझाई हैं, वह प्रारम्भिक गणित है, और भारतीय ही नहीं, चीनी, यूनानी, इस्लामी आदि गणितज्ञों को बहुत पहले से ज्ञात रहा है। स्वामीजी के सूत्र वैदिक तो हैं ही नहीं, ये उनकी अपनी खोज भी नहीं हैं। उन सूत्रों के अनेक शब्द उन्होंने प्राचीन भारतीय गणितज्ञों के ग्रंथों से उठाए हैं।

प्रश्न है : स्वामीजी ने उतने ही गणित के लिए युक्तियाँ क्या सुझाई जो कई देशों में काफी पहले से ज्ञात रहा है। आज गणित एक बहुत व्यापक विषय बन गया है। समुच्चय सिद्धांत (Theory of Sets) पर आधारित नया अंकगणित एकदम भिन्न है, और आज बुनियादी महत्व का है। पिछले करीब डेढ़ सौ वर्षों में विभिन्न प्रकार के 200 से भी अधिक आधुनिक बीजगणित खोजे गए हैं। ज्यामितियाँ भी कई प्रकार की हैं। विश्व की भौतिक व्यवस्था को समझने के लिए अ-वृक्लिडीय ज्यामितियों का अध्ययन अब अपरिहार्य है।

यदि वेदों में ही सारा गणित निहित हैं तो आधुनिक गणित के ये तमाम विषय भी क्यों नहीं 'वैदिक गणित' से फलित होते - क्यों नहीं थ्योरी आफ सेट्स, थ्योरी आफ

ग्रुप्स, टापोलॉजी, प्राविकता सिद्धान्त आदि आधुनिक गणित के दर्जनों नए विषय 'वैदिक गणित' से खोजकर निकाले गए।

श्रीनिवास रामानुजन् (1887-1920 ई.) ने सैकड़ों नए सूत्र और प्रमेय खोज निकाले– अपनी अपूर्व अंतःप्रज्ञा से, न कि वैदिक सूत्रों की सहायता से। वैश्लेषिक संख्या-सिद्धान्त के क्षेत्र में रामानुजन् ने जो कार्य किया वह आधुनिक गणित के इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है।

स्वामी जी या उनके किसी शिष्य ने 'वैदिक गणित' के आधार पर आज तक एक भी नया सूत्र या नया प्रमेय क्यों नहीं खोजा। जिस गणित के लिए स्वामीजी ने 'नई युक्तियाँ' पेश की हैं वह सारा का सारा पहले से ही ज्ञात था–आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य आदि हमारे प्राचीन गणितज्ञों को, और विदेशी गणितज्ञों को भी।

गणित के सैकड़ों सवाल आज भी अनुत्तरित हैं। महान जर्मन गणितज्ञ डेविड हिल्वर्ट (1862-1943 ई.) ने पेरिस में गणित की द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में बीसवीं सदी के गणितज्ञों द्वारा हल किए जाने के कारण गणित के 23 महत्वपूर्ण सवाल प्रस्तुत किये थे। उनमें से सवाल पिछली एक सदी में हल किए जा चुके हैं, मगर कुछ आज भी अनुतरित हैं। उनमें से एक भी सवाल का– मिसाल के लिए, फर्मा के 'अंतिम प्रमेय' का ही-हल वैदिक सूत्रों के आधार पर क्यों नहीं प्रस्तुत कर दिया गया?

जब गणित में किसी नए व्यापक सिद्धान्त की स्थापना होती है, जैसे समूह सिद्धान्त या समुच्चय सिद्धान्त की, तो वह गणित के अन्य कई लोगों की समस्याओं के लिए भी हल प्रस्तुत कर देता है। स्वामीजी के 'वैदिक गणित' में ऐसा नया कुछ भी नहीं है। उनकी सारी युक्तियाँ भी नई नहीं है। ऐसी बहुत-सी युक्तियों से गणितज्ञ बहुत पहले से परिचित रहे हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत के गणितज्ञों को गुणन की नौ विधियाँ मालूम थीं।

स्वामीजी 'वैदिक गणित' को परिपूर्ण बताते हैं, परन्तु प्राचीन भारत के गणित में ऐसी परिपूर्णता कहीं देखने को नहीं मिलती। वेदों में 'शून्य' शब्द नहीं। शून्ययुक्त दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति की खोज भारत में काफी बाद में, ईसा की पहली-दूसरी सदी में हुई। सम्राट अशोक से लेकर अंतिम गुप्त सम्राट तक के सारे अभिलेखों में पुरानी अंक-पद्धति की ही संख्याएँ देखने को मिलती हैं, उनमें शून्य कहीं नहीं है इतने महान आविष्कार की यदि वैदिक समाज को जानकारी थी, तो 594 ई. के एक दानपत्र में ही पहली बार उसका प्रयोग क्यों देखने को मिलता है।

स्वामी शंकराचार्य ने प्राचीन भारतीय गणितज्ञों की उपलब्धियों को किस तरह 'वैदिक गणित' करार दिया है, इसका एक उदाहरण लीजिए। जैसा कि हमने ऊपर बताया है, वैदिक समाज को शून्ययुक्त दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति की जानकारी नहीं थी। बाद में, ईसा की आरम्भिक सदियों में, भारत में ही इसकी खोज होने पर भी भारतीय गणितज्ञ-ज्योतिषी विभिन्न शब्दांक और अक्षरांक पद्धतियों का प्रयोग करते रहे, क्योंकि उनके गणित-ज्योतिष के ग्रन्थ पद्य में थे।

इस तरह आर्यभट्ट (499 ई.) ने एक नई वर्णांक पद्धति को जन्म दिया, मगर जटिल होने के कारण उसका प्रयोग उनकी पुस्तक आर्यभटीय तक ही सीमित रहा। दूसरे भारतीय गणितज्ञों ने दूसरी अक्षरांक-पद्धतियाँ चलाई, जिन्हें कटपकादि कहा जाता है। "इस पद्धति में संख्याओं को व्यंजित करने के लिए 1 से 9 अंकों और शून्य के अर्थ में संस्कृत वर्णमाला के व्यंजनों का प्रयोग किया गया है। इस पद्धति की अक्षर-संक्याएँ छोटी होती हैं और उच्चारण में प्रायः मधुर होती है। चतुर लेखक तो ऐसी अक्षर-संख्याएं बनाने में सफल हुए हैं कि जिनके प्रयोग से अर्थ का तारतम्य भी बना रहता है।"[12]

इस पद्धति में प्रथम अंक (1) के लिए क, ट, प, य का प्रयोग होता है, इसलिए इस कटपयादि कहते हैं। इस पद्धति के दो उदाहरण देखिए : रा–ध–वा–य = 142 और त-त्वा-लो-के = 1246 (अक्षरांकों व शब्दांकों को लिखने का नियम था : अंकानां वामतो गतिः)

अब देखिए स्वामी शंकराचार्य की करामात : वे

अपने 'वैदिक गणित' के 25वें प्रकरण में इस कटपयादि पद्धति की जानकारी देते हैं, मगर इसे *The Vedic Numerical Code* (वैदिक संख्यात्मक कूट) का नाम देते हैं। मजे की बात यह है कि पुस्तक के अंत में वे इस कटपयादि पद्धति का उपयोग करके π (वृत्त की परिधि और व्यास का अनुपात) का 'वैदिक मान' 32 दशमलव स्थानों तक प्रस्तुत कर देते हैं।

गणित की प्रगति का एक मोटा-सा मानदंड है, वृत्त की परिधि और व्यास के अनुपात (π) का मान। प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं में 'पाई' (π) का मान 3 ही माना गया था। बौधायन शुल्वसूत्र (लगभग 400 ई. पू.) में भी इस अनुपात का मान 3 ही दिया गया है। बाद के गणित-ज्योतिष के ग्रन्थों में 'पाई' का मान 10 (10 का वर्गमूल) देखने को मिलता है। प्रथम आर्यभट (499 ई.) ने 'पाई' का मान 3.1416 दिया, जो चार दशमलव स्थानों तक शुद्ध है। मगर श्रुति-परम्परा में गहरी आस्था रखने राले ब्रह्मगुप्त (628 ई.) पुराने स्थूल मानों (3 और 10) का ही इस्तेमाल करते रहे।

केरल के गणितज्ञों ने, 17वीं सदी में, श्रेणियों का उपयोग करके 'पाई' का मान 17 दशमलव स्थानों तक प्राप्त कर लिया था, मगर अब उसमें कोई नवीनता नहीं थी। तब तक यूरोप में π का मान 35 दशमलव स्थानों तक प्राप्त किया जा चुका था।

फिर भी स्वामी जी ने प्रमुखतः पाश्चात्यों को प्रभावित करने के लिए π की 32 दशमलव स्थानों तक गणना की और उन 32 अंकों के अनुरूप, कटपयादि पद्धति का उपयोग करके, 32 अक्षरों के अनुष्टुप छंद के निम्नलिखित श्लोक की रचना की –

π = गोपीभाग्यमधुव्रात–शृङ्गिशोदधिसन्धिग।।
10 खलजीवितखाताव गलहालारसंधर।।
= .3 1 1 1 5 9 2 6 5 3 5 8 9 7 9 3
2 3 8 1 6 2 6 1 3 3 8 3 2 7 9 2 –}

इस श्लोक के इस संख्यामान के अलावा, अन्य एक-दो अर्थ भी निकल आते हों, तो उसमें कौतुकास्पक कुछ नहीं है। हमने देखा है कि कटपयादि पद्धति में सिर्फ व्यंजनाक्षरों का उपयोग होता है, और इनसे दोहरे अर्थ वाले काफी आकर्षक शब्द बनाए जा सकते है। (हमारे देश में Numerology यानी 'अंकफल-विद्या' का अंधविश्वास फैलाने में भी इस कटपयादि पद्धति का उपयोग हुआ है, हो रहा है)। स्वामीजी ने भी ठीक यही किया, किन्तु उनके इस चातुर्यपूर्ण प्रयास से, न तो विद्यार्थियों को कोई लाभ है, न ही गणित को।

रामानुजन् ने भी π के मान के लिए कई सूत्र खोजे हैं। उनके कुछ सूत्रों से π का 20 लाख से भी अधिक दशमलव स्थानों तक शुद्ध मान प्राप्त किया जा सकता है। सन् 1989 में एक सुपर कम्प्यूटर की सहायता से π का शुद्ध मान 1, 01, 11, 16, 611 दशमलव स्थानों तक हासिल किया गया। *'वैदिक गणित'* के पुरस्कर्ता अब इसके लिए कौन-सा श्लोक या मंत्र पढ़ेंगे, और किस छंद में?

स्वामी भारती कृष्णतीर्थ (जन्म : 1884 ई.) और श्रीनिवास रामानुजन् (1887 - 1920 ई.) लगभग समकालीन थे, मगर दोनों के जीवन और कृतित्व में कितना बड़ा अंतर है जब रामानुजन् गणित की अपनी नोटबुकें बगल में दबाकर नौकरी की तलाश में दर-दर भटक रहे थे, तब वेंकटरामन सरस्वती (स्वामी भारती कृष्णतीर्थ) कालेज के प्राध्यापक थे। जब रामानुजन् प्रथम महायुद्ध के दौरान इंग्लैण्ड में डा. हार्डी के सान्निध्य में पहुँचकर विशुद्ध गणित के विकास में महान योगदान कर रहे थे, तब वेंकटरामन सरस्वती शृंगेरी के समीप के एक वन में तप करके वेदों में गणित के सूत्रों की तलाश कर रहे थे। और जुलाई 1919 में जब वे शंकराचार्य नियुक्त हुए, तब रामानुजन् भारत लौट आए थे, तपेदिक की भयंकर व्याधि से पीड़ित थे, फिर भी 'मॉक-थीटा फंक्शन्स (mock-theta functions) से संबंधित गवेषणा-कार्य में जुटे रहे। अमरीकी गणितज्ञ रिचार्ड आस्की लिखते है : *''मृत्युशय्या पर लेटे-लेटे सालभर में किया गया रामानुजन् का यह कार्य किसी बहुत बड़े गणितज्ञ के जीवनभर के कार्य के बराबर है।''* रामानुजन् के नोटबुकों के परिणामों पर आज भी देश-विदेश

के दर्जनों गणितज्ञ खोजबीन कर रहे हैं, और आगे भी लंबे समय तक करते रहेंगे।

मगर स्वामी शंकराचार्य के *'वैदिक गणित'* में ऐसा मौलिक या नया कुछ भी नहीं है।

मेरा बेटा दसवीं में पढ़ता है। मैंने उसे वर्ग-समीकरण क्ष² – 5क्ष + 6 = 0 का हल करने को दिया। वर्ग-समीकरण के (धन और ऋण) दो मूल प्राप्त करने के लिए एक सूत्र भी हैं, जिसकी भारतीय गणितज्ञों को काफी पहले से जानकारी रही है, हालांकि ऋण मूल को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। चूंकि उपर्युक्त समीकरण के दो गुणनखंड सहज स्पष्ट हैं, इसलिए मेरे बेटे ने जवानी ही उत्तर दे दिया क्ष = 2 और क्ष = 3।

मगर स्वामीजी ऐसे वर्ग-समीकरणों को हल करने के लिए चलित कलित वर्गो विवेचक I : d सूत्र का उपयोग करते हैं और जोर-जबरी से उत्तर प्राप्त करते हैं। इसमें वे कलन-गणित (Calculus) के एक तरीके का इस्तेमाल करते हैं और दावा करते हैं कि वेदों में कलन-गणित के सूत्र शुरू में ही मिल जाते हैं।

सवाल उठता है–यदि वैदिक ऋषियों ने कलन-गणित की खोज कर ली थी, तो वेदांग-ज्योतिष (लगभग 500 ई.पू.) और शुल्वसूत्रों (लगभग 400 ई.पू.) में उसका यत्किंचित् भी उपयोग क्यों नहीं हुआ? Calculus के शास्त्रीय अर्थ में कलन शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वाराणसी संस्कृत कालेज (अब विश्वविद्यालय) के पं. सुधाकर द्विवेदी (1860-1922 ई.) ने किया और समाकलन (Integration) के लिए चलराशि कलन शब्द वाराणसी संस्कृत कालेज के ही पं. बापूदेव शास्त्री (1821-90 ई.) ने चलाया था।

आज गणित का भवन तार्किक चिंतन की दृढ़ भित्तियों पर खड़ा है और जटिल से जटिल सवालों को तेजी से हल करने के लिए अब हमारे पास कम्प्यूटर/सुपरकम्प्यूटर भी हैं। आज के स्कूलों के विद्यार्थियों को समूह सिद्धान्त, समुच्चय सिद्धान्त आदि आधुनिक गणित के विषय पढ़ाना आवश्यक हो गया है। ऐसी स्थिति में *'वैदिक गणित'* यानी पुराने प्रारम्भिक गणित को हर करने के लिए गढ़ी गई युक्तियों को विद्यार्थियों पर लादने का अर्थ होगा- उन्हें मूढ़मति बनाना, उनकी सोचने की शक्ति पर कुठाराघात करना।

मामला गणित जैसे बुनियादी महत्व के विषय का है। फैसला बच्चों के माता-पिता/अभिभावकों को भी करना होगा, केवल सत्तालोलुप राजनेताओं और रूढ़िवादी धर्माचार्यों को ही नहीं। मगर देश के अधिकांश गणितज्ञ क्यों चुप है।

स्वामीजी : एक विलक्षण व्यक्तित्व

अगस्त 1921 का एक दिन। स्थान : करांची का भव्य खलिकदीन हाल। फाटक पर घुड़सवार पुलिस तैनात। पास के बिना भीतर प्रवेश नहीं। चहुंओर बारूद की गंध। सारा शहर एक बड़े फौजी कैंप की तरह लग रहा था।

हिंदुस्तान के कुछ देशभक्तत नेताओं ने ब्रिटिश राज को खुलेआम चुनौती दी थी। 9 जुलाई, 1921 को करांची में *'आल इंडिया खिलाफत कांफ्रेंस'* आयोजित करके अंकारा (तुर्की) की सरकार के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई थी, खुदा-परस्तों से आवाह्न किया गया था कि वे ब्रिटिश फौज में खिदमत न करे, और वह चुनौती भी दी गई थी कि अगर खिलाफत की पुनः स्थापना नहीं की गई, तो भारत के मुसलमान सविनय ना-फरमानी का आंदोलन शुरू कर देंगे।

ब्रिटिश शासन की नजर में मामला संगीन जुर्म का था, राजद्रोह का था। खिलाफत कांफ्रेंस में शरीक हुए नेताओं को गिरफ्तार करके करांची में उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाने की जंगी व्यवस्था की गई। वे नेता थे–अली बंधु (मुहम्मद और शौकत), मौलवी हुसैन अहदम, डा. सैफुद्दीन किचलू, पीर गुलाम, मौलरी निसार अहमद और स्वामी भारती कृष्णतीर्थ (उस समय शारदा पीठ के शंकराचार्य)।

मुख्य न्यायाधीश की कुर्सी पर आसीन थे मिस्टर कैनेडी। अभियुक्तों ने किसी भी तरह की कानूनी मदद लेने इनकार कर दिया, और स्वयं ही अजीबोगरीब ढंग से पेशी देने लगे। पुरा मुकदमा एक तमाशा बनकर रह गया।

अदालत की कार्रवाई शुरू हुई, तो एक अभियुक्त मौलवी ने कुरआन का सुराओं का सस्वर गायन शुरू कर दिया। बीच-बीच में दूसरे मौलवी साहब भी कुरआन की किसी आयत को मधुर स्वर में सुना देते थे। शौकत अली ने न्यायाधीश के सवालों के मुंहतोड़ जवाब दिए। मुहम्मद अली की बारी आई, तो उन्होंने अपने समर्थन में पैगम्बर के वचन सुनाने शुरू कर दिए। न्यायाधीश के बार-बार कहने पर भी उन्होंने बैठने से इन्कार कर दिया और पैगम्बर की गवाही देते रहे। तब अचानक ही न्यायाधीश के मुंह से शब्द निकले– Never mind the prophet (पैगम्बर को बीच में मत घसीटों)। फिर क्या था, पूरी अदालत में जोर का हंगामा शुरू हो गया। मुहम्मद अली न्यायाधीश पर बरस पड़े। अंत में बेचारे कैनेडी को माफी मांगनी पड़ी।

डा. सैफुद्दीन किचलू की बारी आई। अंग्रेजी अच्छी जानते थे, मगर उन्होंने हर सवाल का उर्दू में एक ही जवाब दिया : *''मैं कोई जवाब नहीं दूँगा।''*

शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णातीर्थ की बारी आने पर उनसे पहला सवाल किया गया : ''क्या आप खिलाफत कांफ्रेंस में मौजूद थे?''

जब वे खड़े नहीं हुए, जो मजिस्ट्रेट ने उन्हें खड़े होकर बोलने को कहा। स्वामीजी बैठे-बैठे ही बोले : ''मैं सन्यासी हूँ। मेरे धर्मग्रन्थ और संन्यासी के नियम मुझे, सिवाय मेरे धर्मगुरु के, अन्य किसी व्यक्ति के सामने खड़े होने की अनुमति नहीं देते। क्या ऐसा कोई कानून है जिसके तहत मुझे खड़ा रहने के लिए मजबूर किया जा सकता है?''

मजिस्ट्रेट : ''यह मेरा आदेश है।''

मुहम्मद अली गरज पड़े : *''मिस्टर मजिस्ट्रेट, क्या आप इसे उचित समझते है कि एक संन्यासी को उसके धार्मिक नियम तोड़ने के लिए मजबूर किया जाए?''*

मजिस्ट्रेट ने मुहम्मद अली को बैठ जाने का आदेश दिया, जो उन्होंने नहीं माना।

अजीब स्थिति थी : मुहम्मद अली बैठ नहीं रहे थे, स्वामी जी खड़े नहीं हो रहे थे। मुकदमे के पूरे दौर में ऐसे ही तमाशे जारी रहे। आरोपों को साबित कर पाना कठिन हो गया। फिर भी मुस्लिम नेताओं को तीन-तीन साल की सजा हुई। स्वामीजी को दोषमुक्त मानकर रिहा कर गिया गया। 'फुट डालो और राज करो' की कुठनीति थी यह।

वैदिक गणित पुस्तक में लेखक (स्वामीजी) का 'जीवन परिचय' भी दिया गया है, मगर उसमें ऐतिहासिक महत्व की उपर्युक्त घटना का एक वाक्य में भी उल्लेख नहीं हुआ है। इस बात का भी कहीं जिक्र नहीं है कि 1923 ई. में मुंगेर में दिए गए उनके राजनीतिक भाषण के लिए स्वामीजी को एक साल की सजा सुनाकर बक्सर और हजारीबाग की जेलों में रखा गया था, जहाँ साधु रामउदार बाबा (बाद में महापंडित राहुल सांकृत्यायन) उनके जेल-साथी थे।

राहुलजी (1893-1963 ई.) ने मेरी जीवन-यात्रा (भाग-1, पृ. 372-73 और 385-87) में स्वामी शंकराचार्य के बारे में काफी दिलचस्प जानकारी दी है। जेल में राहुलजी ने स्वामीजी से गणित पढ़ा था। उस संदर्भ में यहाँ मुझे राहुलजी के चंद वाक्य उद्‌धृत करने हैं : ''वे (शंकराचार्य) बड़े प्रेम से पढ़ाते, उनके पढ़ाने का ढंग बड़ा आकर्षक था। बीजगणित के सूत्रों को कंठस्थ करवाने की जगह उन्हें वह सवाल सिद्ध करवाते। बीजगणित में अंकगणित अंर्तहित है, इसे उन्होंने शुरू के ही पाठों में बतला दिया। पढ़ाते वक्त पश्चिम के कितने ही प्रकांड गणितज्ञों, दार्शनिकों की कथाएँ सुनाते।''[13]

इस उद्धरण से आप क्या निष्कर्ष निकालते है? यही न कि शंकराचार्य ने 1923-24 ई. में उच्च बीजगणित, सरल त्रिकोणीमिति, गोलीय त्रिकोणमिति और निर्देशांक ज्यामिति जैसे विषय राहुलजी को, वैदिक सूत्रों की सहायता से नहीं, बल्कि इंग्लैण्ड में छपी गणित की अंग्रेजी पुस्तकों की सहायता से पढ़ाए थे, और उस समय वे पश्चिम के प्रकांड गणितज्ञों के योगदान की प्रशंसा भी करते थे। राहुल-संग्रहालय (दार्जिलिंग में) सबूत आज भी उपलब्ध हैं– गणित की वे अंग्रेजी पुस्तकें, जिन्हें शंकराचार्य, हजारीबाग जेल में राहुलजी को पढ़ाते थे।

स्वामीजी तमिलभाषी थे और 1884 ई. में एक सुशिक्षित एवं सम्पन्न परिवार में उनका जन्म हुआ था।

उन्होंने कालेज की अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी और संस्कृत का गहन अध्ययन किया था। राहुलजी ने भी लिखा है : *''स्वामी शंकराचार्य जहाँ संस्कृत भाषा, साहित्य, दर्शन के प्रौढ़ विद्वान थे, वहाँ अंग्रेजी और गणित के भी चतुर पंडित थे।''*

स्वामीजी ने कुछ साल तक अध्यापन-कार्य भी किया। सन् 1919 में उन्होंने संन्यास ग्रहण किया, जब पूर्वाश्रम का उनका वेंकटरामन नाम स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ में बदल गया। दो साल बाद वे शारदा पीठ के शंकराचार्य नियुक्त हुए और फिर 1925 ई. में गोवर्धन पीठ, पुरी के शंकराचार्य।

'वैदिक गणित' के सूत्र और उपसूत्र

सूत्र	अर्थ
1. एकाधिकेन पूर्वेण	पहले से एक अधिक
2. निखिलं नवतश्चरमं दशतः	सबको 9 से, अंतिम को 10 से
3. ऊर्ध्वतिर्यरभ्याम्	ऊपर-नीचे और तिरछा
4. परावर्त्य योजयेत्	विलोम (उलटा) करके प्रयोग करो
5. शून्यं साम्यसमुच्चये	समुच्चयों का साम्य होने पर शून्य होता है
6. (आनुरूप्ये) शून्यमन्यत्	अनुरूप होने पर दूसरा शून्य होता है
7. संकलनव्यवकलनाभ्याम्	जोड़ने और घटाने से
8. पुरणापूरणाभ्याम्	पूर्ण और अपूर्ण से
9. चलनकलनाभ्याम्	चलन-कलन से
10. यावदूनम्	जितना कम हो
11. व्यष्टिसमष्टिः	व्यष्टि और समष्टि (एक व सब)
12. शेषाण्वङ्केन चरमेण	अवशेष को अंतिम से
13. सोपान्त्वद्वयमन्त्वम्	अंत के साथ उपति (अंत के पास का) का दुगुना जोड़ना
14. एकन्यूनेन पूर्वेण	पहले से एक कम
15. गणितसमुच्चयः	गणितों का समुच्चय
16. गुणकसमुच्चयः	गुणकों का समुच्चय

उपसूत्र	अर्थ
1. आनुरूपेण	अनुपात में
2. शिष्यते शेषसज्ञः	जो बचता है वह शेष कहलाता है
3. आद्यमाद्येनान्त्वमन्त्वेन	आदि को आदि से और अंत को अंत से
4. केवलेः सप्तकं गुण्यात्	1/7 को केवल (=143)* के गुणनफल से
5. वष्टाम्	आश्लेषण (आलिंगन, घेराव)
6. यावदूनं तावदूनम्	जितना कम हो उतना ही कम
7. यूवदीनं तावदूनीकृत्य	जितना कम हो उतना ही कम वर्ग च योजयेत् करके वर्ग प्रयोग करो
8. अन्त्योर्दशकेऽपि	अंतिम अंकों का योग 10 हो
9. अन्त्ययोरेव	अंतिम को ही
10. समुच्चयगुणितः	समुच्चय का गुणित
11. लोपनस्थापनाभ्याम्	लोपन और स्थापन से
12. विलोकनम्	देखकर ही

13. गुणितसमुच्चयः समुच्चयगणितः गुणनफल का समुच्चय, समुच्चय के गुणनफल के तुल्य होता है।

प्राचीन भारत में प्रचलित कटपयादि अक्षरांक-

पद्धति के अनुसार। कटपयादि अक्षरांक -पद्धति की चर्चा पीछे की जा चुकी है।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. भंड, धूर्त और निशाचर– ये ही तीन वेदों के रचयिता थे– बार्हस्पत्य सूत्र।
   बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति (लगभग 600 ई.) ने भी कहा है
   'वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
   संतापारंभः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिङ्गानि जाड्ये।।'
   – प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्ति
   –वेद को प्रमाण-ग्रंथ, ईश्वर को सृष्टिकर्ता, स्नान करने में धर्म, जातपात का अभिमान और पाप दूर करने के लिए शरीर को कष्ट देना- ये पाँच बातें मानना अकल-मारे लोगों की मूर्खता की निशानियां हैं।
2. **अथर्ववेद** (6.77) में पृथ्वी को स्थिर बताया गया है : पृथिवी ..... प्रतिष्ठाम्।
   परन्तु आर्यभट ने अपने ग्रंथ आर्यभटीय (गोलपाद, 10) में स्पष्ट लिखा है कि पृथ्वी अपने अक्ष पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है, इसीलिए तारागण हमें पूर्व से पश्चिम की ओर जाते दिखाई देते हैं।
3. **सिद्धान्त-शिरोमणि,** गोलाध्याय, प्रश्नाध्याय, 61.
4. *आसीन्महेश्वर इति प्रतिथः पृथिव्यामाचार्यवर्यपदवीं विदुषां प्रपन्नः।*
   लकवाऽवोदकलिका तत एवं चक्रे तज्जेन बीजगणितं लघु भास्करेण।।
   –बीजगणित, उपसंसार 1
5. **Vedic Mathematics** OR Sixteen Simple Mathematical Formula from, the Vedas (For One-line answers to all Mathematical Problems), By Jagadaguru Swami Bharti Krishna Tirthaji Maharaja. Shankaracharya of Goverdhan Matha. Puru General Editor : Dr. V. S. Agrawala ; publisher ; Motilal Banarasidass. First Edition, Varanasi, 1965, Reprinted : Delhi 1970 ; यह पुस्तक अंग्रेजी में अनेक बार मुद्रित हुई है और इसका हिन्दी तथा दूसरी कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।
6. ब्रज मोहन, **गणित का इतिहास,** हिन्दी समिति, लखनऊ, 1965. यह पुस्तक उसी साल छपी, जिस साल स्वामीजी की उपर्युक्त पुस्तक वाराणसी से छपी।
7. वहीं, 'प्राक्कथन', पृ. 8.
8. वही, पृ. 9-10
9. उपर्युक्त ग्रन्थ ('प्राक्कथन, पृ. 9-10) में डा. ब्रज मोहन लिखते हैं : ''पं. गिरिधर शर्मा ने कृपा करके यह तथ्य मुझे अवश्य दिए–''जब शंकराचार्यजी स्कूल में पढ़ते थे, उनके एक अध्यापक वैदिक ऋचाओं की खिल्ली उड़ाया करते थे और कहा करते थे कि कुछ लोगों के मतानुसार वेदों में समस्त ज्ञान भरा पड़ा है। भला ऐसी अनर्गल बातों में भी कोई तथ्य हो सकता है। शंकराचार्यजी को ये बाते बहुत बुरी लगती थी। उन्होंने उन्हीं दिनों यह निश्चय किया कि वह वैदिक सूत्रों का गुत्थी को खोलकर रहेंगे। इस हेतु उन्होंने आठ वर्ष एकांतवास किया और वैदिक सूत्रों की कूंजी प्राप्त करके ही छोड़ी। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी गवेषणा का फल पुस्तक में तैयार किया। पुस्तक की पांडुलिपि अमेरिका गई हुई है, जहाँ उनके छपने की आशा है।'' पं. गिरिधर शर्मा (चतुर्वेदी) का यह ग्रन्थ है : **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति,** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1960
10. स्वामीजी विदेश-यात्रा करने वाले पहले शंकराचार्य थे। वे 1958 ई. में अमरीका की यात्रा पर गए और

इंग्लैण्ड होते हुए स्वदेश लौटे। जब स्वामीजी का अमरीका जाने का कार्यक्रम बना, तब 1957 ई. में उन्होंने अपने **Vedic Mathematics** ग्रंथ की रचना की। पुस्तक की पांडुलिपि वे अपने साथ लेते गये लेकिन किन्हीं कारणों से पुस्तक वहां प्रकाशित नहीं हो पाई। स्वामीजी के निधन (1960 ई.) के बाद वह पांडुलिपि अमरीका से वापस मंगाई गई और अंततः 1965 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में प्रकाशित हुई।

11. स्वामीजी के अंग्रेजी ग्रंथ (पृ. 40) से गुणन का एक सरल उदाहरण लीजिए :

    12 × 13

    स्वामीजी ने इसका हल इस प्रकार सुझाया है :

    (1) गुण्य और गुणक को ऐसा रखिए जैसा कि दाई ओर दिया गाय है। फिर गुण्य के बाई ओर के अंक (1) को गुणक के बाई ओर के अंक (1) से ऊर्ध्वाधर में गुणा कीजिए और गुणनफल (1) को उत्तर में सबसे बाई ओर रखिए।

    1 2
    1 3
    1 : 3 + 2 : 6 = 156

    (2) फिर 1 तथा 3 और 1 तथा 2 को तिरछे (तिर्यक्) में गुणा कीजिए। दोनों को जोड़ने पर प्राप्त होने वाली संख्या (5) को उत्तर के मध्य में रखिए।

    (3) फिर 2 तथा 3 को उर्ध्वाधर में गुणा करके उनके गुणनफल (6) को उत्तर में सबसे दाईं और रखिए।

    चूँकि गुणन के इस तरीके में ऊर्ध्व और **तिर्यक्** क्रमों का उपयोग हुआ है, इसलिए स्वामीजी ने इसे उर्ध्वतिर्यकभ्याम् नाम दिया। यह *'वैदिक गणित'* के 16 सूत्रों में से एक है।

12. गुण्य और गुणक बड़ी संख्याओं वाले हों, तीन या चार अंकों की संख्याओं वाले हो, तब भी थोड़ी भिन्नता के साथ सीधे (ऊर्ध्व) और तिरछे (तिर्यक्) में गुणा करते जाने का यही तरीका लागू होता है।

    वस्तुतः गुणन की इस विधि में मौलिक कुछ भी नहीं है। वह गुणन की बीजगणितीय विधि से फलित होती है। मान लीजिए कि आपको $(ax + b)$ को $(cx + d)$ से गुणा करना है। गुणनफल होगा : $(ac) x^2$ - $(ad - bc) x - bd$ 1 वहां पहला पद ac (x^2 का गुणांक) a व c को ऊर्ध्वाधर में गुणा करने से मिला है, अंतिम पद भी इसी तरह प्राप्त हुआ है। बीच का पद ad - bc (x का गुणांक) तिर्यक् गुणा करके दोनों को जोड़ने से मिला है। तात्पर्य यह कि, स्वामीजी ने अंकगणितीय गुणन की जिस विधि को 'वैदिक सूत्र' ऊर्ध्वतिर्यरभ्याम् से फलित बताया है वह वस्तुतः प्रचलित बीजगणितीय विधि है और बीजगणित (उच्च गणित) का उपयोग करने पर अंकगणित (निम्न गणित) के सवाल सरल बनते हैं, वह बात गणित के सभी अध्येता जानते हैं, स्वामीजी भी जानते थे। मगर उसमें भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि स्वामीजी द्वारा प्रस्तुत गुणन का यह विधि नई नहीं है। प्राचीन भारतीय गणितज्ञों को गुणन की सात-आठ विधियाँ

13. मेरी जीवन यात्रा ; पृ. 342

बीसवीं सदी के अंधेरे में

(जर्मन दार्शनिक एडोर्नो पर केंद्रित)

- अच्युतानन्द मिश्र

हिन्दी विभाग,
इन्द्रप्रस्थ कॉलेज ऑफ वूमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

1

बीसवीं सदी में प्रबोधन की अवधारणा को लेकर पुनर्विचार का वातावरण बना। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् तीन बड़ी परिघटनाएँ घटती हैं। रूस में समाजवादी सरकार की स्थापना, जर्मनी में दक्षिणपंथ का पुनरागमन और 1929 की विश्वव्यापी मंदी। प्रकट रूप में भले इनके बीच कोई सहज संबंध न रहा हो, वास्तव में वे एक बड़े परिवर्तन को इंगित कर रही थीं। इनमें द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज मौजूद थे। इन परिघटनाओं ने इतिहास, राजनीति, आर्थिकी आदि पर पुनर्विचार का वातावरण निर्मित किया।

1923 में फ्रैंकफर्ट स्कूल की स्थापना हुई। तीस के दशक के आरंभिक वर्षों में सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों में हो रहे परिवर्तन ने फ्रैंकफर्ट स्कूल के चिंतकों के सामने नये प्रश्न प्रस्तुत किए। उपरोक्त परिघटनाओं की स्पष्ट व्याख्या राजनीतिक एवं आर्थिक परिघटनाओं के तौर पर की जा सकती थी, लेकिन फ्रैंकफर्ट स्कूल के चिंतकों ने इन घटनाओं के अप्रत्यक्ष प्रभाव एवं स्रोत की तलाश आरम्भ की। उन्हें यह महसूस होने लगा कि संस्कृति और समाज की अवधारणा पर पुनर्विचार की जरूरत है। फ्रैंकफर्ट स्कूल के चिंतकों के समक्ष प्रश्न भी था कि उन्नसवीं सदी की विरासत से हम क्या समझे? उन्नसवीं सदी किस रूप में अब भी मौजूद है?

इस प्रश्न को जिन चिंतकों ने बार-बार व्याख्यातित करने का प्रयत्न किया, उनमें एडोर्नो का नाम लिया जा सकता है। एडोर्नो का जन्म 1903 में हुआ। तीस के दशक में वे फ्रैंकफर्ट स्कूल से विचारक और चिंतन के तौर पर जुड़े। हालांकि उससे पहले ही वे होर्खाइमर और वाल्टर बेंजामिन से मिल चुक थे।

1930 में ही होर्खाइमर ने फ्रैंकफर्ट स्कूल की बागडोर संभाली। वे जीवन पर्यंत एडोर्नो के सहयोगी रहे। तीस दशक के मध्य एडोर्नो, होर्खाइमर सहित तमाम चिंतकों को जर्मनी छोड़कर बाहर जाना पड़ा। इस भागदौड़ से तंग

आकर बेंजामिन ने आत्महत्या की। एडोर्नो, बेंजामिन से गहरे जुड़े थे। बेंजामिन के लेखन में उनकी गहरी रुचि का पता बेंजामिन के साथ उनके पत्राचारों को देखने से चलता है। एडोर्नो, बेंजामिन के साथ दोहरे संबंध की भूमिका का निर्वाह करते हैं। एक तरफ वे बेंजामिन के साथ बौद्धिक संवाद स्थापित करते हैं तो दूसरी तरफ निजता का आत्मीय संसार रचते हैं। एडोर्नो के लिए यह दोहरा भाव अलग-अलग नहीं है बल्कि वे एक दूसरे में घुले हुए हैं। एक तरह से कहे तो वहाँ निजता का विस्तृत आत्म है। वे दोनों एक ऐसी मित्रता को रचते हैं, जिसमें आत्म का विस्तार होता है। सहभाव की संवेदना एडोर्नो में बहुत आरम्भ से ही देखी जा सकती है। कांट की प्रसिद्ध पुस्तक *क्रिटिक ऑफ प्योर रीज़न* को वे 14 वर्ष की उम्र में भी अकेले नहीं पढ़ते हैं, अपने मित्र के साथ पढ़ते हैं। एक जगह उन्होंने लिखा है कि उस तरह की पढ़ाई वे जीवनभर फिर नहीं कर सके। एडोर्नो के लेखन का केन्द्रीय पक्ष है निजी एवं आत्मीय अनुभव का दार्शनिक विस्तार। वे लगातार छीजते हुए आत्म को लेकर अपनी व्याख्या रखते हैं। मनुष्य और समाज के संबंधों को वे महज बाहरी संबंधों की तरह नहीं देखते। उन्हें लगता है ये संबंध लगातार हमारे भीतर भी बन रहे हैं। संस्कृति और समाज के प्रश्न को इसलिए वे सिर्फ बाहरी घटक के रूप में देखने का विरोध करते हैं।

प्रबोधन की चेतना एडोर्नो को लगातार उद्वेलित करती है। वे प्रबोधन का विश्लेषण करते हुए इस बात को नहीं भूलते कि दुनिया विकासवाद की ओट में फासीवाद तक पहुँच जाती है। एडोर्नो प्रबोधन के युग से फासीवादी वर्चस्व के मध्य एक जटिल संबंध की व्याख्या करते हैं और इस क्रम में विकासवाद की नई सीमाओं की तरफ ध्यान आकर्षित करते हैं। वे हीगेल की द्वंद्वात्मकता से प्रबोधन को व्याख्यायित करते हैं। होर्खाइमर के साथ मिलकर लिखी उनकी पुस्तक प्रबोधन की द्वंद्वात्मकता (Dilectics of Enlightenment) बीसवीं सदी तक की यात्रा की नई व्याख्या प्रस्तुत करती है।

कांट का मानना था कि प्रबोधन मनुष्य को मुक्त करता है और उसे आत्मघाती अपरिपक्वता से उबारता है। एडोर्नो, होर्खाइमर कांट के इस दृष्टिकोण की आलोचना प्रस्तुत करते हैं। वे यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या सचमुच प्रबोधन मानव मस्तिष्क को मिथकीय चेतना से उबारता है? क्या वह उसे आदिम मानसिक संरचना से निकालकर एक आधुनिक बोध तक ले जाता है? क्या प्रबोधन वास्तव में मिथक का विलोम बनता है? एडोर्नो, होर्खाइमर कहते हैं, वास्तव में ऐसा नहीं है। बाहरी तौर पर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रबोधन एक वैज्ञानिक अवधारण है, जिसका दिशा ऊर्ध्वाधर है, लेकिन वास्तव में वह द्वंद्वात्मक है।

एडोर्नो, होर्खाइमर बताते हैं कि प्रबोधन मिथकीय चेतना के विरुद्ध नहीं है। वह मिथक के विरुद्ध होकर भी मिथक को पैदा करती है। प्रबोधन की चेतना का खुला अंत उसे मिथक से जोड़ देता है। वह अनभिज्ञता ही उसे मिथकीय बना देती है। वे कहते हैं प्रबोधन का उद्देश्य मनुष्य को भयमुक्त करना था। मनुष्यता प्रबोधन के युग को पार कर चुकी है। हमारा ज्ञानोदय हो चुका है। हम आदिम से आधुनिक की ओर प्रस्थान कर चुके हैं। हम यह मान चुके हैं कि आदिम युग बीत चुता है। लेकिन क्या वाकई ऐसा हुआ है? मनुष्यता के पास पुरानी आशंकाएँ बची हुई हैं। नई आशंकाओं के साथ मिलकर एक नये विभ्रम ने मनुष्य को भय और आतंक के साथ दबोच लिया है। यह नई स्थिति ही प्रबोधन को मिथक तक ले जाती है। इस अर्थ में वह एक द्वंद्व को रचती है।

एडोर्नो, होर्खाइमर किसी अमूर्त चिंतन की बात नहीं करते। अपने समय के दबावों को व्याख्यायित करने के क्रम में, वे यहाँ तक पहुँचते हैं। उनके समस्त चिंतन पर हिटलर और नाज़ीवाद से निर्मित वर्तमान के विश्लेषण तक पहुँचने का गहरा दबाव है। वे महसूस करते हैं कि नाज़ीवाद ने न सिर्फ दुनिया की बाहरी संरचना को नष्ट किया, बल्कि मनुष्यता की आतंरिक संरचना को भी नष्ट कर दिया है। क्या

नाज़ीवाद का यह आगमन मात्र एक संयोग है? क्या यह इतिहास के वास्तविक विकासक्रम में अपवाद की तरह आया दौर है? आखिर प्रबोधन की आधुनिक चेतना से लैस दुनिया नाज़ीवाद की बर्बरता तक कैसे पहुँच गई? ये प्रश्न प्रबोधन की द्वंद्वात्मकता के मूल प्रश्न हैं। समस्त विश्लेषण पर इस दौर की गहरी छाप देखी जा सकती है।

मार्क्स और हिटलर के बीच तकरीबन सौ वर्ष का अंतराल है। मार्क्स उस गहरी खाई को पार करते हैं, जिसको लेकर तमाम दार्शनिक बहस कर रहे थे–आखिर दुनिया की व्याख्या किस तरह हो? मार्क्स के समस्त चिंतन पर प्रबोधन और जर्मन आदर्शवाद का गहरा प्रभाव था। आखिर मार्क्स से होती हुई दुनिया हिटलर तक किस प्रकार पहुँच गई? जर्मनी का वही समाज जिसने मार्क्स के चिंतन के लिए आधुनिक संवेदना निर्मित की थी, उस समाज के भीतर से हिटलर की आलोचना क्यों नहीं पैदा हुई? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर को तलाशते हुए एडोर्नो, होर्खाइमर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बीसवीं सदी में दुनिया की व्याख्या का प्रश्न आर्थिक और राजनीतिक भूमिका तक महदूद नहीं रह गया है। प्रबोधन की प्रक्रिया ने समाज के भीतर कुछ गहरे परिवर्तन किए हैं। इस दौरान अगर दुनिया अधिक ज्ञानात्मक हुई है, तो साथ ही अधिक बर्बर भी हुई है। इस ज्ञान और बर्बरता के बीच क्या कोई नये सूत्र तलाशे जा सकते है? बर्बरता की यह नई परिकल्पना प्रबोधन के उस अप्रत्यक्ष चरित्र की ओर इशारा करती है, जिसके विषय में दार्शनिकों का ध्यान अब तक नहीं गया था।

यही से होते हुए एडोर्नो, होर्खाइमर समाजशास्त्र की परिकल्पना और विश्लेषण तक पहुँचते हैं। प्रबोधन की द्वंद्वात्मकता का एक संदर्भ यह भी है कि ज्ञान की प्रक्रिया से कोई समाज किस तरह संबंध बनाता है। ज्ञान-युग से गुजर चुके समाज के भीतर से फासीवाद क्रूरता का समग्र विरोध अगर पैदा नहीं होता तो हमें इस ज्ञान-युग का पुनर्मुल्यांकन करना होगा।

2

रूस और जर्मनी की सीमाएँ मिलती थीं। नागरिकों का एक जगह से दूसरी जगह पलायन होता था। एक तरफ समाजवादी सत्ता थी तो दूसरी तरफ फासीवादी सत्ता। इन दो विपरीत सी लगती सत्ताओं के बीच रह रही जनता के भीतर किस तरह के परिवर्तन आ रहे थे? सीमा पर खड़े मनुष्य के लिए दायां और बायां किस तरह का था?

इन प्रश्नों के उत्तर को ढूँढ़ते हुए एडोर्नो, होर्खाइमर कांट की प्रबोधन ती अवधारणा से खुद को अलगाते हैं। कांट के अनुसार प्रबोधन एक लंबे ऐतिहासिक संघर्ष का परिणाम है। मनुष्य इतिहास के भिन्न दौरों से गुजरता हुआ यहाँ तक पहुँचा है। लेकिन एडोर्नो, होर्खाइमर के लिए वह अब भी रास्ते में हैं। प्रबोधन एक गतिशील विचारप्रक्रिया है। सहज भाषा में कहें तो एडोर्नो, होर्खाइमर उसे एक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया। जिस पर अपने युग-समाज का गहरा प्रभाव है। इसीलिए 19वीं सदी का प्रबोधन 20वीं सदी से भिन्न है। एडोर्नो, होर्खाइमर के लिए महत्त्वपूर्ण यह है कि युग-समाज से गहरे प्रभावित होने के बावजूद, इसे कोई नियंत्रित कर रहा है। अगर समाज और मनुष्यता पर, प्रबोधन का प्रभाव है तो इस प्रबोधन की प्रक्रिया को नियंत्रित कर, समाज और मनुष्यता को भी नियंत्रित किया जा सकता है।

एडोर्नो, होर्खाइमर की इस बात से हेबरमास भी इत्तेफाक रखते हैं, लेकिन वे उम्मीद और आशा को नहीं छोड़ते। हेबरमास के अनुसार इस नियत्रण से मुक्ति संभव है। प्रबोधन की चेतना में ही यह दृष्टि भी अंतर्निहित है कि मनुष्य सत्ता ते दबावों से संघर्ष करता रहे। उसकी ज्ञानात्मक चेतना सामूहिकता में जो बोध निर्मित करती है, उसमें सत्ता का विरोध संभव है। जरूरत है उस अधूरी छूट गई प्रक्रिया को तीव्र करने की। यहां हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एडोर्नो, होर्खाइमर और हेबरमास की दृष्टि में इस भेद के मूल में एक युग का फर्क भी है।

एडोर्नो, होर्खाइमर मिथकों को प्रबोधन के बरक्स रखते हैं। वे कहते हैं कि मिथ हमारे विवेक पर हावी हो जाता है। परन्तु विवेक को जाग्रत कर हम मिथकों से उत्तरोत्तर मुक्त होते जाते हैं। हमारी सामूहिक स्मृति और अवचेतन हर बार एक क्रमिकता में हो–यह जरूरी नहीं। जिसे हम सामूहिक स्मृति कहते हैं, वह कई बार अतीत को देखने की हमारी भाववादी दृष्टि भी साबित होती है। जैसे ही हम मिथकों से वर्तमान को जोड़ने की कोशिश करते हैं, हम अतीत की उन विवेकहीनताओं के शिकार होते जाते हैं।

ब्राह्मणवादी मिथकों के विरुद्ध दलितों के यहाँ भी मिथक निर्माण के आग्रह को देखा जा सकता है। ब्राह्मणवादी देवताओं के मिथकों के बरक्स दलित भी देवताओं के मिथक को रचते हैं। वे गोरे देवताओं के विरुद्ध काले देवताओं की परिकल्पना को प्रस्तुत करते हैं। ये काले देवता किस तरह के होते हैं? वे क्या करते हैं? वे अपने भक्तों से किस तरह प्रसन्न होते हैं? जब इस तरह के सवालों से हम रूबरू होते हैं तो पाते हैं कि यह वास्तव में मिथकों के बहाने ब्राह्मणवादी विस्तार ही है। ब्राह्मणवादी चेतना सामंती थी। वह धर्म के चमत्कारी वर्चस्व का किस्सा रचती थी। दलितों द्वारा मिथकों के निर्माण से संघर्ष की अग्रगामी चेतना को भी रचती थी। दलितों द्वारा मिथकों के निर्माण से संघर्ष की अग्रगामी चेतना को भी सामंती दायरे में घसीटना वस्तुतः एक प्रति-ब्राह्मणवादी कोशिश बनकर रह जाती है।

प्रबोधन के अनुसार ईश्वर और प्रकृति के प्रति मनुष्य का विषयगत रूख ही मिथक का मूल कारण है। अतिप्राकृतिक शक्तियाँ, आत्मा, दानव–ये सब मानवीय शक्तियों के ही भिन्न रूप हैं जिसे मनुष्य ने प्रकृति की शक्तियों के समानांतर निर्मित किया है। मिथक निर्माण की प्रक्रिया के मूल में मनुष्य और प्रक्रिया का द्वंद्व है। मनुष्य प्रकृति पर हावी होने के क्रम में मिथकों का निर्माण करता है। इन शक्तियों की मनोरचना के माध्यम से वह प्रकृति के जादू को तोड़ने का प्रयत्न करता है। एडोर्नो, होर्खाइमर इस बात को सामने रखते हैं कि मिथक निर्माण की प्रक्रिया अमूर्त और अव्याख्येय नहीं है। वह एक निश्चित ज्ञानात्मक प्रक्रिया का हिस्सा होती है। एक समूची परिकल्पना के तहत उसे अनुशासन रीति-रिवाज और अनुष्ठानों में बदला जाता है। उसके ऊपर ज्ञान-सत्ता का वर्चस्व स्थापित किया जाता है। स्थानीय देवी-देवताओं को उनकी वरीयता के अनुसार, आसमानी शक्तियों में बदला जाता है। यहाँ ज्ञानोदय और मिथक के बीच फर्क मिटने लगता है।

एडोर्नो, होर्खाइमर लिखते हैं, 'मिथक ज्ञानात्मक होने लगता है और प्रकृति वस्तुगत। जिन चीजों पर मनुष्य ने शक्ति का प्रदर्शन किया था, उन्हीं से विच्छेद के कारण वह बढ़ी हुई शक्तियों को अर्जित करता है। वस्तुओं के साथ प्रबोधन का संबंध उसी तरह का है, जैसा कि तानाशाह का मनुष्य के साथ।''[01] एडोर्नो, होर्खाइमर प्रबोधन और मिथक के बीच के संबंध में वर्चस्व की भूमिका को व्याख्यायित करते हैं। वे इस बात को रखते हैं कि मिथक की चेतना में प्रबोधन की दृष्टि मौजूद रहती है और इसी तरह प्रबोधन भी अंततः एक मिथक को ही रचता है। इस अर्थ में प्रबोधन की द्वंद्वात्मकता उसे मिथक के विरुद्ध होकर भी मिथक से मुक्त नहीं होने देती।

रीति-रिवाज चीजों के सम्पन्न होने की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करते हैं। अनुष्ठानों के अपने मियम होते हैं। मिथकों के दायरे से शुरू होकर चीजें ज्ञानात्मक होने लगती हैं। इसी प्रक्रिया के तहत यानि ज्ञानोदय के रास्ते ही मिथक सामाजिक स्वीकृति पाता है। इस बात को समझने के लिए हम पीपल के पेड़ का उदाहरण ले सकते हैं। पीपल के पेड़ के नीचे रात के वक्त सोना खतरनाक है। पीपल का पेड़ रात के वक्त अधिक-कार्बनडाइ-ऑक्साइड उत्सर्जित करता है। यह एक प्रकृतिगत विविधता है। इस पर मनुष्य का स्पष्ट रूप से कोई नियंत्रण नहीं हैं, लेकिन इस पर मनुष्य मिथकों के निर्माण से वर्चस्व स्थापित करता है। पीपल के पेड़ पर भूत की परिकल्पना को वह रचता है। इस तरह पीपल के पेड़ का

मिथकीकरण किया जाता है। दिन के वक्त उसकी पूजा होती है। यह इसलिए कि इस प्रक्रिया यानि अनुष्ठानों के माध्यम से पीपल का पेड़ लोगों की सक्रिय स्मृति का हिस्सा बना रहे। जो बात ज्ञानोदय के दायरे में आती है, उसे मिथक का रूप देकर, लोगों की चेतना में आरोपित किया जाता है। यह बात अगर एक तार्किक संदर्भ अख्तियार भी करती है तो उसका परिणाम विपरीत होता है। मिथक की चेतना कमजोर होने के बजाय और मजबूत होने लगती है। ज्ञानात्मक चेतना और मिथकीय चेतना के दायरे एक दूसरे से जुड़ने लगते हैं। ज्ञानोदय की प्रक्रिया किसी सत्य को स्थापित नहीं करती। इसके विपरीत वह उस संदर्भ को पुख्ता करती है जो वास्तव में एक मिथक से पैदा हुई थी। इस तरह मिथक (काल्पनिक, अयथार्थ) और ज्ञानोदय (वास्तविक, यथार्थ) के बीच दूरी नहीं रह जाती। दोनों एक दूसरे को स्थापित करने का प्रयत्न करने लगते हैं। प्रकट तौर पर ज्ञानोदय की मूल चेतना मिथक के विरुद्ध नजर आती है परन्तु वास्तव में वह मिथकीय होने लगती है। भारतीय संदर्भ में मिथकों की स्थापना के लिए ब्राह्मणवाद के तौर पर हम मिथकों के अनुशासन में बदलने की प्रक्रिया को देख सकते हैं। पुरोहिती की समग्र व्यवस्था मिथकों को सामाजिक वर्चस्व में बदलने में किस हद तक सफल हुई–यह अलग से जानने की जरूरत नहीं।

एडोर्नो, होर्खाइमर कहते है, ''जिस तरह मिथक प्रबोधन को अनिवार्य बना देता है, उसी तरह हर कदम से प्रबोधन भी खुद को मिथक में गहरे उलझा देता है। वह अपने सारे संदर्भों को मिथकों से प्राप्त करता है ताकि वह उसे नष्ट कर सके। मिथकीय भाषा में वह मिथक के प्रति अपना मत जाहिर करता है।''[02]

एडोर्नो, होर्खाइमर का मानना है कि तर्क की स्थापना के साथ-साथ ताकत की स्थापना को महत्व दिया गया। तर्क का उद्देश्य ताकत के अस्तित्व को स्वीकार्य बनाना था। वे कहते हैं कि तर्क को एकमात्र विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया ताकि वह एक वर्चस्व का रूप अख्तियार करे। फूको भी इसी स्थापना को आगे बढ़ाते हुए ज्ञान ताकत की अवधारणा हमारे समक्ष रखते हैं। फूको ने एक बातचीत में स्वीकार किया कि वे फ्रैंकफर्ट स्कूल के चिंतकों और विशेषकर एर्डोनो के चिंतन से वाकिफ नहीं थे। वे कहते हैं कि अगर उन्हें इन सबका पता होता तो उनका काम इन सब पर टिप्पणी करने से भी चल जाता।

एर्डोनो, होर्खाइमर का मानना था कि प्रबोधन की अवधारणा को एक निश्चित अवधारणा में बदल दिया गया है। हर घटना, स्थिति का विश्लेषण उन्हीं तय अवधारणाओं को अनुकूलित करने के क्रम में होता है। एर्डोनो, होर्खाइमर कहते हैं यह वास्तव में प्रबोधन नहीं है। किसी घटना या स्थिति की गतिशीलता का इसमें निषेध है। स्थितियों के प्रति एक निश्चित रूख अख्तियार कर लेने से उसकी विकारात्मक गति की ठीक पहचान संभव नहीं रह जाती। प्रबोधन का उद्देश्य अज्ञान और डर पर तार्किक निष्कर्षों द्वारा विजय पाना है। इस प्रक्रिया के तहत ही वास्तविक तौर पर प्रबोधन की प्रक्रिया को आत्मसात् किया जा सकता है। देश-काल रहित ज्ञानात्मकता को सार्वकालिक सत्य की तरह आरोपित करना प्रबोधन नहीं हो सकता। प्रबोधन को पहले स्वयं ही प्रबोधन की चेतना को आत्मसात् करना होगा।

एडोर्नो, होर्खाइमर सवाल उठाते हैं कि जब हम तर्क को एकमात्र विकल्प यानि वर्चस्व के तौर पर सामने रखते हैं तो उस स्थिति में हमारे विवेक का क्या होता है? विवेक से उनका तात्पर्य, आलोचनात्मक विवेक के रूप में है। वे पूछते हैं कि विवेक, तर्क के इस वर्चस्व के खिलाफ खड़ा क्यों नहीं होता? जवाब में वे कहते हैं कि तर्क वास्तव में जिस पर अपना वर्चस्व कायम करता है, जिस पर हावी होता है, उससे उत्तरोत्तर उसकी दूरी बढ़ती जाती है। ऐसी स्थिति में किसी किस्म के आलोचनात्मक विवेक की गुंजाइश बची नहीं रह जाती है। तर्क विषय से दूर हटता जाता है और इस प्रक्रिया में वह विषय का ही वस्तुकरण कर देता है। तर्क और

वस्तु के बीच उसी स्तर का संबंध विकसित होता जाता है जैसाकि तानाशाह का मनुष्यों के साथ। तानाशाह की परिकल्पना शासक और शोषित की पारंपरिक दूरी को और बढ़ा देती है। एक बिंदु पर जाकर वह दूरी इतनी बढ़ जाती है कि शासन चाहकर भी कुछ ऐसा नहीं सोच सकता जो जनता के पक्ष में हो। इसे और स्पष्ट करते हुए एडोर्नो, होर्खाइमर विषय और वस्तु के नये संदर्भों को रखते हैं। वे कहते हैं कि तर्क के सहारे अमूर्तन को रचा जाता है। वर्चस्व के नये दायरों को निर्मित करने के लिए वस्तु की निजता को नष्ट किया जाता है। इस निजता के ध्वंस से विषय का वस्तुकरण संभव हो पाता है। एक वैज्ञानिक के सफल परीक्षण के लिए मेज पर मौजूद चूहा मात्र एक वस्तु है। चूहे के रूप वह कोई विषय नहीं है। उसकी निजता का वैज्ञानिक के लिए कोई महत्व नहीं है। वैज्ञानिक के समक्ष आने से पहले वह एक प्रजाति में रूपांतरित हो चुका होता है, उसके निजी गुण-धर्मों का वैज्ञानिक के लिए कोई महत्व नहीं रह जाता। प्रयोग से प्राप्त निष्कर्षों को उस समय एक चूहे से प्राप्त निष्कर्ष के रूप में नहीं प्रस्तुत करता। वह उसके माध्यम से समस्त प्रजाति के बारे में अपनी राय व्यक्त करता है। इस तरह की वैज्ञानिक प्रक्रिया के माध्यम से विषय को वस्तु में बदला जाता है। सत्तावर्ग द्वारा किए गए तमाम तरह के नरसंहारों को अंजाम देने से पहले मनुष्य को इसी तरह की प्रजातियों में बदला जाता है। इसके लिए सत्ता ज्ञान माध्यमों का इस्तेमाल करती है। लोगों को वर्ण, जाति, रंग, लिंग, राष्ट्र, भाषा आदि के नाम पर चिन्हित किया जाता है। सत्ता पहले उस चिन्ह के खिलाफ घृणा को प्रचारित करती है और फिर उस चिन्ह को मिटाने की प्रक्रिया के द्वारा बड़े पैमाने पर नरसंहारों को अंजाम दिया जाता है।

हम यह कह सकते हैं कि एडोर्नो, होर्खाइमर के चिंतन की केन्द्रीय अवधारणा ही विषय का वस्तुकरण है। वे बताते हैं कि बुद्धिवाद का सबसे बड़ा संकट यही है। वस्तुकरण की इस प्रक्रिया के द्वारा विवेक का यांत्रिकीकरण होने लगता है। वह स्वयं ही एक स्वचालित वस्तु में बदल जाती है। विवेक की अपनी निजी विशिष्टताएँ समाप्त हो जाती हैं। यांत्रिकता ही विवेक के ऊपर हावी हो जाता है। प्रबोधन की प्रक्रिया के तहत विवेक का यांत्रिकीकरण और उसके परिणामस्वरूप यांत्रिक बुद्धिवाद की स्थापना। प्रबोधन की द्वंद्वात्मकता यह निष्कर्ष हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है।

'चिंतन को एक ऐसी स्वतंत्र और स्वायत्त प्रक्रिया के रूप में मूर्त किया जाता है जो उस यंत्र का अनुकरण करता है जिसे स्वयं उसने ही निर्मित किया है। अंततः चिंतन को यंत्र द्वारा बदल दिया जाता है।'[23]

विचारों के इस यांत्रिकीकरण की प्रक्रिया का परिणाम यह होता है कि मनुष्य और यंत्र के बीच की दूरी कम होती जाती है। इस प्रक्रिया में मनुष्य हारता जाता है। यंत्र का वर्चस्व उसकी पूरी चेतना एवं सत्ता पर हावी हो जाता है। यांत्रिक वैचारिकता समस्त वैचारिकता को नष्ट कर देती है। स्वाचालन की प्रक्रिया मनुष्य की विषयगत सत्ता को लगभग धूमिल कर देती है। स्वचालन, यांत्रिकीकरण की प्रक्रिया का अगला हिस्सा है जिसे तकनीकी तार्किकता द्रारा अर्जित किया जाता है। यांत्रिकीकरण की प्रक्रिया के समक्ष अगर समग्र प्रकृति है तो तकनीकी प्रक्रिया के समक्ष प्रकृति का जरूरी हिस्सा मनुष्य है। यांत्रिकीकरण से जब हम तकनीकीकरण की प्रक्रिया की तरफ बढ़ते हैं तो द्वंद्वात्मक चेतना विनष्ट होती जाती है।

विषय और वस्तु के बीच बढ़ती दूरी के परिणामस्वरूप वस्तु विषय के अस्तित्व पर हावी होने लगती है। वस्तु की यह वर्चस्व–चेतना प्रबोधन का अनिवार्य गुण बन जाती है। सार्त्र का मानना था कि साम्राज्यवादी वर्चस्व की प्रक्रिया में शासक और शोषित दोनों के आत्म का विघटन होता जाता है। लगातार हिंसा और वर्चस्व की चेतना को अंजाम देते हुए वर्चस्व की शक्तियां मानवीय विवेक को नष्ट करती जाती है। इस बात को साम्राज्यवादी शासन के

दौरान हुई अक्रूत हिंसा में देखा जा सकता है। दूसरी ओर शासित राष्ट्र भी अपने आत्म को बचाने की प्रक्रिया में साम्राज्यवादी शक्तियों के अनुरूप ढलते जाते हैं। वे अपने स्व की रक्षा नहीं कर पाते। उनकी निजी विशिष्टताएँ नष्ट होती जाती है।

प्रबोधन की प्रक्रिया के तहत किस तरह आत्म-संरक्षण की प्रक्रिया आत्म-विघटन में बदलती है– यह समझना जरूरी है। हमारे यहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दौरान गाँधी भी आत्म-संरक्षण की बात करते हैं। वे भी महसूस करते हैं कि साम्राज्यवादी वर्चस्व का जवाब दूसरे वर्चस्व (हिंसा) के द्वारा नहीं दिया जा सकता। वे यूरोपीय आधुनिकता को साम्राज्यवादी वर्चस्व के मूल में रेखांकित करते हैं। यही वजह है कि गाँधी साम्राज्यवाद के विरोध का तरीका यूरोपीय आधुनिकता के विरोध के रास्ते निकालते हैं। वे आत्मबोध के निर्माण के द्वारा आधुनिकता के वर्चस्व को चुनौती देने की बात करते हैं। गाँधी का वह चिंतन यूरोपीय आधुनिकता का क्रिटिक रचता है। एक समानांतर आधुनिकता की परिकल्पना, जिसमें स्व का वस्तुकरण नहीं होता। गाँधी आत्म की तलाश में स्व पर ठहर नहीं जाते। वे स्व से आगे बढ़ते हुए सामूहिकता की ओर बढ़ते हैं। इस अर्थ में हम देखें तो गाँधी के समस्त चिंतन में किसी भी तरह के अमूर्तन का जबरदस्त विरोध देखा जा सकता है।

एडोर्नो, होर्खाइमर भी यह मानते हैं कि अमूर्तन के द्वारा प्रबोधन अपने युग के मिथक को रचती है। अमूर्तन को वे इस प्रबोधन के वर्चस्व के अस्त्र के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं, मिथक के संदर्भ में जिस भूमिका को भाग्य या संयोग के रूप में हम देखते हैं, प्रबोधन के वर्चस्व निर्माण में वही भूमिका अमूर्तन की होती है।

क्या यह संभव नहीं था कि मानवीय विवेक द्वारा इस अमूर्तन के पार देखने की कोशिश की जाती है? 20वीं सदी में ऐसा नहीं हो सका। एडोर्नो, होर्खाइमर के अनुसार ऐसा इसलिए कि प्रबोधन की चेतना में प्रकृति का निषेध अंतर्निहित था। मानवीय विवेक ने मानवीय प्रकृति को विस्मृत कर दिया। ऐसे में सहज तार्किकता संभव नहीं रह गई। सहज तार्किकता का अर्थ था वे मूल्य, जो फ्रेंच क्रांति से मिले थे–स्वतंत्रता, समानता और न्याय की परिकल्पना। इसके साथ ही प्रकृति के साथ मनुष्य के सह-अस्तित्व की चेतना। मनुष्य स्वयं भी प्रकृति का रूप था लेकिन तर्क के वर्चस्व ने सर्वप्रथम मनुष्य को प्रकृति की उस सहचेतना से काट दिया। परिणामस्वरूप जो मानवीय विवेक विकसित हुआ, वह प्रकृति से विमुख था। प्रकृति पर वर्चस्व का अर्थ था मनुष्य पर भी वर्चस्व। इसे 19वीं और 20वीं सदी के मध्य तक यांत्रिक तार्किकता के माध्यम से अर्जित किया गया। मनुष्य बनाम सत्ता की लड़ाई, मनुष्य बनाम यांत्रिक तार्किकता की लड़ाई में बदल गई।

3

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् रूप में साम्यवादी सत्ता की स्थापना के साथ-साथ ही रूस के पड़ोसी राष्ट्र जर्मनी में दक्षिणापंथी ताकतों का उभार आरम्भ हुआ। राष्ट्र और समुदाय की नई अवधारणाएं विकसित हुई। पहचान की राजनीति का नया दौर शुरू हुआ। यह राजनीति 19वीं सदी की राजनीति के पूरी तरह भिन्न थी। इस राजनीति ने राजनीतिक–अर्थशास्त्र की निर्णायक भूमिका को मद्धिम कर दिया। एडोर्नो के लिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण था कि आखिर रूस और जर्मनी की राजनीति, जो प्रकट तौर पर एक दूसरे के एकदम विपरीत नजर आती हैं, उसे एक ही समय में दोनों तरफ की जनता ने स्वीकार किस तरह कर लिया? इन दो राष्ट्रों की राजनीतिक चेतना में मौजूद वैपरित्य का जनता से अंतर्विरोध क्यों नहीं उभरा? जनता ने इस वर्चस्व को अगर स्वीकार कर लिया तो जाहिर सी बात है कि जनता राजनीति से इतर किसी और वर्चस्व को स्वीकार कर रही थी। यानी जनता की अवधारणा को महज आधार और अधिरचना के पुराने विभाजन से नहीं समझा जा सकता। यह एक नई स्थिति थी, जहाँ आधार-अधिरचना एक नये अर्थ में

घुल-मिलकर प्रस्तुत हो रहे थे। एडोर्नो इसे संस्कृति उद्योग के रूप में चिन्हित करते हैं। संस्कृति उद्योग के हवाले से लोकप्रिय संस्कृति की अवधारणा विकसित की गई। यानि जनता के अंतर्विरोधों को जिसके निर्माण में वर्गीय चेतना की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी–विस्मृत किया गया। यह किस तरह संभव हुआ? ऐसा करने के लिए वर्गीय अंतर्विरोध को प्रकट रूप में खत्म किया गया। हम जानते हैं कि वर्गों का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि वर्गीय अंतर्विरोध मौजूद होते हैं। ये अंतर्विरोध हमारी चेतना के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये अंतर्विरोध प्रकट-अप्रकट तौर पर जनता की संस्कृति में भी मौजूद होते हैं। संस्कृति उद्योग के हवाले से वर्गों के सामंजस्य की छद्म सांस्कृतिक चेतना निर्मित की जाती है। पहले लालच के वृहद् संसार के रूप में जनता के अवचेतन को निशाना बनाया जाता है। ऐसे विज्ञापन निर्मित किए जाते हैं जो आपसे कुछ भी खरीदने का आग्रह नहीं करते। वे आपसे उपभोक्ता और उत्पाद के स्तर पर नहीं जुड़ते। उन्हें स्वप्न के रास्ते, सौन्दर्य के रास्ते, इच्छा-आकांक्षा के रास्ते, हमारे अवचेतन में प्रवेश दिलाया जाता है। एक दिन बाहरी दुनिया में हम उन आकांक्षाओं को, स्वप्नों को मूर्त होता देखते हैं। इस तरह हमारी चेतना पर एक आधिपत्य निर्मित किया जाता है। यह नई संस्कृति हर तरह के विरोधों से मुक्त हैं, यह बात हमारी चेतना में धीरे-धीरे दर्ज होने लगती है। सफलतापूर्वक इस भ्रम को फैलाया जाता है कि दुनिया की हर चीज हर किसी के लिए संभव है। संस्कृति का अर्थ एक कृत्रिम आनन्द तक सीमित कर दिया जाता है। फिल्मों के स्तर पर हम देखते हैं कि हर सफल फिल्म का अर्थ फूहड़ हास्य तक सीमित कर दिया जाता है। कला के उत्पादन से जनता के मनोविज्ञान के संबंध को पूरी तरह अनुकूलित कर दिया जाता है।

अंतर्विरोधों का सामंजस्य ही इस संस्कृति का मूलाधार है। संस्कृति में जब अंतर्विरोधों का सामंजस्य होता है तो वह बड़े पैमाने पर राजनीति को बदल देती है।

हमारे यहाँ पिछले दिनों जो राजनीतिक परिवर्तन हुआ, उसमें भी इस बात की शिनाख्त की जा सकती है। हर विषय पर एक ही समय में विरोधी बातें कहीं गई और जनता के वैविध्य के मध्य उसे खपा दिया गया। इसके तहत एक ही समय में कट्टरपंथ और उदारपंथ दोनों का सामंजस्य निर्मित किया जाता है। वे लोग जो कट्टरपंथ की संस्कृति के प्रशंसक हैं, उन्हें इस राजनीति को समर्थन देना चाहिए और वे लोग जो कट्टरता के विरोध में उदारता के पक्ष में है, वे भी इसी राजनीति में अपने लिए स्थान पा सकते हैं। सत्ता के प्रतिनिधि की लोकप्रियता और महत्ता इसी अर्थ में है कि वह किस हद तक परस्पर विरोधी बातों के मध्य सामंजस्य स्थापित कर सकता है। यह उनकी कुशलता और दूरदर्शिता का पैमाना है। इस तरह लोकतांत्रिक प्रक्रिया के भीतर लोकप्रिय संस्कृति के रास्ते वर्चस्व की राजनीतिक भूमिका निर्मित की जाती है। इसे न तो पारम्परिक अर्थ में राजनीति कहा जा सकता है और न ही संस्कृति। यह एक नई स्थिति है। एडोर्नो इसे संस्कृति उद्योग का नाम देते हैं।

संस्कृति उद्योग में एडोर्नो इस बात की पड़ताल करते हैं कि किस तरह लोकप्रियता के माध्यम से सांस्कृतिक वर्चस्व की सार्वभौमिकता को रचा जाता है। इस बात को समझने के क्रम में हम सिगरेट का उदाहरण ले सकते हैं। हमारे यहाँ सिगरेट के डब्बे पर यह छपा होता है– *'सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।'* किसी भी समाज में सभी सिगरेट के सेवन नहीं करते। लेकिन मध्यवर्गीय दायरे में हम देख सकते हैं कि सिगरेट पीना एक लोकप्रिय संस्कृति का रूप ले चुका है। जिस तरह फैशन के तौर पर लोग धूप के चश्मे पहनते हैं या टोपी लगाते हैं, उसी तरह सिगरेट पीकर भी दूसरों पर अपना प्रभाव जमाते हैं। हर किसी में सिगरेट पीने की इच्छा दूसरों को देखकर आती है। लेकिन वह लोकप्रिय संस्कृति का हिस्सा तभी हो सकती है जब वह विरोधों के सामंजस्य को निर्मित करे। यानि वे लोग जो सिगरेट नहीं पीने वालों को लेकर एक अलग तरह की राय

रखते हैं, वे भी सिगरेट के उत्पाद से जुड़े, तभी सिगरेट पीने की संस्कृति एक लोकप्रिय संस्कृति में बदल सकती है। *'सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है'*– सिगरेट के डब्बे पर अंकित इस चेतावनी को देखकर शायद ही कोई सिगरेट पानी छोड़ता हो। ऐसा नहीं होता। फिर यह चेतावनी किनके लिए होती है? मूलतः यह सूचना उन लोगों के लिए हैं जो लोग सिगरेट नहीं पीते। इस तरह सिगरेट के उत्पाद से दोनों जुड़ जाते हैं। पीने वाले सिगरेट के डब्बे में मौजूद सिगरेट से संतुष्ट होते हैं और न पीने वालों को जोड़ने के लिए डब्बे पर यह चेतावनी मौजूद होती है। न पीने वाले सिगरेट का उपभोग डब्बे पर अंकित चेतावनी से करते हैं। सिगरेट को लेकर मन में जो नकारात्मकता होती है, जो क्षोभ एवं गुस्सा होता है, उसे किसी हद तक यह चेतावनी कम कर देती है। चेतावनी को पढ़कर लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति लोगों की आस्था मजबूत होती है। इस तरह सिगरेट को सामाजिक सांस्कृतिक व्यवहार का अंग बनाया जाता है। विरोधों के सामंजस्य से लोकप्रियता का समाजशास्त्र रचा जाता है। नागरिक समाज में इस तरह के विरोधों के सामंजस्य से ही वर्चस्ववाद की चेतना को जनता के लिए अनुकूलित किया जाता है। जनता वर्चस्व को लोकतंत्र समझने लगती है।

एडोर्नो के चिंतन में इस बात को देखा जा सकता है कि वे क्लासिकल मार्क्सवाद को लेकर कुछ बुनियाद प्रश्न उठाते हैं। वे इतिहास की विकासवादी अवधारणा को प्रश्नांकित करते हैं और उसके खतरों की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वे कहते हैं–इतिहास की विकासवादी अवधारणा के अनुसार मनुष्यता एक जकड़बंदी से स्वतंत्रता की ओर बढ़ती है–भ्रामक है। एडोर्नो कहते हैं वास्तव में दुनिया बर्बरता की ओर बढ़ती है, दुनिया गुलेल से बम की तरफ बढ़ती है। यानि इतिहास की इस विकासवादी अवधारणा में विज्ञान के माध्यम से वर्चस्व के नये प्रतिमान रचे जाते हैं। हर नया प्रतिमान पिछले प्रतिमानों के मुकाबले अधिक बर्बर होता है। एडोर्नो मार्क्सवाद की इस मूल अवधारणा पर चोट करते हैं जिसके अनुसार अब तक का ज्ञान इतिहास, वर्गसंघर्ष का इतिहास रहा है और वर्गसंघर्ष का उद्देश्य वर्गों को समाप्त कर समतामूलक समाज के निर्माण का है। एडोर्नो का मानना ता कि यह धारणा गलत है कि उत्पादन की पूंजीवादी शक्तियाँ जब पूंजीवादी संबंधों से मुक्त हो जाएंगी तो वे स्वतंत्र समाज को जन्म देंगी। पूंजीवाद किसी किस्म की स्वतंत्रता को प्रश्रय नहीं देता। वह वर्चस्व के एक स्तर से दूसरे स्तर की तरफ बढ़ता है। वह इतिहास की समग्रतावादी अवधारणा का इस्तेमाल कर वर्चस्व के नये रूपों को विकसित करता है। इस अर्थ में अनजाने ही इतिहास की मार्क्सवादी अवधारणा पूंजीवादी वर्चस्व का हिस्सा बन जाती है। एडोर्नो लिखते हैं, ''सार्वभौमिक इतिहास की अवधारणा का विरोध किया जाना चाहिए और उसे नकारा जाना चाहिए। अतीत के विध्वंसों और भविष्य के संभावित विध्वंसों को देखकर कोई पागल ही कह सकता है कि बेहतर दुनिया की संकल्पना इतिहास की अवधारणा में अंतर्निहित है जो इसे जोड़ती है।''[04]

स्पष्ट है कि इतिहास की अवधारणा के तहत मुक्ति की चेतना को लेकर एडोर्नो संदेह व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि सार्वभौमिकता के तहत जिस इतिहास को हमारे सामने प्रस्तुत किया जाता है, वास्तव में वह वर्चस्व को ही जन्म देता है। 20वीं सदी की तमाम क्रूरताओं और बर्बरताओं के मूल में इतिहास की समग्रतावादी दृष्टिकोण की भूमिका रही है, इससे शायद ही कोई इंकार कर सकता है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में पूंजीवाद वर्चस्व को आमजन की संस्कृति (Mass Culture) के रास्ते अर्जित करता है। इसके लिए संस्कृति को यांत्रिक उत्पादन की प्रक्रिया से जोड़ा जाता है। वाल्टर बेंजामिन ने इसकी चर्चा सबसे पहले अपने लेख *'यांत्रिक पुनरुत्पादन के दौर में कला'* में किया था। वे चित्रकला के समक्ष कैमरे की भूमिका को रखते हैं। एडोर्नो, बेंजामिन की इसी अवधारणा को और विस्तार देते

हैं। वे लिखते हैं–'संस्कृति की तकनीक पर निर्भरता धीरे-धीरे उसे तकनीक के अनुकूल विकसित करती जाती है। कला और कलाकार के मध्य तकनीक की भूमिका निर्णायक होने लगती है, न सिर्फ निर्णायक अपितु तकनीक कला और कलाकार दोनों को नियंत्रित भी करने लगती है। इस अर्थ में वह समूची संस्कृति को उद्योग में बदल देती है। कला का वितरण एवं उत्पादन भी उद्योग के नियमों के तहत होने लगता है। इसका समूची कला एवं कलाकार पर प्रतिकूल असर पड़ता है।''[05] हालांकि एडोर्नो कहते हैं कि संस्कृति उद्योग में उद्योग को शाब्दिक अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए बल्कि सांस्कृतिक उद्योग से ध्वनित होने वाले सांकेतिक अर्थ पर ही ध्यान केन्द्रित करन चाहिए। एडोर्नो के अनुसार कला के उपभोग, उसके प्रसार, उसकी लोकप्रियता से संस्कृति उद्योग का संदर्भ विकसित होता है। ऐसे में यह जरूरी है कि कला और कलाकार के भीतर मौजूद स्व की चेतना एवं स्वतः स्फुरण को नष्ट किया जाए। कला और कलाकार की स्वायत्तता को नियंत्रित किया जाना संस्कृति उद्योग का मूलभूत चरित्र है। यह बात हम टैलेंट शो जैसी प्रतियोगिताओं में जो आये दिन टीवी पर दिखाई जाती हैं, देख सकते हैं। इन कार्यक्रमों में यह दावा किया जाता है कि एक सामान्य सी प्रतिभा को लगातार मांजकर एक कलाकार के रूप में किस तरह बदला जाता है। लेकिन इस प्रक्रिया में जो चीज सबसे पहले नष्ट की जाती है, वह है कलाकार की स्वायत्तता। उसे अपने विषय में अपनी कला-चेतना के संदर्भ में किन्हीं निजी मान्यताओं, प्रक्रियाओं को रखने नहीं दिया जाता। उसे दिए गए निर्देशों को यांत्रिक तौर पर पालन करना होता है। ये निर्देश संस्कृति उद्योग के नियमों के तहत विकसित होते हैं। कलाकार का काम इस उद्योग में एक कड़ी के रूप में जुड़ना भर है। उसकी कला को उत्पादित वस्तु के तौर पर जनता के बीच खपाया जाता है। इस तरह के कार्यक्रमों में दर्शकों की राय कितनी अहम् है–इस बात को बार-बार बताया जाता है। उनसे अपनी पसंद के कलाकार के पक्ष में वोट करने को कहा जाता है। यह बताया जाता है कि देश का फैसला इस कलाकार के पक्ष में गया है। इस तरह चंद लोगों की अनुकूलित दृष्टि को समूचे देश के निर्णय के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। ऐसा क्यों किया जाता है? हम जानते हैं कि अरबों की जनसंख्या वाले देश में दस-पाँच हजार लोगों की संख्या का क्या अर्थ है, लेकिन ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि इस रास्ते लोकतंत्र की हमारी समझ लगातार विकृत होती रहे। बहुत की छद्मचेतना का निर्माण कर, कला का वस्तुकरण किया जाता है ताकि उसे आमजन की चेतना का अनिवार्य हिस्सा बनाया जा सके। संस्कृति ने मनुष्य को गहरी जकड़बंदियों से मुक्त किया है। एक तरह से मनुष्य जिन जड़ताओं के अधीन खुद को पाता है, उससे बाहर निकलने का रास्ता संस्कृति का रास्ता होता है। कोई भी संस्कृति समय की सीमाओं के पार तभी आ सकती है जब उसमें प्रगतिशीलता के तत्त्व मौजूद हों। बगैर प्रगतिशील भूमिका के कोई भी संस्कृति मनुष्य की स्मृतिबोध का स्थायी अंग नहीं बन सकती। इसी संदर्भ में मार्क्स ग्रीक त्रासदियों की भूमिका की चर्चा करते हैं। वे जब कहते हैं कि अब तक का ज्ञात इतिहास वर्गसंघर्ष का इतिहास रहा है तो वे मनुष्य की इसी सांस्कृतिक स्मृति की चर्चा कर रहे होते हैं। मनुष्य की स्मृति में उसकी लंबी अनथक यात्री की स्मृतियां अपनी जगह सुनिश्चित कर ही लेती है। इतिहास की चेतना, संस्कृति और परम्परा के रास्ते ही उसके जीवन में प्रवेश पाती है। हम अक्सर इस प्रश्न के समक्ष खुद को पाते हैं कि स्मृति और परम्परा में से किसे रखें और किसे छेड़ दें? यह बोध ही दरअसल संस्कृति का बोध है। इतिहास की चेतना भी दरअसल हमारी चेतना में संस्कृति के रास्ते ही दाखिल होती है। इसलिए मार्क्स जिस क्रमिकता की बात करते हैं, वह वास्तव में हमारा सांस्कृतिक बोध ही है। लेकिन अगर इस सांस्कृतिक बोध को नष्ट कर दिया जाए तो इतिहास की इस क्रमिक चेतना को वर्चस्ववादी चेतना में बदलना आसान हो जाएगा। संस्कृति उद्योग हमारी सांस्कृतिक चेतना को नष्ट कर देता है।

एडोर्नो कहते हैं कि संस्कृति जब उद्योग का रूप धारण करने लगती है, तब उसमें उद्योग धंधों से संबंधित संकट भी पैदा होने लगते हैं। कलाकार उत्पादक की भूमिका में आ जाता है और कला उत्पाद बन जाती है जिसे बाजार में जींस की तरह खपाया जाता है। उत्पादन का आधार मात्रा और गति से निर्मित होने लगता है। गुणवत्ता का महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि तकनीक के माध्यम से उसे पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में ढाल दिया जाता है। एक संगीतकार से सिर्फ एक ही तरह का संगीत बार-बार उत्पादित करने को कहा जाता है क्योंकि बाजार में उसी की मांग होती है। कला का उत्पादन मांग और आपूर्ति के नियमों के तहत अनुकूलित होने लगता है। यांत्रिक पुनरुत्पादन का परिणाम यह होता है कि कलाकार की कला-चेतना शुष्क होने लगती है। दूसरी तरफ बार-बार एक ही तरह के कला उत्पादों का उपभोग करते-करते आमजन की सौंदर्याभिरुचि भी जड़ होने लगती है। इस प्रक्रिया का परिणाम यह होता है कि कलाकार के भीतर भी श्रमिक की तरह का बिलगाव उत्पन्न होने लगता है। एडोर्नो इस बात पर बल देते हैं कि संस्कृति उद्योग बिलगाव पैदा कर संस्कृति की चेतना से ही आम जन को काट देती है।

संस्कृति उद्योग बाहरी स्तर पर वर्गीय अंतर्विरोधों को दूर कर इस भ्रम को फैलाता है कि चीजें सबके लिए सुलभ है। हर कोई अपने को इस उदार संस्कृति से जोड़ सकता है। इतिहास में यह क्षण पहली बार आया है। ऐसा करने के लिए वह हजार वर्षों से मौजूद उच्च कला और लोक कला के बीच के भेद को समाप्त करने का नाट्य भी रचती है। ऐसा करने में उसकी सफलता के पीछे कला का यांत्रिक उत्पादन ही है। उदाहरण के तौर पर हम सफलता के पीछे कला का यांत्रिक उत्पादन ही है। उदाहरण के तौर पर हम मुम्बईया फिल्मों को देख सकते हैं। इन फिल्मों को ऐसे उत्पाद के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है जिस तक हर किसी की पहुँच संभव हो। इसे फिल्म उद्योग ने संभव बनाया है। पुराने समय में नाटकों का जो मंचन होता था, वहाँ तक समाज के अभिजात्य वर्ग की पहुँच थी। चूँकि उपभोक्ता अभिजात्य वर्ग था, इसलिए उन कलाओं की अंतर्वस्तु भी उसकी रुचि के अनुरूप थी। वह अभिजात्य की चेतना को पुख्ता करती थी। सामान्य लोगों के लिए लोक-कलाएँ थीं। ये कलाएं उनके जीवन में मौजूद नैतिकता और मानवीयता के पक्षों को उजागर करती थीं। संस्कृति उद्योग इन दोनों के बीच मौजूद ऐतिहासिक खाई को पाटकर नई तरह की अंतर्वस्तु के साथ कला को उत्पाद के तौर पर हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। सरसरी तौर पर देखने से यह लग सकता है कि कला के ऐतिहासिक संघर्ष को मिटा दिया गया है। लेकिन वास्तव में कला को ही नष्ट कर दिया गया है। उसे महज एक उपभोग में बदल दिया गया है। आमजन को एक विकल्पहीन स्थिति में रखा जाता है। उन्हें किसी न किसी रूप में इस कलावस्तु का उपभोग करना ही है। इस तरह कला सार्वभौमिकता का वृहद् संसार रचती है। इसी रास्ते सर्व-सत्तावाद हमारे जीवन में प्रवेश करता है।

5

कला रूपों में बदलाव का उद्देश्य निर्माताओं के लिए धन उगाहना है। कला स्वयं में कुछ अर्थ नहीं रखती। उसकी कोई स्वायत्त चेतना बची नहीं रह जाती है। संस्कृति के वस्तुकरण का उद्देश्य उसे मुनाफे के व्यापार में बदलना है। इसके लिए कला के भीतर से जनसंपर्क की प्रवृत्ति को विकसित किया जाता है।

इसे समझने के लिए हम फिल्म के रूप में विकसित हुई संस्कृति को समझ सकते हैं। पूरी दुनिया में फिल्म एक उद्योग का रूप ले चुका है। उसमें कई विभाग हैं जिसमें काम करने वाले अलग-अलग लोग हैं। फिल्म को बनाने वाले सभी लोग कलाकार नहीं कहे जा सकते, लेकिन उनके बगैर फिल्म निर्माण की प्रक्रिया पूरी नहीं हो सकती। इस तरह कला उत्पादन में कलाकार की भूमिका सीमित होती जाती है। कई तरह की तकनीकी एवं यांत्रिक प्रक्रियाओं से होकर

फिल्म का निर्माण पूरा होता है। उसमें पूंजीपति पैसा लगाते हैं। उनके लिए फिल्म शुद्ध रूप से एक व्यवसाय है। एक दूसरा वर्ग भी होता है जो श्रम करता है। उत्पाद के तौर फिल्म का उपभोग एक तीसरा वर्ग करता है। यह आमजन है। सिनेमा हॉल वह जगह है, जहाँ उसे बेचा जाता है। फिल्म को सिनेमा हॉल तक ले जाने में भी कुछ लोगों की भूमिका होती है, जिन्हें वितरक कहा जाता है। ये कौन लोग हैं? संस्कृति उद्योग ने यह नया वर्ग विकसित किया है। अगर फिल्म को उत्पाद के रूप में आमजन तक न पहुँचाया जाए तो इस वर्ग की भूमिका समाप्त हो जाएगी। ये फिल्म से लेकर शेयर बाजार तक तमाम क्षेत्रों में फैले लोग हैं। परजीवी के तौर पर विकसित ये लोग समाज की चेतना पर प्रतिकूल असर डालते हैं। हम इन्हें दलाल के रूप में स्वीकार करते हुए भी अनिवार्य मानने लगते हैं। ये हमें यकीन दिलाते हैं कि सांस्कृतिक उत्पादों तक हमारी पहुँच तभी संभव है जब हम इनके माध्यम से जुड़ें। इस तरह धीरे-धीरे समाज इन परजीवियों को लेकर सहज होने लगता है।

''संस्कृति उद्योग में तकनीक कला की तकनीक से महज नाम के ही अर्थ में एकरूप है। कला में तकनीक का अर्थ वस्तुओं के आंतरिक संगठन और आंतरिक नियम के बीच संबंध निर्मित करना है जबकि संस्कृति उद्योग में आरम्भ से ही तकनीक का संबंध वितरण और यांत्रिक पुनरुत्पादन से है।''

एडोर्नो का बल इस बात पर है कि अन्य उद्योगों की अपेक्षा संस्कृति उद्योग कोई भौतिक उत्पादन नहीं करता है, इसलिए आजमन में खपाने के लिए, उसे परजीवियों के रूप में मध्यस्थों की जरूरत रहती है।

एडोर्नो कहते हैं, संस्कृति उद्योग में जो हल्कापन है, उसे गंभीरता के लेना चाहिए, वह हमारे समक्ष इस हल्केपन को इसलिए रखता है ताकि हम यह समझ विकसित करें कि संस्कृति का अर्थ मात्र आनन्द और उपभोग अर्जित करना है। इसमें किसी सुसंगत विचार की तलाश व्यर्थ है। इस तरह संस्कृति उद्योग समूची संस्कृति की संगति को हमारी चेतना में विस्मृत करने की कोशिश करता है। संस्कृति उद्योग में प्रकट तौर पर मौजूद विचारहीनता की वैचारिकता को समझने की जरूरत है।

''संस्कृति उद्योग यह कहकर अपना बचाव करता है कि वह व्यवस्था बनाये रखना चाहता है। उसकी इस प्रवृत्ति की तारीफ की जाती है। इस प्रवृत्ति को विचारधारा कहना गलत न होगा।''

संस्कृति उद्योग को गंभीरता से लेने का अर्थ है कि उसके प्रति एक आलोचनात्मक विवेक का निर्माण किया जाए। कहने का तात्पर्य है कि संस्कृति की चेतना के रास्ते ही संस्कृति उद्योग का प्रतिकार किया जा सकता है।

फिल्मों में जिस तरह से नैतिकता की विजय होती है, वह हमारे विरोद की चेतना को खंडित करता है। फिल्मों में यह दिखाया जाता है कि अंततः न्याय की जीत होती है। यह बात हमें सुकुन से भर देती है। जब हम पर्दे पर नायक को जीतता हुआ देखते हैं तो हमारे चेतन-अवचेतन में मौजूद असंतोष तृप्त होता है। हम नायक की इस जीत में खुद को शामिल महसूस करते हैं। नायक की परिकल्पना से हमारी चेतना आविष्कृत होने लगती है। यह आविष्कार हमारे भीतर के क्रोध और गुस्से को ठंडा करता है। हमारी बेचैनी कम होने लगती है। इस तरह हमारी चेतना में संघर्ष की आकांक्षा का उन्मूलन होने लगता है।

मनोरंजन के नाम पर लोगों को उनके बुद्धि विकल्पों से मुक्त किया जाता है। कोई अगर गुस्से में है, दिनभर की मसरूफियत, झूठ, फरेब और लालच से उकताया हुआ शख्स जब घर लौटता है तो टीवी पर हास्य और प्रेम से भरा एक धारावाहिक दिखाया जाता है। नायक नायिका के पीछे भाग रहा होता है। ऐसा करते हुए वह उलजलूल हरकतें करता है। पीछे से अदृश्य लोगों के हंसने की आवाजें आती हैं। यह संकेत है कि इस पर हंसना चाहिए। दृश्य में नायक को सच्चा और मासूम दिखाया जाता है। वह नायिका से प्रेम का निवेदन करते हुए कुछ भी करने की कसमें खाता है। उसे

इस तरह की भूमिका में देखते हुए हम तनावरहित होने लगते हैं। हमारे भीतर रूपांतरण होने लगता है। संस्कृति उद्योग इसी तरह हमें परिवर्तित करता है। यह हमारी चेतना को विखंडित करता है।

एडोर्नो कहते हैं कि आमजन के भीतर जो परिवर्तन की आकांक्षा होती है, वह रोज-रोज के जीवन में मद्धिम पड़ती जाती है। जो असंतोष उसके ऐतिहासिक बोध से निर्मित हो रहा होता है, जो गुस्सा उनकी चेतना से संचित हो रहा होता है, संस्कृति उद्योग उसे विनष्ट करता है। वह हमारे भीतर सुखी होने की कल्पना को प्रबल बनाता है, लेकिन सुख का अर्थ संदर्भ बदल देता है। वह क्रोध और क्षोभ के स्थान पर हमारे भीतर अतृप्त आकांक्षाओं और लालसाओं को भरता है।

हम क्या सोंचे, किस तरह सोचें, कैसे सोचें– इसे हमारा विवेक, हमारी चेतना निर्मित नहीं करती। इसे संस्कृति उद्योग तय करता है।

संस्कृति उद्योग में एडोर्नो खाली समय की अवधारणा पर विस्तार से विचार करते हैं। खाली समय से क्या तात्पर्य है? एडोर्नो का मानना है कि खाली समय इधर की अवधारणा है। पहले फुर्सत का समय होता था। खाली समय वास्तव में न तो खाली है और न बचा हुआ है। वह काम से जकड़ा हुआ है। वह अपने नाम के विपरीत है। दरअसल खाली समय हमारी सामाजिक स्थिति पर निर्भर करता है। न तो काम करते हुए और न ही अपनी चेतना में लोग वास्तविक स्वतंत्रता महसूस करते हैं। काम पर नियंत्रण रखने वाली शक्तियों ने ही हमारे खाली समय को जकड़ रखा है। काम से फुर्सत पाने के लिए जिन क्षणों में हम अपने को खुला छोड़ देना चाहते हैं, वे क्षण हमारे नियंत्रण से बाहर हो चुके हैं। इस तरह खाली समय की अवधारणा अपने अर्थ के विपरीत भूमिका निभाती है।

यह सवाल महत्त्वपूर्ण है कि खाली समय निर्मित किस तरह होता है? किस तरह उन क्षणों में भी उत्पादकता बरकरार रहती है? गुलामी के इस दौर में जब उत्पादकता लगातार बढ़ती जा रही है, ऐसे में खाली समय का औचित्य क्या है? यानि उत्पादन की इस अंधी दौड़ के बीच खाली समय एक विभ्रम को रचता है, वह हमें जकड़ने का एक नया औजार साबित होता है। एडोर्नो कहते हैं कि स्वचालन की प्रक्रिया ने खाली समय की परिकल्पना को और घनीभूत कर दिया है।

एडोर्नो कहते हैं अमूमन प्रसिद्ध लोगों से यह सवाल पूछा जाता है कि आप खाली समय में क्या करते हैं। अधिकांश लोग अपने काम से इतर जैसे कि संगीत, चित्रकला, पेंटिंग या पढ़ने आदि-आदि शौकों का जिक्र करते हैं। एडोर्नो कहते हैं कि इस तरह संस्कृति की समझ को फुर्सत के हवाले कर दिया जाता है। उपन्यास पढ़ना या चित्र बनाना आदि को लोगों की समझ में इस तरह बिठाया जाता है कि यह खाली समय के व्यसन हैं।[06]

एडर्नो ये तमाम बातें '50 और '60 के दशक के मध्य कह रहे थे। उन पर यह आरोप लगा कि उनकी बातें एक हद तक अमेरिकी समाज के परिवर्तन को तो इंगित करती हैं, लेकिन शेष दुनिया से उसका कुछ भी लेना-देना नहीं। चिंतकों ने उन पर यह भी आक्षेप लगाए कि वे राजनीति की समझ को कमजोर कर रहे हैं। आधी सदी बाद यानि 21वीं सदी के आरम्भिक दशकों में यह देखना कठिन नहीं है कि भारत जैसी तीसरी दुनिया के देश में भी संस्कृति उद्योग ने किस तरह कब्जा जमा लिया है। संस्कृति और राजनीति नये अर्थों में समाज को अपनी जद में ले रही है। एडोर्नो राजनीति और संस्कृति के नये गठजोड़ का पर्दाफास करते हैं।

हमारे यहाँ जो राजनीति परिवर्तन हुए और उसके बाद का जो समय गुजरा है, उसे हम किस तरह देखें? संस्कृति उद्योग और प्रबोधन के वर्चस्व से निर्मित हमारे समय में, हम कितना बच रहे हैं? 19वीं सदी की रौशनी की तलाश के

लिए हमारे पास क्या विकल्प बचता है? क्या समय और परिवर्तन का बोद हमारी चेतना में आगे बढ़ रहा है? क्या हम नये सवालों से नये संदर्भों के साथ टकरा रहे हैं?

एडोर्नो का चिंतन हमें 20वीं सदी के मुहाने पर लाता है। उनके यहां उलझन है, असफलता और निराशा है लेकिन ईमानदारी और बेचैनी भी है। वे नये और पुराने को घंघोलते हैं। वे इस बात को हमारे समक्ष रखते हैं कि 20वीं सदी के अधिकार में परिवर्तन की रट लगाने से चीजें नहीं बदलने वाली। पूंजीवाद के नये रुपों को पहचानने की जरूरत है। पूंजीवाद का यह हमला बाहर से ज्यादा भीतर से है। ऐसे में विश्लेषण के रास्ते अपने भीतर के रूपांतरण को हम चुनौती दे सकते हैं।

21वीं सदी में यानि हमारे वर्तमान में एडोर्नो को हम क्यों पढ़ें? यह भी कहा जा सकता है कि एडोर्नो ने ये बातें जब कहीं तो उनके समक्ष अमेरिकी समाज की हलचलें थीं। हम जानते हैं कि पूंजी का उद्देश्य समूची दुनिया को एक विशाल बाजार में और मनुष्यता को उपभोक्ता में बदल देने की है। इस कोशिश में पूंजी न तो देश की सीमाओं को स्वीकार करती है और न ही समय की वर्जनाओं को। आज जब बदलते भारत को हम देखते हैं तो यह देखना कठिन नहीं है कि आजादी के बाद भारत में जो पूंजी का प्रसार हुआ है, उसने इसके एक बड़े हिस्से को बीसवीं सदी के अमेरिकी समाज के बेहद करीब ला दिया है। हिंसा-क्रूरता को राजनीति के दायरे से बाहर कर दिया है। आप सत्तर के दशक तक की भारतीय फिल्मे देखें तो यह देखना कठिन नहीं है कि लोकप्रियता के नाम पर भी नायक हमेशा आदर्श को बचाने की कोशिश करता था। वह हत्यारों के विरुद्ध संघर्ष करता था। लेकिन 90 के दशक तक आते-आते नायक खुद हत्याओं में मशगूल हो गया। वह एक छाया नायक की भूमिका में आ गया। ऐसा इसलिए हुआ कि पूंजी की भूमिका निर्णायक होने लगी। फिल्म एक बड़े उद्योग में बदल गई।

21वीं सदी के भारत को समझने में, उसके समक्ष चुनौतियों को परखने में एडोर्नो नये सिरे से प्रासंगिक नजर आते हैं। एडोर्नो ने उत्तर-पूंजीवाद के चरित्र और समाज पर उसके प्रभाव के विषय में जो बातें 20वीं सदी के मध्य कहीं थीं, वे एक हद तक वर्तमान भारतीय समाज और समाज पर लागू होती नजर आती हैं। समाज, संस्कृति और राजनीति का चेहरा समूची दुनिया में बदला है। इस बदलाव के मूल में पूंजी की भूमिका है। एडोर्नो इसे उद्‌घाटित करते हैं। वे संस्कृति में रूपांतरित राजनीति और राजनीति की बदली संस्कृति को हमारे समक्ष रखते हैं। वे इस बात के लिए हमें सचेत करते हैं कि मनुष्य के रूप में और समाज की एक इकाई के रूप में हम इस परिवर्तन को परखें और 21वीं सदी के नये प्रश्नों को नये परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करें। मनुष्य के रूप में अधिक सचेत मनुष्य होकर इसे चुनौती दी जा सकती है।

संदर्भ

1. Dialectics of Enlightenment, Theodor W. Adorno, Max Horkheimer, Translated by Edmund Jephcott, 2002, Sandford California, P 6
2. Ibid, P 8
3. Ibid, p 19
4. Negative Dialectics, Theodor W. Adornc, Trans. by E. B. Ashton, 1973, Routledge, London, P 320
5. The culture Industry Selected Essays on Mass Culture, Theodor W. Adorno, 1991, Routledge, London, P 109
6. Ibid, P 112

नामवर सिंह : कुछ बातचीत, कुछ टिप्पणियाँ

- पी. एन. सिंह

(पी. एन. सिंह 'समकालीन सोच' पत्रिका के सम्पादक हैं और साहित्य–संस्कृति के वैचारिक विमर्शकार हैं)

माल गोदाम रोड, गाजीपुर

गाजीपुर जैसे छोटे जनपद में नामवरजी का आना यहां की वैचारिक-साहित्यिक मनीषा के लिए गौरव की बात हुआ करती है। उनको सुनना आननंदमयी ही नहीं बोधदायी भी होता है। जब मूड में होते हैं तो उनके मुख से शब्द नहीं मंत्र फूटते हैं और अपने सामान्य से समान्य श्रोताओं को भी वे उस रसभूमि तक ले जाते हैं जहाँ उन्हें कभी उनके शिक्षक आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ले जाया करते थे। नामवरजी ने अपनी लेखनी को ही नहीं अपने वाक् को भी साधा है जो एक विरल संयोग है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद नामवर सिंह हिन्दी मंच के चक्रवर्ती हैं। बहुतों को शिकायत है कि वाग-विदग्धता के चलते उनकी बहुत बड़ी लेखकीय क्षति हुई है। इस संदर्भ में केदारजी जैसे उनके आत्मीय को भी उनसे शिकायत है। एक सीमा तक शिकायत जायज भी हैं, लेकिन इसकी अपनी विशिष्ट उपलब्धियाँ भी हैं।

1 अप्रैल 2005 की शाम गाजीपुर के आदर्श स्कूल के प्रागंण में समकालीन सोच परिवार द्वारा आयोजित संगोष्ठी में नामवर सिंह का व्याख्यान उनकी समझ और ईमानदार सेक्युलर निष्ठा की अभिव्यक्ति भी था। पूर्व-निश्चित विषय था *'संस्कृति और समालोचना'*, लेकिन संगोष्ठी में उमड़ी भीड़ को देखते ही तत्क्षण विषय बना : 'हिन्दुवादी सांप्रदायिकता और अमीरकी युद्धवाद।' हिन्दू संस्कृति के संदर्भ-ग्रन्थ रामायण, महाभारत और मानस की परम्परा उनकी सेक्युलर व्याख्या के केन्द्र में रही। वैसे कुल मिलाकर, व्याख्यान विषय के दायरे में ही था। भारतीय संस्कृति के कतिपय प्राचीन मानको के संदर्भ में सांप्रदायिक हिंदुत्व की समालोचना प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अपनी मानवीय सेक्युलर परिप्रेक्ष्य को बारीकी से प्रस्तुत किया। समूचे व्याख्यान में अमूर्त सिद्धांत –कथन का सहारा नहीं लिया गया। चूंकि मंतव्य ठोस उद्धरणों एवं अनुभवों की रोशनी में मूर्त हुआ था, इसलिए निस्संदेह प्रभावी था। नामवरजी के व्याख्यानों की यही ताकत है। अंत में सोद्देश्यता उजागर होती है, फरमान के रूप में नहीं, निष्कर्ष के रूप में।

नामवर-केंद्रित इस संस्मरणात्मक आलेख में उनके तीन वक्तव्यों को उद्धृत करना चाहूंगा, क्योंकि ये वास्तविक

नामवर को समझने में सहायक है ;

1. *'सत्य के लिए किसी से न डरना। गुरु से भी नहीं, वेद से भी नहीं।'*

2. *'लोगों को जितनी शिकायते मुझसे है, उतनी मैं अपने आप से करता हूँ। इरादे बाँधता हूँ, जोड़ता हूँ, तोड़ देता हूँ।'*

3. *'आप हर सूरत में अनिवार्य हैं, हर सूरत में प्रासंगिक हैं, इसलिए आप से सबसे ज्यादा शिकायते हैं।'*

प्रथम वक्तव्य उनके गुरु हजारीप्रसाद द्विवेदी का है, दूसरा नामवरजी का अपना है, और तीसरा सुधीश पचौरी का उनके बारे में है। पहला उद्धृत वक्तव्य नामवर सिंह के साहसी बौद्धिक विवेक का परिचायक है। हमारी आर्य परम्परा में गुरु और वेद की केन्द्रीयता रही है। एक लंबे समय तक वेद-सम्मत होकर ही लोक-सम्मति पायी जा सकती थी। गुरु एवं आचार्य सम्मान्य ही नहीं सशक्त भी रहे हैं। आचार्य-सम्मत हुए बगैर विश्वविद्यालयों में नियुक्ति की गुंजाइश ही नहीं थी। इस स्थिति को नामवरजी से अधिक शायद ही किसी ने झेला हो। फिर भी, कुल मिलाकर, उनके जीवन का ग्राफ ऊर्ध्वगामी ही रहा है। उनका निर्माण अपने बलबूते हुआ है और नितांत प्रतिकूल परिस्थितियों में। उनके अकादमिक जीवन की एक-एक इंच जमीन उनके अध्ययन, अध्यवसाय और संघर्षों द्वारा कमाई हुई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ही उनके संबल थे, लेकिन वह बुनियादी मामलों में बिल्कुल मासूम थे। अतः वे जितने यशस्वी थे, उतने शक्ति सम्पन्न नहीं थे। किसी ने कही लिखा है कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में वे विभागाध्यक्ष जरूर थे, लेकिन नियुक्तियों के मामलों में नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ. नागेन्द्र की ही चलती थी, और इन दोनों ने नामवर सिंह को यथासंभव दरकिनार ही रखा। अतः नामवरजी हिन्दी की जटिल अकादमिक दुनिया में एक लंबे समय तक अकेले थे। उनकी शैक्षिक तेजस्विता और मार्क्सवादी विवेक उनके लिए ही अभिशाप थे। अतः उनका लेखक व्यक्तित्व आर्थिक एवं वैचारिक संघर्षों के ताप से पका है और इसी कारण अनेक प्रकार के झंझावतों के बीच भी तना रहा।

मैं 'म्यूट इस्लोरियस मिस्टन' के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता। प्रतिभा पाताल तोड़कर ऊपर आती है। प्रतिकूल परिवेश उसे परेशान कर सकता है। पराभूत नहीं कर सका। दरअसल प्रतिभा-प्रस्फुटन कभी निरापद नहीं होता, क्योंकि यह प्रकृत्या प्रवाह-पतित नहीं होता। कबीर हों या कार्ल मार्क्स, तुलसी हों या शेक्सपियर अथवा मिस्टर गाँधी हो या लेनिन, मुक्तिबोध हों या ग्राम्शी, अंबेडकर हों या मार्टिन लूथर किंग, सबने अपनी मौलिकता के चलते झेला है।

नामवरजी ने अपने वैचारिक संघर्ष की कीमत प्रायः एक दशक तक अकादमिक उपेक्षा एवं आर्थिक असुरक्षा के रूप में चुकाया है। उनके छोटे भाई काशीनाथ के निबंध *'गरबीली गरीबी वह'* के दो वाक्य कौंध जाते हैं, जब भी नामवरजी के बारे में कोई चर्चा होती है।

''मैंने आज तक किसी ऐसे आदमी की कल्पना नहीं की थी जिसके सारे दुखों, सारी परेशानियों, पराजयों, तिरस्कारों और अपमानों का विकल्प अध्ययन हो। चुनाव हारने और अच्छी खासी नौकरी जाने का सियापा घर में हो और वह आदमी खर्राटे ले रहो हों, या कमरा बंद करके किसी लेख की तैयारी कर रहा हो या पढ़ी गयी किताब से नोट ले रहा हो।''

संदर्भ 1959 का है जब नामवरजी चंदौली से सी.पी.आई. के प्रत्याशी के रूप में बाईइलेक्शन हारे थे। हार तो पूर्व-निश्चित थी, लेकिन कम्प्युनिस्ट पार्टी को कोई योग्य प्रत्याशी चाहिए था जो डॉ. लोहिया और कांग्रेसियों के लिए वैचारिक चुनौती बन सके। चुनाव बाद, सत्र समाप्त होते ही आठ-साढ़े आठ साल की विश्वविद्यालयी नौकरी चली गई। विश्वविद्यालय प्रशासन ने यू.जी.सी. की प्लान पोस्ट को बीच में ही समाप्त करने का निर्णय ले लिया और द्विवेदी जी चाहकर भी कुछ न कर सके। लेकिन द्विवेदी जी की ही पहल पर सागर विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डी. पी. मिश्र ने बिना प्रार्थना-पत्र एवं साक्षात्कार के, विभागाध्यक्ष आचार्य रामदुलारे वाजपेयी के विरोध के बावजूद सीधे प्रोफेसर पद पर अस्थायी नियुक्ति दी थी, जिसे वर्ष बीतते-बीतते आचार्य वाजपेयी ने, कुलपति के न चाहने के बावजूद, सत्र-समापन के साथ ही, विश्वविद्यालय

कार्यकारिणी से समाप्त करा दिया।

उस नियुक्ति के बारे में भी डॉ. नामवर सिंह ने एक दिलचस्प बात बताई। द्विवेदीजी ने डी. पी. मिश्र को व्यक्तिगत सिफारिशी पत्र भी लिखा था, जिसमें उन्होंने बी.एच.यू. की समूची घटना का विवरण दे दिया था। मिश्रजी ने उज्जैन विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति शिवमंगल सिंह 'सुमन' से भी पूछा था और उन्होंने भी नियुक्त संबंधी अपनी सहमति जताते हुए यह भी कहा था, *'मेधावी है लेकिन कम्युनिस्ट है।'* फिर भी सागर से कुलपति का तार मिला। नामवरजी सागर गए और कार्यालय में ही श्री मिश्र से मुलाकात की लेकिन कुलपति ने 8 बजे शाम आवास पर मिलने के लिए कहा। वे शाम को आवास पर थोड़ी देर से पहुँचे थे जिसका उन्हें स्पष्टीकरण भी देना पड़ा था। कुछ एक अनौपचारिक बातों के बाद श्री मिश्र ने सीधे पूछा था : *'आप कम्युनिस्ट है?'* जी! नामवरजी ने स्वीकारा। 'आपने चुनाव भी लड़ा है, तुरन्त दूसरा प्रश्न सामने था। जी, और हार भी गया', जवाब था। फिर मिश्रजी ने थोड़ी और गंभीरता से प्रश्न किया, 'अगर आपको यहाँ के प्रोफेसर पद और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच चुनाव करना पड़ा तो किसे चुनेंगे?' नामवरजी के उत्तर में शालीन दृढ़ता थी–'पंडीजी, वैसे तो दोनों के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है, और शिक्षक के रूप में ये दोनों के प्रति निष्ठावान रहा हूँ, लेकिन अगर चुनाव की विवशता आती ही है तो मैं कम्युनिस्ट पार्टी को ही चुनूंगा। मिश्रजी ने थोड़ी चुप्पी के बाद फिर पूछा–ऐसा क्यों, आप बेरोजगार हैं।' नामवरजी का तत्क्षण उत्तर था, 'पंडीजी, अगर इतने बड़े समझौते के साथ प्रोफेसरी चुनूंगा तो मैं अपनी ही निगाह में गिर जाऊंगा, और यह मेरे लिए आत्म-हत्या की स्थिति होगी। इतना ही नहीं, मैं अपनी निगाह में दो कौड़ी का आदमी हो जाऊँगा, और आप यह सोच सकते हैं कि भारतीय कम्युनिस्ट ऐसे ही दो कौड़ी के होते हैं। श्री मिश्र कांग्रेस के कद्दावर लोगों में थे और स्वाधीनता संग्राम के बड़े तपे थे। उनके पास राष्ट्रवादी उदार विरासत थी। वे भी मूलतः राजनीतिक व्यक्ति थे। उन्हें नामवरजी का उत्तर पसंद आया। मिश्रजी ने निर्णायक स्वर में कहा कि कल दस बजे कार्यालय से नियुक्ति-पत्र लेकर तुरन्त ज्वाइन कर लीजिए। नामवरजी थोड़ा असमंजस में थे, क्योंकि इसके लिए वह अपेक्षित तैयारी करके नहीं आए थे। लेकिन कुलपति ने पुनः कहा कि ज्वाइन करके दो-चार दिन पढ़ाकर छुट्‌टी ले लीजिएगा, नहीं तो विभाग में बहुत मुकदमेबाज हैं, स्टे आदि ले आ देंगे। उन्होंने आगाह भी किया-नन्ददुलारे वाजपेयी के साथ एडजस्ट कीजिएगा, वे आपकी नियुक्ति के पक्ष में नहीं हैं। तकनीकी दृष्टि से नियुक्ति अनियमित थी क्योंकि प्रोफेसर पद के लिए अपेक्षित 10 वर्ष के अनुभव में अभी एक-डेढ़ साल कम थे। वैसे मिश्रजी ने इसके लिए भी कानूनी औपचारिकता पूरी कर ली थी।

विभाग में वाजपेयीजी की तूती बोलती थी, और नामवरजी की प्रोफेसरी अस्थायी थी। अतः वही हुआ जो होना था। तरह-तरह के दुष्चक्र रचे गए। वैचारिक असहमति को अनुशासनहीनता और विरोध की संज्ञा की गयी। सेवा के स्थायीकरण के समय एक लंबा विभागीय आरोप-पत्र प्रस्तुत किया गया। परिणामतः उनकी सेवा समाप्त कर दी गयी। वी. एस. पाठक जैसे मित्रों ने न्यायालय की शरण लेने को कहा, लेकिन न्यायालय का दरवाजा तो बनारस में भी नहीं खटखटाया था, जहाँ इसके लिए पर्याप्त कानूनी आधार था। गुरुदेव ने कानूनी लफड़ों से बचने की सलाह दी थी। अतः इलाहाबाद होते हुए बनारस लौट आए। बाद में पता चला कि स्थायीकरण के पैनल में कुलपति ने आचार्य द्विवेदी को नामित किया था और कुलपति कार्यालय से पत्र निर्गत भी हुआ था, लेकिन उसे पोस्ट ऑफिस से ही गायब करा दिया गया था। कुछ ऐसी ही प्रतिकूल स्थिति 1969 में जोधपुर विश्वविद्यालय में भी पैदा करने की कोशिश की गयी थी जब कुलपति श्री वी. वी. जॉन ने नामवरजी को सीधे, बिना साक्षात्कार वगैरह के प्रोफेसर नियुक्त किया था। नामवरजी ने हंसते हुए बताया कि मेरी नियुक्तियों के संबंध में एक विचित्र बात यह रही है कि जहाँ भी मैंने अप्लाई किया वहां मेरी नियुक्ति नहीं हुई, और नियुक्तियाँ वहाँ-वहाँ होती रही है कि जहाँ के बारे में सोचा तक नहीं था, और बिना प्रार्थना-पत्र के हुई और उन लोगों द्वारा की गई जिनसे मेरा परिचय तक नहीं था। यह भी दिखता है कि नियुक्तियां

उनके द्वारा की गई जो हिन्दी से नहीं जुड़े थे। कहा यह भी जा सकता है कि हिंदी के मठाधीशों ने नामवर को यथासंभव दरकिनार करने का ही प्रयास किया और जो सीधे हिन्दी साहित्य से नहीं जुड़े थे उन्होंने उनकी प्रतिभा का सम्मान किया। इसे हिंदी विभागों में व्याप्त अकादमिक वातावरण पर एक गंभीर टिप्पणी के रूप में भी लिया जा सकता है। प्रसंगात नामवरजी ने यह भी बताया कि प्रोफेसर होने के बाद बहुत सारी नियुक्तियों में मेरी निर्णायक हस्तक्षेप रहा है, और कभी-कभार किसी का 'फेवर' भी करना पड़ा है, लेकिन वास्तविक मेरिट की कीमत पर कभी किसी का फेवर नहीं किया है और इसके चलते अनेक निकटस्थ लोगों की नाराजगी भी झेली है। इस संदर्भ में उन्होंने अपने जे.एन.यू. के हिंदी विभाग की विशेष चर्चा की।

मेरी समझ है कि प्रतिभा द्विवेदीजी के 'कुटज' की तरह होती है जो पाषाणवत् परिवेश की चुनौतियों को भी चीरती, अतिक्रान्त करती, ऊर्ध्ववत होती लहलहाती है। प्रतिभा, मनस्विता और साहस का संयोग व्यक्ति को विरल ऊंचाइयों तक ले जाता है। नामवरजी जहाँ पहुँचे हैं देर कर पहुँचे हैं। फिर भी अपनी अकादमिक उपलब्धियों के बावजूद वे लगभग एक दशक तक अकादमिक पीठों द्वारा उपेक्षित रहे। तेजस्वी शिक्षक थे और विभाग में दांत निपोर कर नहीं जी सकते थे। प्रतिभावान होने के साथ-साथ कम्युनिस्ट भी थे। प्रतिभा समझौता नहीं जानती और बहुतों को ईर्ष्यालु बनाती है। गुरुडम के उस दौर में कम्युनिस्ट होना तो शैतान होने जैसा था। विभागों के सामंती माहौल में लोगों के बीच प्रमुखतः रसवादी दृष्टि का ही बोलबाला था। वह *'फ्रीडम फॉर कल्चर'* का भी जमाना था जब साहित्य की *'स्वायत्तता'*, *'व्यक्ति-स्वातंत्र्य'* और *'अनुभूति की प्रमाणिकता'* के नाम पर अमरीकी पूंजीवाद भारतीय बुद्धिजीवियों के बीच अपनी वैचारिक जगह बना रहा था। हिंदी संसार में अज्ञेय जी इसके नेता और *'परिमल'* समूह अपनी लोहियावादी आक्रमता के साथ कम्युनिस्ट विरोध का साहित्यिक नेतृत्व कर रहा था। इतिहास और आलोचना, और वाद-विवाद-संवाद इसी वैचारिक संघर्ष की उपज हैं। इसी वैचारिक संघर्ष में नामवरजी का आलोचक व्यक्तित्व निखरा और कमोवेश प्रगतिशील बौद्धिक खंड का निर्माण एवं विस्तार हुआ और प्रगतिशीलता के साहित्यिक मानदंड कुछ उदार साहित्यिक बने जिसके लिए मार्क्सवादियों का एक उत्साही तबका उन्हें रूढ़वादी, अवसरवादी और समझौतावादी घोषित करता रहा। इस प्रकार उन्हें मार्क्सवादी मुल्लाओं से भी संघर्ष करना पड़ा था, जो साहित्य के रूपगत आवाम और उसकी निजता की अनदेखी करते थे और साहित्य को विचारधारा का पर्याय तथा साहित्यकार को पार्टी कार्यकर्ता मानते थे।

1991 में नामवरजी ने गाजीपुर में समकालीन सोच द्वारा आयोजित संगोष्ठी में लेखकीय प्रतिबद्धता को स्पष्ट करने के लिए रघुवंश से एक पंक्ति को उद्‌धृत किया था, 'बनाय पीत प्रतिबद्ध वतनां घेनुमृषैर्मुमोच' अर्थात् दूध पी चुकने के बाद (गाय को) जिसका बछड़ा (खूंटे) से बांध दिया गया हो, ऋषि ने जंगल में चरने के लिए छोड़ दिया। लेखकीय प्रतिबद्धता के संदर्भ में यह एक खूबसूरत एवं अभिव्यक्तिशील बिंब है। गाय अपने ममत्व से अनुशासित है। वह दूर बंधे बछड़े से संबद्ध जंगल में चरती है। दूध की यह अनिवार्य शर्त है। जंगल में यथासंभव दूरी तक उसे घूमना-चरना भी है, अन्यथा दूध की गुणवत्ता प्रभावित होगी। यहाँ बंधन और खुलापन दोनों हैं। यहाँ दूध साहित्य है, गाय रचनाकार, बंधा बछड़ा विचारधारा, और घूमना-चरना अध्ययन एवं अनुभव का विराट क्षेत्र। अगर गाय और बछड़े की परस्पर संबद्धता दूध की अनिवार्य शर्त है, तो दूध की मात्रा और गुणवत्ता की शर्त दाय का चरना-घूमना है। उस अवसर पर उन्होंने विचारशील प्रतिबद्धता की बात उठाई थी और *'अंध-प्रतिबद्धता'* की जगह *'ईमानदार संज्ञयवाद'* को अधिक समझदार, नैतिक लेकिन दुष्कर माना था। उन्होंने यह कहा था कि अगर रचना में विचारधारा अपनी घोषणा करने लगे तो वह रचना के लिए लाभकर तो नहीं ही रहती, ईमानदार भी नहीं होती। अंध आस्था की भी यही स्थिति है। आशय यह कि अंध प्रतिबद्धता चाहे लौकिक हो या पारलौकिक, रचनात्मक नहीं होती। रचना या आलोचना जिसमें अन्वेषण का भाव न हो, जिसके पास व्यक्तिगत सुख-दुख, उल्लास-अवसाद का बोध एवं

अनुभूति न हो और जो अमूर्त आस्था या विचारधारा को केंद्रीयता प्रदान करती हो, वह कालजयी नहीं हो सकती।

नामवरजी का कहना है कि अमूर्तन मानव-विरोध होता है। मार्क्सवाद, वेदांत, इस्लाम और हिंदुत्व ऐसी ही अमूर्त संज्ञाएं हैं। इनमें भिन्न हिंदू या मुसलमान मूर्त सत्य है जो मुस्कराता है, हंसता है, उल्लसित होता है या उदास होता है, दुःखी होता है, रोता है, बिलखता है। साहित्य व्यक्ति के इस सुख-दुख की अनदेखी नहीं कर सकता। दरअसल, सैद्धान्तिक अमूर्तन की ऊँचाई से व्यक्ति के छोटे-छोटे सुख-दुख नहीं दिखाई देते। कहा जा सकता है कि अमूर्त संज्ञाएं केवल समर्पण और शहादत मांगती है, और अंततः आदमी उनका लक्ष्य नहीं बल्कि उनका शिकार बनता है। इसके ठीक विपरीत विचारशील प्रतिबद्धता, थोड़ी मूक एवं अदृश्य, विचारधारा और साहित्य दोनों के लिए शुभ होती है। इससे व्यक्ति अपनी सोच-समझ और अनुभव-अनुभूति में सृजनात्मक होने का साहस दिखा पाता है।

नामवरजी ने पालेमिक्स भी की है और खूब की है। एक दौर में *'परिमल'* गुट के विरुद्ध और इधर रामस्वरूप चतुर्वेदी और रामविलास शर्मा के विरुद्ध। इधर छठें और सातवें दशक की पालेमिकल मुद्रा कुछ अतिरिक्त उग्रता के सात लौटी दिखती है, शायद इसलिए कि वह दौर भी असाधारण था। ये दोनों ही उग्र हिन्दूत्व को सांस्कृतिक आधार देने लगते हैं। फिर भी अगर डॉ. बच्चन सिंह को उद्धृत करूं तो नामवरजी की ये टिप्पणियाँ *'बैड टेस्ट'* में लिखी गयी है. अर्थात् बिंदु सही हैं, लेकिन अभिव्यक्ति में अनपेक्षित कटुता है, आक्रामकता है. ऐसी टिप्पणियाँ राजेन्द्र यादव और मुद्राराक्षस की कलम से फबती हैं, लेकिन नामवरजी की कलम से खटकती है। फिर भी कुल मिलाकर, नामवरजी अपनी आलोचना में अधिक सावधान और सृजनात्मक रहे हैं। परिमल संप्रदाय के विरुद्द अपनी 'पालेमिक्स' के बावजूद, उन्होंने विजयदेव नारायण शाही और रघुवीर सहाय की प्रतिभा को स्वीकारा और मुक्तिबोध को सृजन और आलोचना के एक मानक के रूप में प्रस्तुत किया। नयी कविता की समझ और समालोचना के लिए 'नयी समीक्षा' के आलोचनात्मक उपादानों को स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं दिखाई। निर्मल वर्मा को पहचानने में विचारधारा को आड़े नहीं आने दिया। असल में, भाषा, शिल्प एवं रूपगत उपलब्धियों के प्रति जो संवेदनशील नहीं है वह विश्वसनीय समालोचक नहीं बन सकता। दूसरी परम्परा की खोज में आचार्य शुक्ल को लेकर चूक हो गयी थी, क्योंकि केवल कबीर को ही निकष मानकर आचार्य शुक्ल को 'पहली परम्परा' से आत्यंतिरक रूप से सटा देना उचित नहीं था। दरअसल, आचार्य शुक्ल हिन्दी आलोचना के प्रस्थान-बिन्दु हैं जिनमें तरह-तरह की परस्पर-विरोधी स्थापनाएं संभव हैं। लेकिन मूल का एहसास हुआ और नामवरजी ने उनके निबंधों का एक सशक्त भूमिका के साथ संपादन किया और फिर अपने व्याख्यानों के माध्यम से अपेक्षित सुधार-परिष्कार कर लिया। गत 5 अप्रैल 2005 को विभूति नारायण राय के गाँव से लौटते हुए उन्होंने बताया था कि *'नए तथ्यों की रोशनी में मुझे पीछे हटने या अपने पूर्व की स्थापना को सुधारने में कोई हिचक नहीं होती।* यह भी बड़े साहस का काम है जो कम ही लोगों में दिखता है। आस्थावादी की तरह किसी पूर्व-निश्चित छोर से विश्वासपूर्वक आंख बंद किए बोलते अथवा लिखते जाना आसान है। छोर से केवल शर-संधान संभव है, समझ और व्याख्या नहीं। छोरों के बीच संवाद नहीं बनता। 'इक्सक्लूसिव सत्य' नहीं बल्कि 'कस्टीट्यूटिव सत्य' संवाद निर्मित करता है। संवाद निर्मित करने की ताकत नामवरजी को अन्यों से अलग करती है। आखिर समालोचना सर्वप्रथम कृति के सात खुला, संवेदनशील संवाद ही तो है। इसी करण नामवरजी का सबसे विवाद है, फिर भी वह सबके लिए अनिवार्य है, जितना राजेन्द्र यादव या अशोक बाजपेयी के लिए उतना ही रामवक्ष या अजय तिवारी के लिए भी।

अब तक नामवर सिंह के निर्माण की चर्चा हुई थी जिसमें यह बताने की कोशिश ती कि उनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन टामस ग्रे के 'म्यूट अस्लोरियस मिल्टन' के सिद्धान्त का खुला उल्लंघन है। अर्थात् नामवर सिंह प्रतिकूल परिस्थितियों की धधकती आग में बढ़े-पके हैं और इस रूप में उनके अकादमिक जीवन की एक-एक इंच

जमीन अर्जित है। यूं तो शरीर भी गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध अपने अस्तित्व को एसर्ट करता है, लेकिन अगर यह एसर्शन सामाजिक, वैचारिक अथवा सृजनात्मक है तो यह यांत्रिक अथवा सहजात नहीं होता। इसमें स्वीकार-अस्वीकार, समझौता-संघर्ष, अग्रसरण-अपसरण, अलाप-संताप इत्यादि के टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़ सस्ते होते हैं। इसमें असीम भटकावों के बीच भी एक अनवरत झिलमिलाता केंद्रीय संकल्प होता है, जिसके अभाव में बड़ी से बड़ी प्रतिभा भी अपना कोई चिह्न नहीं छोड़ पाती।

इस तरह गाजीपुर प्रवास में उनसे बातचीत का अकूत अवसर मिला था, जिसमें अपनी ओर से नामवरजी की इसी केंद्रीयता को समझाने की चेष्टा थी।

उन्होंने अपने जीवन के तीन मार्गदर्शक सिद्धांतो को कुछ यों सूत्रबद्ध किया था :

- एक, आत्म-सम्मान की कीमत पर कुछ भी नहीं किया है और इसके लिए जीवन में संघर्ष तो करना ही पड़ा है, बहुत कुछ खोया भी है।
- दो, जीवन में उऋण होते रहने की अनवरत चेष्टा करता रहा हूँ, अर्थात् किसी ने जिन्दगी के किसी भीड़ पर अगर उपकार किया है तो चुपचाप यथासमय और यथासंभव उसे लौटाने के लिए प्रयासरत रहा हूँ और
- तीन, नए तथ्यों और तर्कों की रोशनी में अपना सतत् पुनरीक्षण करता रहता हूँ जिसके लिए आलोचना का पात्र भी बनता रहा हूँ। मुझे 'कन्सिस्टेंसी' अर्थात संगति की चिंता नहीं रहती। वस्तुतः मैं तो जड़ प्रतिबद्धता को बंजर मानता हूँ, जिससे न व्यक्ति ही समृद्ध होता है और न विचारधारा अथवा व्यवस्था ही।

ये तीनों ही उनके निजी, सामाजिक एवं अकादमिक जीवन-बोध के केन्द्र में हैं जिनके चलते नामवर –'नाम-वर' बने हैं।

दरअसल, नामवरजी अकादमिक संबंधों की विराट दुनिया के आदमी हैं, जिसमें पसंदगी-नापसंदगी के पैमाने बिल्कुल भिन्न होते हैं। इसमें सगे-संबंधियों की पिटी-पिटायी अपेक्षाओं के लिए जगह नहीं होती। इसमें निर्वाह नहीं, निर्णय चलता है। यहाँ विचारधारात्मक और काव्यशास्त्रीय मानक आड़े आते हैं। नामवरजी, डॉ. बच्चन सिंह की ग्राम्शी संबंधी समझ को प्रश्नांकित करते हैं और उनके समूचे समालोचनात्मक लेखन को 'औसत दर्जे' का बताते हैं और डॉ. बच्चन सिंह कविता के नए प्रतिमान की मौलिकता को प्रश्नांकित करते है और दूसरी परम्परा की खोज के निष्कर्षों से सर्वथा असहमत हैं। केदारजी अपनी स्वाभावगत शालीनता के साथ नामवरजी के आलोचक-व्यक्तित्व के भविष्य के प्रति आश्वस्त नहीं दिखते, और नामवरजी केदारजी के कवि -व्यक्तित्व को श्रीकान्त वर्मा का दर्जा भी नहीं देते, क्योंकि इनकी 'लाइक्स-डिस्लाइक्स' में स्पष्टता एवं दृढ़ता का अभाव है।

गीतकार ठाकुर प्रसाद सिंह ने एक अनौपचारिक बातचीत में मुजे बताया था कि *'नामवर बहुत ही शरारती आलोचक हैं'*, और इस पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने अपना एक अनुभव सुनाया था। एक गीत-संकलन, संभवतः 'दो जोड़ बांसुरी' की समीक्षा लिखाने के लिए वह लखनऊ से दिल्ली गए थे। उम्र में नामवरजी से बड़े थे और आरम्भिक दिनों में नामवरजी उनके आवास पर कुछ दिनों तक रहे थे और उन्होंने इनकी मदद भी की थी। इस स्मृति के साथ वे दिल्ली पहुँचे थे। नामवरजी ने संकलन के गेटअप इत्यादि की तारीफ तो की कई-एक गीतों को भी सराहा, लेकिन समीक्षा लिखने में साफ इन्कार करते हुए कहा कि इससे 'हाथ कट जाएगा' और प्रस्ताव रखा कि दिल्ली से एक लोकार्पण समारोह आयोजित किया जाय जिसमें पुस्तक पर बोल दूंगा और इसे अपेक्षित पहचान मिल जायेगी। यही किया भी। अग्रज नवगीतकार शम्भुनाथ सिंह के आयोजन में मुख्य वक्तव्य देते हुए उन्होंने नवगीत को खारिज कर दिया जिसका मलाल उमाशंकर तिवारी और गुलाब सिंह को अभी हाल तक रहा है। वैसे शंभुनाथजी खुश थे कि *'चलो नामवर आया तो'*।

नामवरजी के कथन और लेखन में जो जगह-जगह फांक दिखती है वह उनके व्यक्तिगत संबंधों, उनकी साहित्यिक मान्यताओं एवं अपेक्षाओं के बीच के तनाव के चलते हैं। इसे कुछ लोग 'मुंहदेखी' बताकर उन्हें निन्दित भी

करते हैं। ऐसे लोग संबंध और सिद्धान्त के कशमकश को दरकिनार कर सोचते हैं, जिसके बिना व्यक्ति या तो अप्रमाणिक है या ठूंठ अमूर्तन का शिकार। नामवर की अर्थवता इसमें है कि इस कशमकश के बावजूद उन्होंने लेखन में अपना आलोचकीय विवेक बचाए रखा। वर्ष 2003 के लिए साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत कमलेश्वर की चर्चित कृति 'कितने पाकिस्तान'? पर टिप्पणी देते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा था कि यह एक 'कमजोर किताब' है, कुल मिलाकर उपन्यास न होकर 'सनसनीखेज पत्रकारिता' है। नामवर और कमलेश्वर प्रलेस में वैचारिक सहचर रहे। और इसलिए ही यह टिप्पणी नामवर के आलोचकीय विवेक का प्रमाण है।

नामवरजी लेखक हैं, आलोचक है और वार्ताकार भी हैं और इन्हीं रूपों में वे कृतज्ञता-ज्ञापन भी करते रहते हैं। एक लेखक से यही अपेक्षा भी बनती है। गाजीपुर में बातचीत के दौरान अपने लेखकीय व्यक्तित्व के विकास के संदर्भ में वे गांव के स्कूली अध्यापक जयचन्द सिंह, यू.पी. कॉलेज के तारा प्रसाद सिंह और मार्कण्डेय सिंह तथा बी.एच.यू. के आचार्य केशव प्रसाद मिश्र और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की चर्चा किसी-न-किसी रूप में करते ही रहते हैं। स्कूली अध्यापक जयचन्द सिंह ने अध्ययन के प्रति चाह जगाई, अंग्रेजी के अध्यापक तारा प्रसाद सिंह ने व्याकरण का बोध दिया जो हर अशुद्धि को 'वन मर्डर' (एक हत्या) के बराबर बताते। इस संदर्भ में वे कॉलेज के तपे-तपाए 'हिन्दुस्तानी-अंग्रेज' प्रिंसिपल जे.पी सिंह को भी नहीं बख्शते थे जो अंग्रेजी के ज्ञाता के रूप में प्रतिष्ठित थे। वे उनकी अंग्रेजी में लिखी 'नोटिसेज' में भी अपेक्षित सुधार के बाद लौटा देते, क्योंकि वे प्राचार्य और शिक्षक के स्तर पर अशुद्धियों का होना अक्षम्य मानते। नामवरजी मारकण्डेय सिंह की साहित्यिक प्रतिभा से अभी भी अभिभूत रहते हैं। उन्हीं से साहित्यिक संस्कार मिला जिसके बलबूते नामवर ने हिंदी साहित्य में चलना सीखा। मारकण्डेय सिंह रीतिकालीन संस्कारों वाले व्यक्ति थे और अपनी साहित्यिक क्षमता के चलते उनका संबंध महाविद्यालयी अध्यापकों से कम, शहर और विश्वविद्यालय के साहित्यिक दिग्गजों से अधिक रहता। उनके बारे में नामवरजी ने एक रोचक संस्मरण भी सुनाया। सेवाकाल के अंतिम दिनों में पी.एच.डी. एक विवशता बनी, क्योंकि विभाग में नवागन्तुक प्रवक्ता डॉ. मोती सिंह अपनी डॉक्टर उपाधि के चलते श्रेष्ठता-बोध से पीड़ित रहते और इसी आधार पर वे मारकण्डेय सिंह की विशिष्ठता को अतिक्रान्त कर विभागाध्यक्ष भी हो जाते। उस समय नामवरजी बी.एच.यू. में पढ़ाने लगे थे और आचार्य द्विवेदी के विश्वासपात्र भी थे। मारकण्डेय सिंह ने द्विवेदीजी के निर्देशन में शोध करने का निश्चय किया। दोनों एक दूसरे से परिचित भी थे, लेकिन शोध के संदर्भ में नामवरजी ही माध्यम बने। बातचीत हुई और रीतिकाल के शास्त्रीय आयाम पर मारकण्डेय सिंह ने एक भारी-भरकम एवं गंभीर सिनॉप्सिस लिखी और द्विवेदी जी को उनके आवास पर सुनाया। द्विवेदी जी ने कोई टीका टिप्पणी न कर उनके वैदुष्य की प्रशंसा की और उसे ही रजिस्ट्रेशन हेतु प्रस्तुत करने को कहा। वहाँ से रिक्शे पर लौटते समय मारकण्डेय सिंह ने कुछ यूं कहा–'अब मैं इनके साथ शोध करूँगा। मेरी सिनॉप्सिस की स्थापनाओं में अनेक त्रुटियां हैं। जिनकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया-तुम्हारे गुरु के पास विस्तार तो है, लेकिन गहराई नहीं है और इसलिए अब शोध की बात समाप्त। बी.एच.यू. में वह किसी और को ऐसा नहीं मानते थे, जो उनका शोध-निर्देशक हो सके।'

नामवरजी पं. केशव प्रसाद मिश्र की भी प्रशंसा करते नहीं अघाते। आचार्य मिश्र के पास हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी का अगाध ज्ञान था और अपने छात्रों को काव्य के रक्षात्मक मर्म को समझाने और उसे अपने छात्रों की अनुभूति के स्तर तक उतार देने की उनमें विरल क्षमता थी। आदर्श शिक्षक के रूप में नामवरजी आचार्य मिश्र की ही विशेष चर्चा करते रहे। काव्य का मर्म काव्य में प्रयुक्त, शब्द की लय में है और मिश्रजी के पास उस लय की पकड़ थी। प्रगतिशील समालोचना में वैचारिकता के लिए जगह बताते हुए नामवरजी ने काव्यत्व को जो मुखरता दी है वह आचार्य केशव प्रसाद मिश्र द्वारा पैदा किए गए संस्कारों का ही परिणाम है। वैसे नामवरजी का अपना काव्य-संस्कार कमजोर नहीं था, जैसा कि उनके आरंभिक गीतों के फुटकल उद्धरणों में दिखता है।

हिन्दी समालोचना के तीन प्रमुख समालोचकों-रामचन्द्र शुक्ल, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह ने कविताएँ भी लिखी हैं। प्रथम दो के काव्य-संकलन प्रकाशित हैं, लेकिन नामवरजी का अभी तक प्रकाशित नहीं है। इसके प्रकाशित हो जाने के बाद ही इन तीनों की काव्य-संवेदना का तुलनात्मक अध्ययन रुचिकर होगा और संभव है इनमें इन तीनों की आलोचकीय विशिष्टताओं के संदर्भ में कुछ रोशनी भी मिल जाए। जहाँ तक आचार्य द्विवेदी से लगाव और उनके व्यक्तित्व के प्रभार का प्रश्न है, वह तो नामवरजी के व्याख्यानों के दौरान अनवरत उजागर होता रहता है। बिना 'गुरुदेव' के उल्लेख, संस्मरण अथवा संदर्भ के उनका कोई व्याख्यान पूरा ही नहीं होता। *'दूसरी परम्परा की खोज'* गुरुदेव की प्रतिभा की सर्वोत्तम नजराना है।

अपनी बातचीत, व्याख्यानों एवं पत्रकार-वार्ता के दौरान नामवरजी ने तुलसीदास, महात्मा गाँधी, रामविलास शमा और राहुल सांकृत्यायन की भी विशेष चर्चा की। 'सांस्कृतिक संकट' पर गाजीपुर में बोलते हुए उन्होंने तुलसीदास के 'मानस' को केन्द्र में रखा और उसे पारिवारिक एवं सामाजिक मर्यादाओं के मानकग्रंथ के रूप में परिभाषित किया। नामवरजी के लिए 'मानस' सामाजिक समालोचना का वैसा ही कालातीत मानक संदर्भ है जैसा कि एफ.आर लीबिस के लिए कल्चर अर्थात संस्कृति थी। अतः तुलसी के संदर्भ में गढ़ा गया दलित-विमर्श या राहुल-यशपाल-रांगेय राघव का मार्क्सवादी विमर्श उन्हें 'नासमझ' लगता है। वे पूछते है-तुलसी की हिन्दी साहित्य से खारिज कर देने पर इसमें क्या और कितना महत्वपूर्ण बचेगा?' लेकिन ध्यातव्य है कि 'दूसरी परम्परा की खोज' में नामवरजी ने तुलसी को वर्ण-संस्कृति का प्रतीक माना है और उनकी वर्णवादी परम्परा में आचार्य शुक्ल एवं रामविलास शर्मा को रखकर एक वैकल्पिक 'दूसरी परम्परा' को रेखांकित किया है, जिसके केन्द्र में कबीर और आचार्य द्विवेदी हैं। द्विवेदीजी तो अपने आरंभिक दौर से ही काशी के ब्राह्मणों के बीच 'शूद्र' की तरह रहे-'ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत'।

लेकिन लगता है कि इधर नामवरजी की दृष्टि बदली है और अब वह परम्परा को सांप्रदायिक दोहन से बचाना चाहते हैं। वर्तमान हिंदुत्व इसे सांप्रदायिक बनाकर विकृत कर रहा है। 'रामायण', 'महाभारत', 'मानस', कबीर और भारतेन्दु को अपने सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श के केन्द्र में रखने के पीछे नामवरजी की यही चिंता काम कर रही है। लगता है, इधर रामविलास से दूरी घटी है और दोनों ही मुख्यधारा के पक्ष में लगभग खड़े हैं। अंतर इतना है कि रामविलासजी उत्साह में अक्सर परम्परा की कमजोरियों की अनदेखी करते हैं, नामवरजी निषेधात्मक को छिपाए बगैर सकारात्मक पक्षों पर रोशनी डालते हैं।

नामवरजी अब गाँधी को भी केन्द्र में रखने लगे हैं। अपने मऊ के व्याख्यान में उन्होंने गाँधी पर विशेष बल दिया। उससे पूर्व मैंने समकालीन सांप्रदायिक परिवेश में गाँधी की अर्थवत्ता को रेखांकित करते हुए प्रलेस से जुड़े लेखकों से निवेदन किया था कि पूर्वग्रहों से मुक्त होकर वे स्वयं को उस शहीद महात्मा की भूमिका में देखें। कथाकार शकील ने इस आवश्यकता को पुनः रेखांकित किया था। अतः अपने समापन-वक्तव्य में नामवरजी ने वर्तमान भारत की तुलना 1921-22 और 1930-31 के भारत से करते हुए कहा था कि स्थिति उतनी ही गंभीर है, लेकिन हमारे बीच कोई गाँधी नहीं है। दूसरे दिन 6 अप्रैल को गाजीपुर में आयोजित पत्रकार-वार्ता में उन्होंने उस महात्मा को पुनः याद किया–'गाँधी अभी भी एक प्रभाव एवं विश्वसनीय नैतिक संदर्भ है और देश से राजनीतिक विवेक की कसौटी है। नामवरजी ने भारत-पाक संबंधों में अपेक्षित सुधार के लिए गाँधी के रास्ते की ही वकालत की और कहा कि एटम बम की धमकी देना छोड़कर अच्छा पड़ोसी बनने की गाँधी जैसी पहल होनी चाहिए।' वर्तमान वैश्वीकरण और बाजारीकरण के वैचारिक दबाव के प्रतिरोध में उन्होंने 'हिंद स्वराज' की अर्थवत्ता को भी रेखांकित किया। मेरी भी समझ है कि पुर्वग्रहों एवं विचारधारात्मक जुड़ता से मुक्त होकर महात्मा गाँधी की प्रगतिशील पुर्नपाठ होना ही चाहिए। हुआ भी है, लेकिन पर्याप्त नहीं। भाजपा-ठाकरे राज में गोडसे के बयानों को 'गाँधी-वध' जैसे शीर्षक से छाप कर बेचना, यह बताता है कि सांप्रदायिक सोच का प्रभावी प्रतिरोध अभी भी गाँधी ही है। भूलना न होगा, गाँधी साम्प्रदायिक सोच एवं व्यवहार

के राष्ट्रव्यापी, देशज एवं व्यावहारिक प्रतरोध है, वे कोई आयातित वैचारिक निर्मित या अमूर्तन नहीं है।

रात में खाना खाते समय मैंने कहा था कि मेरे एक मित्र डॉ. रामानन्द राय बी.एच.यू में अंग्रेजी के प्रोफेसर है। उन्होंने एक दिन फोन से मुझे बताया कि उन्होंने आपको परिसर के विश्वनाथ मंदिर के सामने दूर सड़क पर सुबह-सुबह ध्यानमग्न, खड़े देखा था। कोई अन्य लोगों ने भी आप में आ रहे धार्मिक रुझान की मुझसे चर्चा की है जिसमें डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव भी शामिल हैं। कई एक तो यह तक कहते हैं कि हर बूढ़े मार्क्सवादी की यही नियति है।

इस पर नामवरजी ने सविस्तार अपनी बात कही। उन्होंने अपने छात्र-जीवन की चर्चा की और बताया कि नवरात्रि में मैंने गंगा-स्नान के बाद भीगी धोती, आधी पहने और आधी ओढ़े, 03 बजे रात्रि में जलाभिषेक किया है। त्रिलोचन ने भी ऐसा किया है। लेकिन वह 50-60 साल पुरानी बात है। मंदिरों को गौर से देखना, उनके आक्रिटेक्चर को बारीकी से देखने-समझने का प्रयास करना, मूर्तियों की बनावट को देखना-परखना, वहा उमड़े भक्तों के भाव-बोध को समझने का प्रयास करना, कोई बुरी बात तो नहीं है। अगर चर्च और मस्जिद की संरचना को देखना-समझना बुरा नहीं है तो फिर मंदिर को ही देकना बुरा क्यों? उन्होंने कहा कि भक्त-दृष्टि को समझने की कोशिश करता हूँ और उसे समझने का मतलब है भक्त की सांस्कृतिक दृष्टि को समझना। अगर नामवरजी की दृष्टि यही है तो इससे असहमत नहीं हुआ जा सकता। साहित्यकार के लिए अनुभव का कोई भी कोना निषिद्ध नहीं है। नामवरजी हिन्दू धर्म को मूलतः 'उदार और समावेशी' बताते है और अपने 'गुरुदेव' को याद करते हुए कहते हैं कि कर्मकांड एवं अन्य ब्राह्माचारों को धर्म नहीं कहा जा सकता। बात सही लगती है, लेकिन समस्या यह है कि कर्मकांडों से मुक्त धर्म की परिकल्पना भी संभव नहीं लगती। यह सही है कि धर्म दुःख की अभिव्यक्ति ही नही, उसका प्रतिरोध भी है, लेकिन व्यवहार में उसकी भूमिका विरेचक की है, जिसकी परिणित व्यवस्थागत स्थितियों एवं बुराईयों से समझौता था उनके प्रति उदासीनता भी है। अतः 'आखिरी कलाम ' (उपन्यास) में दूधनाथ सिंह इस धार्मिक चेतना से टकराते दिखते हैं, लेकिन नामवरजी धार्मिक चेतना की ओर से होकर बोलते से लगते है। चाहे विवशता जो हो, इसी संदर्भ में इन्होंने आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की चर्चा की जो विद्वान होने के साथ-साथ स्मार्ताग्रही, नैमिष्टिक ब्राह्मण भी थे। लेकिन बुढ़ापे में संन्यासी की तरह रहते और छुआ-छूत आदि की भावना को बिल्कुल अतिक्रमित कर गए थे। नामवरजी के इस उदाहरण से गाँधी की एक बात अवश्य पुष्ट होती है कि छूत-अछूत की भावना हिन्दू धर्म की खासियत नहीं है, जैसा कि डॉ. अंबेडकर सोचते थे, बल्कि यह एक रोग है, जिसका उपचार संभव है। अब तो मुझे भी लगता है कि लोकप्रिय धर्म आमजन की मानसिक आवश्यकता है, और वर्तमान तकनीक-संचालित सांस्कृति रेगिस्तान में धर्म एक महत्वपूर्ण सर्वसुलभ नखलिस्तान है। काव्य की भी यही स्थिति है जिसकी सूचना मैथ्यू अर्नल्ड ने 19वीं सदी के सातवें दशक में ही दे दी थी। अर्नल्ड ने काव्य को धर्म का संभावित विकल्प मान लिया था, लेकिन अभी भी दोनों का सहअस्तित्व कायम है, व्यवस्था-समर्थक और व्यवस्था-विरोधी दोनों ही रूपों में।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के बारे हमें नामवरजी ने कुछ बातें बताई जिसका मन पर गहरा असर हुआ। एक, राहुलजी कभी गुस्से में नहीं आते थे। तीखी से तीखी व्यक्तिगत आलोचना को भी वे हंसते-हंसते चाल जाते थे। दो, उन्हें कभी किसी व्यक्ति की शिकायत करते नहीं सुना गया। अगर उनसे कोई शिकायत करता भी तो वह ध्यान हटा लेते और पढ़ने-लिखने लगते, और अगर इतने के बावजूद भी शिकायत चालू रहती तो उठकर चले जाते। टोकते नहीं थे, या तो उदासीन हो जाते या अनुपस्थित। तीन, बातचीत विमर्श के दौरान वे केवल अपना पक्ष रखते, और उसे कभी किसी पर आरोपित करने का प्रयास नहीं करते। अतः उनके साथ संवाद में कभी गतिरोध नहीं पैदा होता। और चार, उनकी समझ स्पष्ट और टिप्पणियां बेबाक होती।

एक बार राहुलजी ने नामवरजी का आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा पर एक पुस्तक संपादित करने की राय दी, यह

कहते हुए कि आधुनिक काव्य में उनका प्रवेश नहीं है। नामवरजी कवियों और उनकी रचनाओं की सूची के साथ कुछ दिनों बाद उनसे मिले। बातचीत के दौरान राहुलजी की टिप्पणियों एवं प्रेक्षणों से उन्हें लगा कि वे आधुनिक हिन्दी काव्य की सूक्ष्मताओं से भी परिचित थे। नामवरजी में प्रसाद को संकलित करने में कुछ झिझक थी, शायद राहुलजी की अपनी साहित्य-दृष्टि के चलते। लेकिन उन्होंने जयशंकर प्रसाद को उसमें शामिल करने और मैथिलीशरण गुप्त को शामिल न करने की सलाह दी। राहुलजी की दृष्टि में प्रसाद में एक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ सशक्त काव्यत्व है, जबकि मैथिलीशरण गुप्त का लेखन 'प्रतिक्रियावादी' है और उनकी कविता 'अति सामान्य' है। यशोधरा की चर्चा करते हुए उन्होंने 'सखि वे मुझसे कहकर जाते' को उद्धृत किया और प्रश्न किया कि 'अगर कह-पूछकर जाना चाहते तो क्या जा पाते या पारिवारिक पचड़े में ही एक सामान्य व्यक्ति की तरह पड़े घिसटते रहते?' इस बेबाक टिप्पणी में एक मूलभूत सच्चाई है कि परिवार ऐसा एक दलदल है जिसमें फंसना एक भयानक विवशता है। अनगिनत क्षमतावान लोग भी छोटी-छोटी वफादारियों के फंदों में फंसे छोटे बने रह जाते है। संभवतः गाँधी अपवाद थे जिन्होंने पारिवारिक जिम्मेदारियों के बीच भी अपनी राष्ट्रीय शर्तों को कायम रखा। शायद अपनी टिप्पणी के माध्यम से राहुलजी अपनी सफाई दे रहे थे, और इसे याद रखकर नामवरजी अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए-से लगे। लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है राहुलजी के प्रति नामवरजी की दृष्टि जो रामविलासजी की दृष्टि से बिल्कुल उल्टी है। रामविलासजी राहुल से केवल टकराते हैं और इसलिए उनके राहुल-व्यक्ति को लेकर शुद्धतावादी भर्त्सना से अधिक कुछ नहीं मिला।

बातचीत के दौरान ही नामवरजी ने आलोचना के दायित्व की भी संक्षिप्त चर्चा की। इस दायित्व के ईर्द-गिर्द उन्होंने कोई प्रभामंडल नहीं रचा। मात्र इतना भर कहा कि 'अगर रचना का दायित्व है रचना के स्वर को पकड़ना, उसकी रसभूमि तक पहुँचना और साहित्य के सामान्य पाठक को इस तक पहुँचने में मदद करना।' लेकिन अद्यतन आलोचना के दायित्व को इतने से ही नहीं सिमटाया जा सकता। आज का आलोचक मूलतः विमर्शकार है, और वह रचना की रसभूमि पर कम उसकी विचार-भूमि पर अधिक टिकता है। टेरी इगल्टन का कहना है कि पारंपरिक आलोचना आत्म-विलोपी (सेल्फ एबॉलिशिंग) रही है और आज की समालोचना 'टेक्स्ट' से आरम्भ होती तो है, लेकिन इसी में खप नहीं जाती। यह इसे अतिक्रान्त कर सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श का रूप लेती है। अर्थात् आलोचना भी एक विचार-संरचना है, मात्र व्याख्या या टीका नहीं। दरअसल, किसी रचना की रसभूमि तक पाठक को पहुँचाने में मदद करना, अर्थात् साधारणीकरण में मदद करना रचना के उपभोग में मदद करना, उसके विवेचन-विश्लेषण में नहीं। नामवरजी स्वयं भी आलोचना के इस रसवादी आग्रह से असहमत हैं।

इस जिज्ञासा पर कि कहानीपन क्या है? नामवरजी ने कहा कि 'कहानीपन' या 'काव्यत्व' की कोई ठोस, मूर्त परिभाषा देना संभव नहीं है। बहुत सारे साहित्यिक उपकरणों के मेल से कुछ बनता है जो काव्यत्व या कहानीपन का एहसास दे जाता है। इसकी परिव्याप्ति समूची कृति में होती है। यह कोई स्थूल वस्तु नहीं है जिसकी अवस्थिति को किसी बिन्दु पर पहचान कर परिभाषित किया जा सके। उन्होंने रूप और काव्य की अन्विति की बात भी उठाई और कहा कि 'रूप भी काव्य का ही रूप है।' वस्तुतः यही मूल मार्क्सवादी दृष्टि भी है। इसी संदर्भ में एस. एस. प्रावर ने अपनी पुस्तक *मार्क्स एंड वर्ल्ड लिटरेचर* में मार्क्स को उद्‌धृत किया है-फार्म इज नथिंग वट द फार्म ऑफ द कन्टेन्ट। अर्थात तथ्य से तय होता है कि रूप क्या होगा? सफल कृति में विषय-वस्तु को अपना स्वाभाविक रूप मिला है। यह घट और जल के बीच उपलब्ध लगता है जिसे कन्टेन्ट या काव्य कहते है। वैसे नामवरजी ने यह कहा कि रूप भी काव्य के स्वरूप को प्रमाणित करता है। इस स्थापना में कोई दोष नहीं है। इनकी डायलेक्टिक्स को ध्यान में रखना ही होगा, लेकिन काव्य की केन्द्रीयता के साथ।

सारनाथ में आयोजित 'संगमन-9' (अक्टूबर 11-13, 2003) में अपने दूसरे दिन के वक्तव्य में नामवर जी ने कहानीकार के व्यक्तिगत अनुभव की पूंजी को अपर्याप्त बताते हुए, उसे 'प्रोफेशनल' बनाने की सलाह दी थी।

उन्होंने गुलेरी बनने का सपना छोड़कर प्रेमचंद का रास्ता अपनाने पर बल दिया। प्रेमचंद का लिखा हुआ मात्र अनुभवपरक नहीं है। 'कफन' के घीसू और माधव प्रेमचंद के अनुभव के हिस्से नहीं थे। इतना ही नहीं, यह कहानी 1935 में जामिया मिलिया में एक रात में लिखी गई थी जहाँ के तात्कालिक अनुभव से कहानी को कुछ लेना-देना नहीं था। कहानी मूलतः गल्प है। कल्पना-लोक को सृजित करने की क्षमता ही प्रमुख है। अगर कलात्मक-बोध है तो बात-बात से बात निकलती रहती है। एक विचार आता है और फिर स्मृतियों का मेला लग जाता है। 'ईदगाह' में यह पहले से तय है कि हामिद चिमटा ही खरीदेगा और अन्य बच्चे खिलौने खरीदेंगे। इसके बाद मेले का सफर, मेले में खरीद-बिक्री, बच्चों का उत्साह, उनके आपसी तर्क-वितर्क, इत्यादि सब कुछ कल्पना का खेल है, गल्प है, और इसी में कहानीपन निहित है। कुल मिलाकर यह समझ सही है। किसी कृति की समझ और उसके आकलन-मूल्यांकन के लिए हमेशा कृतिकार के निजी अनुभवों और उसके विचारधारात्मक प्रतिबद्धताओं की ओर लौटना फलदायी नहीं होता। कलरिज के शब्दों में कहें तो अगर कथाकार संदेह को टालने की भित्ति निर्मित कर पाता है, अगर यह कनविन्सिंग है, पाठक को अपने साथ ने चलने में सक्षम है, तो कृतित्व सुरक्षित है। आशय यह कि कहानीपन के केन्द्र में कला है, विश्वसनीय स्वप्नलोक गढ़ने की ताकत और हुनर है, लेखक का अनुभव अथवा सरोकार नहीं। स्मृतियाँ कलम की जाती हैं। कहानी कलमी आम है, बीजू आम नहीं। नामवरजी के वक्तव्यों एवं लेखन में इस प्रकार की स्थापनाएँ उनके आलोचकों का ध्यान खींचती हैं जो उन पर रूपवादी होने की तोहमत लगाते हैं। कविता के नए प्रतिमान में यह रूपवाद अपने चरम पर है। लेकिन इस सबके बावजूद, नामवरजी ने प्रगतिशील आलोचना को थोड़ी रूप-चेतना दी है, इसे संतुलन दिया है। आखिर, रूपगत विशिष्टताएँ ही साहित्य को अन्य विधाओं से भिन्न एवं विशिष्ट बनाती है। ये भी उसकी निजता की एक पहचान है।

बातचीत दलित साहित्य, अस्मिता और राजेन्द्र यादव की ओर मुड़ गई। नामवरजी को दलित रचनाकार दलित विरोधी मान रहे हैं। यह बात उचित नहीं है। नामवर सिंह ने दलित रचनाकारों से गुणात्मक अपेक्षा की है, उनका विरोध नहीं किया है। हाँ, उसके इस दावे को जरूर अस्वीकार किया है कि दलित ही दलित जीवन पर लिखने का हकदार है। नामवरजी 'स्वानुभूति' से 'सहानुभूति' को कम महत्ता नहीं देते। कहानीकार के संबंध में जब भी वे लेखकीय अनुभव की सीमा की चर्चा करते हैं, तब प्रकारांतर से वे 'स्वानुभुति' कल्पनाशक्ति और कला की चर्चा करते हैं। उनकी दृष्टि में इसी जिक्र पर रचना खड़ी होती है। नामवरजी ने हिन्दी के दलित साहित्य पर जो तल्ख टिप्पणियाँ की है, उनका प्रमुख कारण संभवतः दलित रचनाकारों द्वारा प्रेमचंद और प्रगतिशील परम्परा पर आक्रमण और समूचे हिन्दी साहित्य को 'ब्राह्मण साहित्य' बताकर इकबारगी खारिज करने का किशोर उत्साह है। अब दलित लेखन संभला है और कुछ आत्मालोची भी बना है। समय के साथ नामवरजी इसे अपेक्षित सहानुभूति के साथ देखने लगे हैं। उन्होंने बातचीत में कहा कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन को पढ़ने के बाद उन्हें लगा कि दलित जीवन के कुछ ऐसे अंधेरे कोने हैं जिन्हें दलित हुए बगैर देखा-समझा नहीं जा सकता। उन्होंने यह भी बताया कि इस बार वह ओमप्रकाश वाल्मीकि को साहित्य आकादमी का पुरस्कार दिलाना चाहते थे, लेकिन उनकी नहीं चली। अगर यह पुरस्कार मिल गया होता तो दलित साहित्य को अकादमी स्वीकृति मिली होती।

इसी क्रम में उन्होंने बताया कि मुझे तुलसीराम से बहुत कुछ सुनने, जानने और सीखने को मिला है और दलित जीवन और दलित जीवन-दृष्टि को समझने और तदनुरूप अपना मार्जन करते जाने में मदद मिली है। लेकिन उनको यह नहीं मालूम है कि तुलसीराम पर उनका क्या प्रभाव पड़ा है। उन्होंने यह बताया कि जे.एन.यू. में अंबेडकर चेयर के लिए उन्होंने प्रयास किया। चेयर मिली भी, लेकिन तुलसीराम को उसका लाभ नहीं मिल सका, क्योंकि जोड़-तोड़, तिकड़म इत्यादि नहीं कर सकते थे। डॉ. तुलसीराम से मेरी भी पुरानी मित्रता थी। वे एक नितान्त स्वनिर्मित व्यक्ति थे। वे अपनी तरह से अपनी शर्तो पर जीते थे और हमेशा किसी एक छोर पर रहते थे। किचेन से लेकर

किताब तक उनकी अपनी शर्तें होती थीं। उनसे संवाद संभव नहीं है। उनके पास अपना सुनाने का भंडार भी इतना बड़ा है कि दूसरों से कुछ सुनने की स्थिति ही नहीं बनती थीं। वे संवाद नहीं बनाते, एसर्ट करते हैं क्योंकि मजबूत पंसद-नापसंदगी के आदमी थे और इस पार या उस पार के तर्क के संचालित होते थे। किसी वाद या विचार को वे आधा-अधूरा नहीं जीते थे, चाहे वह मार्क्सवाद या अंबेडकर हो।

नामवरजी की दृष्टि में राजेन्द्र यादव पिछड़ावाद, स्त्रीवाद, दलितवाद से परेशान दिखते हैं और उनमें लोकप्रिय होने का अपार्चुनिज्म है। जब वे लेखन से भी कट कर साहित्य में शिगूफा छोड़ने बाले संपादक हैं। राजेन्द्र यादव की सोच में इकहरापन है और इसलिए भाषा में उग्रता है। उनके पास परम्परा-बोध नहीं है, अन्यथा वे सांस्कृतिक उच्छेदनवाद के शिकार नहीं होते। पिछड़ावाद, स्त्रीवाद और दलितवाद को तो उन्होंने अपनी साहित्यिक अस्मिता, आईडेंटिटी से जोड़ रखा है। नामवर सिंह को राजेन्द्र यादव से तुलसी को लेकर भी शिकायत है। वह अपनी तुलसी-संबंधी समझ को 'अधूरी' बताते है। तुलसीदास से बहुत-कुछ हमारे काम का है। अगर तुलसी के धर्म-रूप को नकार भी दिया जाय तो उनका कवि रूप शाश्वत महत्व का है। नामवरजी का तो यह भी कहना था कि तुलसी को खारिज कर देने के बाद हिन्दी साहित्य 'दरिद्र' हो जाएगा। शेक्सपियर में भी 'ऐंटी-सेमिटिज्म' है, लेकिन इतने मात्र से इंग्लैण्ड की सेक्युलर इन्टेलिजेन्सिया ने उन्हें खारिज नहीं किया। अगर शेक्सपियर के साथ कार्लाइन है तो तमाम वामपंथी लेखक भी है। यह इंग्लैण्ड के स्वस्थ परम्परा बोध का द्योतक है।

स्पष्ट है, नामवर सिंह इलियट की 'परम्परा' और लीबिस की 'महान परम्परा' (ग्रेट ट्रेडीशन) के बहुत निकट हैं। परम्परा की मुख्यधारा नए-नए अनुभवों को आत्मसात करती अतिक्रमित होती रहती है, जिसकी समझ गाँधी के पास है लेकिन अम्बेडकर के पास नहीं है, प्रेमचंद के पास है लेकिन सम्प्रति दलित लेखन के पास नहीं है, वह नामवर के पास है और राजेन्द्र यादव के पास नहीं है। संस्कृति और परम्पराओं के निर्माण में 'सामूहिक अवचेतन (collective unconscious) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। रेमंड विलिएम्ज इसे 'सांस्कृतिक अनुवांशिकी' (cultural genetics) के रूप में देखते हैं। संस्कृति कोई जड़ डूबता नहीं है। लघु परम्पराओं से इनका द्वंद्व इसे समृद्ध बनाता है. आरंभिक दिनों में सर्वहारा संस्कृति (proletkult) की सबके बड़ी सीमा यही थी कि इसमें प्राचीन ईसाई संस्कारों पर अपने वर्चस्व का उत्साह था, जिसके फलस्वरूप इसका अपने समाज से संवेदनात्मक जुड़ाव नहीं हो पाया। इन तथ्यों को दरकिनार कर किसी भी प्रकार का सामाजिक-सांस्कृतिक अभियंत्रण (socio-cultural engineering) प्रति-उत्पादक होता है। आश्चर्य नहीं, नामवरजी 'सामुदायिक अस्मिता (community identity) के प्रश्न को महत्वपूर्ण मानते हैं। सोवियत संघ में यात्राओं के दौरान इसका इन्हें बार-बार एहसास हुआ है। दागिस्तानी महाकवि हम्जातोव ने अपनी आत्मकथा में लिखा भी है कि 'मैं दो लाख-भाषियों का कवि हूँ।' नामवरजी की दृष्टि में कविता का इस अस्मिता के साथ निकट का रिश्ता है। बातें सही भी है, क्योंकि कविता जातीय स्मृतियों से कट कर नहीं जी सकती।

कहानी की भाषा का प्रश्न उठते ही कथाकार काशीनाथ सिंह का नाम अनचाहे भी सामने आता है, क्योंकि उन्होंने एक भाषा गढ़ी है जो अन्यों से सर्वथा भिन्न है। नामवरजी इसे 'जमीनी खुरदरी, ताजी और जीवंत' बताते है। इसमें 'जमीनी मुहावरों, अनुभवों और तल्खी' का समुच्चय है। लेकिन मेरे बहुत सारे मित्रों को यह भाषा 'नंगी' और 'अश्लील' लगती है। मेरे अभिन्न डॉ. कैलाशनाथ पाण्डेय अक्सर काशीनाथ की 'बेपर्द भाषा' की शिकायत दर्ज करते रहते हैं, और उनकी एक कहानी 'कलकत्ते में बांकेलाल' की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इसे परिवार में नहीं पढ़ा जा सकता, यद्यपि इसके वर्णन की संजीवता के वे कायल भी है। 'काशी का अस्सी' पढ़ना मेरे लिए भी चुनौतीपूर्ण था। अतिशय यथार्थवादी उत्साह खटकता है। लेकिन थोड़ा इंनिशिएशन हो जाने पर अद्‌भुत आनंद देते हैं काशीनाथ, कहन की भंगिमा, नाटकीयता, कल्पना की चपलता, वर्णन में सूक्ष्म सजग अनगढ़ता, अनुभवों की ताजगी, हास-परिहास, व्यंग्य-विडंबना, यथार्थ-बोध

इत्यादि के सहारे, कहानीपन को बचाए हुए, वह एक चासनी तैयार करते हैं, जिसका अपना एक बेजोड़ स्वाद है। उनकी भाषा पहाड़ी चश्मे की तरह सहज वेग से भीतर से बाहर की ओर फूटती भाषा है, 'पांडे कौन कुमति तोहें लागी' में यथार्थ का उद्घाटन अत्यन्त ही सृजनशील है। आर्थिक अभाव और बाजारीकरण की मार झेल रहे संस्कार-विजड़ित शास्त्रीजी पर यथार्थ भारी पड़ता है और उनके सारे शास्त्रीय विधि-विधान छितरा जाते है और उनका समूचा जीवन एक कुटिल पाखंड बन जाता है जिसमें कोई त्रासद संभावना भी नहीं है। खैर, नामवरजी भाषा के पारखी है और अगर इन्हें काशीनाथ की खुरदरी, अनगढ़ भाषा अच्छी लगती है तो इसके अन्य बहुत सारे आधार भी अवश्य होंगे।

नामवरजी नक्सल राजनीति के समर्थक नहीं हैं। वे इसमें भावुकता का पुट देखते हैं। उनकी दृष्टि में यह *'ईमानदार रोमान है जो आत्मघाती'* होता है। इसकी सोच-समझ में वस्तुनिष्ठता नहीं है, यह वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों का आकलन ठंडे दिल-दिमाग से नहीं करता। इसी संदर्भ में उन्होंने ग्राम्शी की अवधारणा 'पेसिमिज्म ऑफ इन्टलेक्ट एंड आप्टिमिज्म अपॉफ विल', अर्थात् 'बुद्धि में नैराश्य लेकिन इच्छाशक्ति में 'आशावाद' की याद दिलाई और कहा कि जब आशावाद बुद्धि में घुस जाता है तो विश्लेषक के निष्कर्ष आत्मनिष्ठ हो जाते हैं और इन निष्कर्षों से संचालित राजनीति रोमाचंक आत्मघात का शिकार बन जाती है। आशय यह है कि सोच और विश्लेषण के स्तर पर थोड़ा 'नेराश्य' इन्हें यथार्थपरक एवं संतुलित बनाए रखता है। उसकी दृष्टि में नक्सल आंदोलन इस बौद्धिक नैराश्य से या तो अपरिचित है या इसके प्रति उदासीन है। व्यक्तिगत रूप में मुझे प्रचलित मार्क्सवादी विचार-संरचना भी इससे बेखबर ही लगती है। सामाजिक विकास का जो एकरेखीय शाका तैयार किया गया, व्यवस्थाओं के विभिन्न सोपानों को जिस उर्ध्वमुखी क्रम में सजाया गया, परकीयकरण (alienation) के प्रश्न को भौतिक स्तर पर ही जिस सपाट तरीके से हल कर लिया गया, श्रमिक वर्ग की सृजन क्षमता में जो निरापद विश्वास किया गया और समाजवाद में रूपांतरण के लिए समाजवादी राज्य की मशीनरी पर जो भोलापन दिखाया गया, इत्यादि इसी बौद्धिक नैराश्य के प्रति उदासीनता के द्योतक है। दरअसल, मार्क्सवादी विजन भी 18वीं सदी के पूर्णतावाद (perfectionism) का शिकार है, जिसका खरम दार्शनिक अभिव्यक्ति गॉडविन में हुई और जिसकी अनुगूंज टास्बटॉय और गाँधी में भी सुनाई देती है। इसी आत्ममुग्ध सपाटपन के चलते समाजवादी सत्ताए अपने ईर्द-गिर्द के परिवर्तनों को आत्मसात् नहीं कर पायी और परिणामस्वरूप अपने दायरे में ऐसा कोई विकल्प नहीं दे पायी जो उन नई पीढ़ियों के अनुकूल पड़ता जो इन क्रान्तियों की ही संताने है। खैर...

1995 में जब उनसे मिला था तो अपनी सी.पी.आई. से सहानुभूति के लिए उन्होंने दो कारण बताए थे : एक सी.पी.आई. भारतीय कम्युनिस्टों की 'मातृ-संस्था' है, और दो, इसकी सभी आलोचना करते है। परिहास में उन्होंने आगे कहा था कि जिस चीज की ज्यादा लोग आलोचना करे वह निश्चय की तुलना में बेहतर होती है। साथ ही, जुड़ाव में निष्ठा होती है और आत्म-प्रमाणन (self-justification) भी रहता है। साथ ही, जुड़ाव जितना सकारात्मक रहता है उतना ही प्रतिक्रियात्मक भी। संवेदनशील मन हमेशा कमजोर और पराजित की ओर झुकता है। इसकी जैन्विननेस का प्रमाण भी यही है। इसी कारण इसे अपने रिश्तों एवं कतिपय निष्कर्षों को भी पुनर्परिभाषित करते रहना पड़ता है। आरम्भ में नामवरजी से मेरा भावात्मक जुड़ाव भी कुछ विचारधारात्मक और कुछ प्रतिक्रियात्मक था। 1971 में जब मैं गाजीपुर आया था तो यहाँ के हिन्दी दिग्गज नामवरजी की आलोचना में ही लीन रहते थे। एक सज्जन व्यक्तिगत, कारणवश और दूसरे विचारधारात्मक कारण वश। अतः मेरा नामवरजी के साथ प्रतिक्रियात्मक लगाव स्वाभाविक था। बाद में नामवरजी को पढ़ने भी लगा, और उत्तरोत्तर वह प्रतिक्रियात्मक जुड़ाव सकारात्मक सम्मान में बदल गया।

I

नीतिशास्त्र का भारतीय परिप्रेक्ष्य और अशोक के अभिलेख

- डॉ. तनवीर हुसैन

सहायक प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
गाँधी फैज़-ए-आम कॉलेज, शाहजहाँपुर

नीतिशास्त्र को नैतिक दर्शन या 'मॉडल फिलॉसफी'[01] भी कहा जाता है। यह मानव-व्यवहार का विज्ञान है। यह मन की अतिरिक्त वृत्ति है। इसकी अभिव्यक्ति अभ्यासजन्य व्यवहार में होती है। इस प्रकार नीतिशास्त्र आदतों एवं चरित्र का विज्ञान है। इसे आधार शास्त्र भी कहा जाता है। नीतिशास्त्र अच्छे अथवा बुरे व्यवहार में अभिव्यक्त मानव चरित्र का विज्ञान है, किन्तु अच्छाई और बुराई उस परम हित की ओर संकेत करते हैं, जो मानव जीवन का आदर्श है। अतः नीतिशास्त्र उच्चतम कल्याण का विज्ञान है।[02] यह हमें यह सिखाने का प्रयास करता है कि हम किस प्रकार मनुष्यों की आदतों अथवा चरित्र के विषय में सम्यक नैतिक निर्णय दें, तथा किस प्रकार उसका मानव जीवन के महत्तम आदर्श की तुलना में उचित अथवा अनुचित, सत् अथवा असत् समझें। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध मानव व्यवहार के स्वाभाविक रूप से न होकर उस रूप से है जैसा कि मानव व्यवहार को होना चाहिए। यह एक प्रकार से मनुष्य के परम-मंगल का विज्ञान है। इस परम-मंगल या उच्चतम कल्याण के आदर्श को इतिहास में खोजना दुष्कर है क्योंकि इतिहास के अधिकतर पन्ने रक्तरंजित है। किन्तु भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक चरित्र हुए हैं जिन्होंने इतिहास की धारा को मोड़ने का प्रयत्न किया है और मनुष्य के परम-मंगल अथरा उच्चतम कल्याण के लिए प्रयास किए हैं, उन्हीं लोगों में से अशोक महान एक हैं।

अशोक के अभिलेख किसी भी ऐतिहासिक महत्व के प्राचीनतम विद्यमान भारतीय लिखित प्रमाण हैं। सम्पूर्ण भारत में दूर-दूर तक बिखरे हुए स्तम्भों और शिलाओं पर उत्कीर्ण राजकीय घोषणाओं की एक श्रृंखला है जो सम्पूर्ण नीतिशास्त्र को अपने आप में समेटे हुए है। ये घोषणाएँ नीति सम्बन्धी राजाज्ञाओं तथा अपने अधिकारियों एवं प्रजा के निमित्त आदेशों के रूप में है।

अशोक की दृष्टि में सारी प्रजा उसकी संतान थीं। राजा का कर्तव्य लोकहित और पराक्रम था। उसने जनता से सम्पर्क करने के लिए दौरा करना आरम्भ किया था। वह स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी था किन्तु सार्वजनिक रूप से

उसने इन अभिलेखों में जनता को जिस धर्म का उपदेश दिया है और प्रचार किया है, वह किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नहीं है, उसमें बौद्ध धर्म की विशेषताओं के साथ-साथ अन्य धर्मों की भी विशेषताएं निहित है। उसने जो कुछ कहा है उसे सभी धर्मों के सार की संज्ञा दी जा सकती है। अशोक ने अपने विभिन्न अभिलेखों में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है–धर्म उत्तम है, किन्तु धर्म क्या है? कम से कम पाप, बहुत कल्याण, दया, दान, सत्य एवं शौच (पवित्रता)। लोक की यह दया, ज्ञान, सत्य, शौच, मृदुला एवं साधुता से वृद्धि को प्राप्त होती है, वही धर्मोन्नति और धर्म-प्रतिपादन।[03] जिसका दान विपुल है, किन्तु जिसमें संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति नहीं है, ऐसा मनुष्य अत्यन्त नीच है। इस प्रकार अशोक ने दया, दान, सत्य, शौच आदि के पालन को धर्म की संज्ञा दी है। इस धर्म की प्राप्ति के साधन के सम्बन्ध में उसका कहना है, अत्यन्त धर्मानुराग, अत्यन्त आत्म परीक्षा, अत्यन्त सुश्रुषा, अत्यन्त भय, अत्यन्त उत्साह, बिना ऐहिक एवं पारलौकिक उद्‌देश्य कठिनाईपूर्वक प्राप्त होने वाले हैं। अशोक ने धर्म के साथ-साथ पाप के रूप में चाण्ड्य, नैष्ठुर्य, क्रोध, मान और ईर्ष्या का भी उल्लेख किया है और पाप को सुकर (आसानी से किया जाने वाला) बताया है। इस प्रकार अशोक 'धम्म' के माध्यम से आदर्श मानव व्यवहार के गुणों तथा अवगुणों को इंगित करता है।[04]

देवों का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है–*'माता और पिता की सेवा अच्छी है। मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों को दान देना अच्छा है। जीवों को न मारना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है।*[05] इस प्रकार अशोक, माता-पिता और सम्बन्धियों के प्रति सद्‌व्यवहार तथा धन का दुरुपयोग न करने का आदेश देता है। उसके अंतिम कथन से व्यक्तिगत सम्पत्ति पर नियंत्रण की झलक मिलती है। वह आगे कहता है कल्याण दुष्कर है। जो कल्याण का आदिकर्ता है, वह दुष्कर कार्य करता है। उसके द्वारा बहुत सा कल्याण किया गया है। मानसेरा शिलाभिलेख में लोक कल्याण की बात कही गयी है और इसे दुष्कर बताया गया है। इसलिए उसे अशोक ने स्वयं अपने द्वारा किये जाने पर बल दिया है अर्थात् अपने को लोक-कल्याणरत् घोषित किया है और आशा प्रकट की है कि उसके उत्तराधिकारी पुत्र-पौत्रादि भी उसे आगे करते रहेंगे और पुण्य के भागी होंगे, यह चेतावनी भी अशोक ने इस अभिलेख में दी है। अशोक ने सभी पंथों के प्रति समानता के भाव प्रकट किए हैं। उसकी दृष्टि में सम्प्रदायों का उद्‌देश्य जीवन में संयम और भाव-शुद्धि है। उनमें अन्तर ऊँच-नीच के भाव और द्वेष के कारण ही होता है। वह कहता है कि विपुल दान देनेवाला व्यक्ति भी यदि उसमें संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और अटूट भक्ति का अभाव हो, अत्यन्त नीच है।[06] उसकी धर्म-यात्रा का उद्‌देश्य श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन, वृद्ध-जनों का दर्शन और धन-वितरण, प्रजा से परिचय, धर्मानुशासन तथा उसकी जानकारी है। इसी में उसे आनन्द आता है। महान फल देने वाले धर्म-मंगल कार्य हैं–दास (गुलाम), भृत्य (वेतनभोगी नौकर) के प्रति उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, इन्द्रिय-संयम, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान। अशोक का कहना है कि इसके लिए पिता, पुत्र, भ्राता, स्वामी, मित्र, परिचित सबको प्रेरित करना चाहिए।[07] अशोक ने सभी धार्मिक सम्प्रदायों के बीच सद्‌भावना को महत्व दिया है। इसके लिए उसने वाक् संयम की सलाह दी है, कहा है कि न केवल अपने धार्मिक विश्वास की पूजा की जाय वरन् दूसरे धार्मिक विश्वासों की निन्दा न की जाय, मेल-जोल से रहा जाय, दूसरे धर्म के लोगों की बात सुनी और समझी जाय। अशोक व्यवहार में मधुरता की बात करता है। वह कहता है–

"सितविये (I) हेमेर गुसु सुसुसितविये (I) पानेसु
दयितविये सच वतविय (I) इ - म धंम-गुना पदतितविया (I)"

अर्थात् "माता पिता की सुश्रुषा करनी चाहिए। इसी प्रकार गुरुओं (श्रेष्ठजनों) की सुश्रुषा करनी चाहिए। प्राणियों के प्रति दया होनी चाहिए। सच बोलना चाहिए। वही धर्म गुण प्रवर्तित होने योग्य है।"[08]

नीतिशास्त्र का उद्देश्य समाज के एक सदस्य के रूप में परमहित् के स्वरूप को निश्चित करना है। नीतिशास्त्र परम् कल्याण का अनुसंधान है जो सर्वोच्च व्यक्तिगत और सामाजिक हित है। इसी परम कल्याण के अनुसंधान को अशोक अपनी 'धम्म' नीति के माध्यम से विश्व के समक्ष रखता है और मानवतावाद के चरम तक पहुँचाता है।[09] उसके मानवतावाद को धीरे-धीरे अपनी सफलता का इतना दृढ़ विश्वास हो गया कि उसने मनुष्यों की प्रकृति को बदल डाला था। हालांकि अपने राज्यकाल के अंत में वह अपनी इस उपलब्धि के प्रति आवश्यकता से अधिक विश्वस्त प्रतीत होता है। अशोक का यह विश्वास था कि आदर्शवादी राज्य का उदाहरण प्रस्तुत कर वह अपने पड़ोसियों को अपने नवीन नीति के गुणों से सहमत कर सकेगा तथा इस प्रकार सम्पूर्ण सभ्य संसार का नैतिक नेतृत्व प्राप्त कर सकेगा। उसने अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं का किसी भी प्रकार त्याग नहीं किया अपितु बौद्ध धर्म के मानवीय नीतिशास्त्र के अनुसार उन्हें परिवर्तित कर दिया।[10]

सर्वविदित तथ्य है कि अशोक की घोषणाएँ नीति सम्बन्धी राजाज्ञाओं तथा अपने अधिकारियों एवं प्रजा के निमित आदेशों के रूप में है। ये वही हैं जो उसके धर्म का आधार हैं जैसे- माता-पिता और गुरुओं की सेवा, जीवों के प्रति दया, सत्य वचन, शिष्यों द्वारा आचार्य का आदर, सम्बन्धियों और वृद्धों के प्रति उचित व्यवहार आदि। इसके अतिरिक्त अशोक ने आत्म-पर्यवेक्षण पर बल दिया है। उसने कहा कि मनुष्य अपने द्वारा किए गए अच्छे कामों को तो देखता है, पर बुरे कामों (पापों) को नजरअंदाज कर देता है।[11]

इस प्रकार अशोक ने राष्ट्र की परिधि को लाँघते हुए सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लक्ष्य को अपने सम्मुख रखते हुए *'मानवतावाद'* और *'वसुधैव कुटुम्बकम्'* का न केवल संदेश दिया वरन् उपदेश से उदाहरण उत्कृष्ट है। युक्ति को चरितार्थ करते हुए विश्व के समक्ष उदाहरण भी प्रस्तुत किया। उसने इसी के कार्यान्वयन की दिशा में सतत् प्रयास किए। उसके नैतिक आदर्श उसके स्वयं के आचरण में प्रकट हुए हैं जो वास्तव में नीतिशास्त्र की आत्मा है।[12] 'अहिंसा' और *'पंचशील'* नीति सदृश अवधारणाएँ उसके विचारों के साथ जुड़ी हुई है। ऐसा विश्वास किया जाता है और जो प्रायः सत्य भी है कि सचेत हिंसा, राजनीतिक एवं धार्मिक विश्वासों के प्रति सहिष्णुता की एक लम्बी और शानदार परम्परा अशोक से शुरू होती है, जो शताब्दियों के दौरान अटूट बनी रही तथा जिसका चरम विकास गाँधी के युग में हुआ। अशोक की यह विरासत वर्तमान पतित समाज और युवा पीढ़ी के लिए उम्मीद की एक नई किरण साबित हो सकती है और नैतिकता के उच्चतम सोपान की ओर ले जा सकती है।

नैतिक आचरण के अन्तर्गत मानव व्यवहार के सभी श्रेष्ठ तत्व आते हैं जैसे–सत्य मार्ग का अनुसरण, दया, दान, सत्कार वाणी में मृदुता, दीन-हीन कल्याण आदि अनेक सद्व्यवहार नैतिक आचरण के अन्तर्गत समाहित है।[13] इनका पालन कर हम अपना एवं अपने समाज का कल्याण करते हैं। उसके इन कार्यों से राष्ट्र गौरवान्वित होता है। यह नैतिक आचरण के उत्कृष्ण गुण है।

नैतिक आचरण के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले मानव व्यवहार जैसे-ईर्ष्या, निन्दा, अहंभाव, क्रोध, अभद्र वाणी प्रयोग, चोरी आदि अनेक घृणित कृत्य हैं जो मानव को नैतिक मार्ग से भ्रष्ट कर पशुता के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। मानव को सदा इन कृत्यों का त्याग करना चाहिए।[14] इस प्रकार हम मानवीय आचरण में दो तरह के व्यवहार पाते हैं–उत्कृष्ट एवं निकृष्ट। हमारा प्रयत्न यह रहना चाहिए कि हम उत्कृष्ट मार्ग का अनुसरण करें।

उपर्युक्त आचरणों को धारण करने के कारण अशोक भारतवर्ष का महान सम्राट था। उसकी *'धम्म नीति'* में तलाशने का प्रयास करेंगे। जब हम 'धम्म नीति' को पढ़ेंगे तो पायेंगे कि यह सभी व्यवहार उसमें समाहित है। अशोक का धम्म सार रूप में नैतिक आचारों की संहिता है।[15] अशोक कहता है कि धम्म श्रेष्ठ तत्व है। प्रत्येक व्यक्ति को उसका अनुसरण करना चाहिए क्योंकि यह हमें दया, दान, मृदुता, श्रेष्ठ आचरण सर्वकल्याण आदि की शिक्षा देता है, निषिद्ध

आचरण जैसे-अहंभाव, ईर्ष्या, घमण्ड, क्रोध, प्रचण्डता आदि दुर्गुणों का त्याग करने की शिक्षा देता है।[16] अतः हम अशोक की 'धम्म नीति' में नैतिक आचरण के श्रेष्ठतम व्यवहारों का ताना-बाना पाते हैं।

अशोक प्राचीन भारत का ऐसा सम्राट था जिसको उसकी 'धम्म नीति' के कारण दूर-दूर तक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। उसकी धम्म विषयक टिप्पणी नैतिक आचरण की व्यापक संहिता है।[17] अशोक ने अपने प्रजा के नैतिक उत्थान के लिए एक ऐसी व्यापक योजना तैयार की जिसे वह अपने अभिलेखों में 'धम्म' कहता है। अशोक को धम्म बहुत प्रिय था। वस्तुतः यदि देखा जाय तो वही 'धम्म' तथा उसका प्रचार अशोक को विश्व इतिहास में प्रसिद्धि करने का सर्वप्रधान तत्व है।

अशोक ने 'धम्म' के माध्यम से आचरण की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की। उसने इन आचरणों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए एवं उनका पालन करने के लिए अनेक प्रयत्न किये। अशोक चाहता था कि उसकी प्रजा सन्मार्ग पर चले।[18] इसी उद्देश्य से उसने अपने विशाल साम्राज्य में अनेक भागों में लेख खुदवाएं एवं उनमें आचरण से सम्बन्धित बातें बताई तथा स्वयं भी विभिन्न स्थानों पर जाकर लोगों को 'धम्म' के आचरण को अपनाने का अनुरोध करता है। अशोक ने आचरण के ठीक से पालन हो रहा या नहीं इसके लिए 'धम्म मामात्रों' को नियुक्त किया जो कि यह देखते थे कि लोग इस आचरण का ठीक से पालन कर रहे है या नहीं। वह प्रत्येक पाँच वर्ष में जगह-जगह जाकर निरीक्षण करते थे।[19] अशोक ने विभिन्न अभिलेखों से 'धम्म' की व्याख्या की है। इससे अशोक का उद्देश्य जन-जन को इनका पालन तथा जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से किया।

अशोक अपने तृतीय स्तम्भ लेख में उन दुर्गुणों को बताया है जो मानव को सद्गुणों से विचलित कर देते हैं। इन्हें वह अपने लेख में आसिनव कहता है। तृतीय स्तम्भ लेख में अशोक आसिनव को 'पाप' कहता है।[20] वह कहता है कि इन दुर्गुणों के कारण आसिनव हो जाता है– 'आसिनव गामिनी नाम अथ चंडिये निठुलिये कोघे माने इरसा'[21] इसका अर्थ इस प्रकार है–आसिनव अर्थात् पाप की ओर ले जाने वाले कृत्य-प्रचण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, ईर्ष्या घमण्ड आदि है।

अशोक कहता है कि धम्म के पूर्ण पालन के लिए उसके गुणों के साथ-सात इन दोषों को धम्म के मार्ग में बाधा उत्पन्न कहते हैं।[22] वह सभी कार्य त्याग देने चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि मानव सदा आत्म-निरीक्षण करता रहे जिससे 'धम्म' के मार्ग से भ्रष्ट करने वाले गलत कार्यों का ज्ञान होता रहे। इस प्रकार हम देखते है कि अशोक का धम्म कल्याणकारी कार्यों के लिए प्रेरित करता है।

अशोक एक सहिष्णु सम्राट था। उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था परन्तु किसी अन्य धर्म के प्रति उसने अनादर एवं असहिष्णुता नहीं प्रदर्शित की। उसके लेखों में भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। वह अपने बारहवें शिलालेख में कहता है कि–''मनुष्य को अपने धर्म का आदर एवं दूसरे धर्म की अकारण निन्दा नहीं करनी चाहिए। एक न एक कारण से अन्य धर्म का आदर करना चाहिए।''[23] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक एक सहिष्णु सम्राट था जिसने एक अन्वेषक की भांति ही आपसी कलह का निराकरण करता है। अतः वह सभी मतों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाने का उपदेश देता है। अशोक ने बराबर की पहाड़ियों में आजीवन सम्प्रदाय के संन्यासियों के लिये गुफा बनवाई। यवन जाति ता तुशास्प उसका राज्यपाल था, काश्मीर में उसने शिव मन्दिर बनवाया था। यह सभी उसकी सहिष्णुता के पुष्ट प्रमाण है। अशोक ने 'धम्म' नीति के माध्यम से अनेक ऐसे कार्य किये जो कि आचरण के महत्वपूर्ण एवं नियामक पक्ष हैं। एक राजा होते हुये शांति की नीति एवं शुद्ध त्याग करना अभूतपूर्व कार्य है। अशोक अपने उत्तराधिकारियों को भी युद्ध त्याग का आदेश देता है।[24]

विश्व इतिहास में अशोक के समान योद्धा एवं कुशल प्रशासक अनेक राजा हुये है। परन्तु अशोक अपने जनकल्याणकारी कार्यों के लिये सर्वाधिक प्रसिद्ध है और इस क्षेत्र में उसके जोड़ का दूसरा शासक इतिहास में मिलना

कठिन है। अशोक ने विश्व-बन्धुत्व एवं लोक कल्याण का अपना संदेश दूर-दूर तक फैलाया। वह विश्व के लिये ''जीओ और जीने दो'' (Live and Let others Live) तथा राजनीतिक हिंसा धर्म विरुद्ध है। (Political Violence is Against Dharma) का नारा दे गया। राधाकुमुद मुकर्जी के शब्दो में 'अशोक इतिहास में शांति एवं विश्व बन्धुत्व के अन्वेषकों में सर्वप्रमुख था। इस दृष्टि से न वह केवल अपने समय से अपितु आधुनिक समय से भी बहुत आगे थे।[25]

संदर्भ

1. जे. एन. सिन्हा : नीतिशास्त्र (A Manual of Ethics) जय प्रकाश नाथ एण्ड कं., मेरठ, पृ. -1
2. "As the science of the God, it is science of excellence of the and the ought." -James Seth
3. जौगड़, धौली लेख
4. छठा शिलाभिलेख
5. आठवाँ शिलाभिलेख
6. दूसरा स्तम्भ लेख
7. सातवाँ शिलाभिलेख
8. वही
9. प्रथम स्तम्भ लेख
10. परमेश्वरी लाल गुप्ता : प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख. वि. वि. प्रकाशन, वाराणसी, 2011, पृ.-11
11. गिरनार III शिलाभिलेख के अनुवाद से संदर्भित
12. मानसेरा शिलाभिलेख के अनुवाद से संदर्भित
13. परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ. -23
14. शाहबाजगढ़ी VII शिलाभिलेख के अनुवाद का भावार्थ, इस अभिलेख की तीसरी, चौथी, पाँचवी पंक्ति का एक भिक्षा-मात्र पर खरोष्ठी लिपि में अंकित मिली है। यह इस बात का प्रमाण है कि अशोक के ये वाक्य, धर्मवाक्य के रूप में जनमानस में लोकप्रिय हो गये थे। यह भिक्षा-पात्र के प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में सुरक्षित है।
15. शाहबाजगढ़ी VIII शिलाभिलेख के अनुवाद से संदर्भित
16. परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ. - 30
17. वही, पृ. - 34
18. गिरनार XIV शिलाभिलेख की चौथी पंक्ति का भावार्थ
19. एर्रागुड़ी लघुशिलालेख 2 क स संदर्भित, ब्रह्मगिरी लघुशिलालेख में वह फिर सदाचार की बातें दोहराता है।
20. जे. एन. सिन्हा, पृ. 11-12
21. रोमिला थापर : अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, अनुवादक डी. आर. चौधरी और प्रभा यादव, ग्रन्थशिल्पी, नई दिल्ली, 1997, पृ. - 215
22. ए. एल. बाशम The Wonder that was India का हिन्दी रूपान्तरण शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1967, पृ. -54
23. वहीं पृ. -93
24. परमेश्वरीलाल गुप्त, पृ. 52
25. वही, पृ. -58

अस्मिता की खोज : संकट की शुरूआत या समाधान का अंत

- डॉ. सतीश कुमार सिंह

सहायक प्रोफेसर, दर्शन विभाग,
डी.ए.वी. पी.जी, वाराणसी

दुनियाँ की सभी सरकारें अस्मिता की खोज में लगी हुई हैं। यह अस्मिता की खोज क्या है? इसको कैसे खोजा जाता है! अस्मिता है क्या, जिसे फिर से खोजने की बात हर तरफ की जा रही है। अस्मिता वही है जिससे हम अपने को परिभाषित करते हैं। इसमें हमारे मूल्य, हमारे विश्वास और हमारा व्यक्तित्व समाहित होता है। इसके अन्तर्गत हम अपने परिवार और समाज में किस तरह की भूमिका का निर्वहन करते हैं, हमारे शौक, हमारी गतिविधियाँ, हमारी पुरानी यादें, हमारी भविष्य के लिए आशा इत्यादि सभी आ जाते हैं।

स्वाभाविक रूप से इनमें से बहुत सी स्थितियों में बदलाव होता है। इसलिए हमारी अस्मिता भी स्थायी, नित्य नहीं होकर बदलती रहती है। हमारे विश्वास, स्थितियाँ और नए अनुभवों से यह बदलती रहती है।

अस्मिता की तकनीकी व्याख्या पर न जाकर यह समझने की जरूरत है कि अस्मिता किन-किन चीजों से बनती है। या इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि इसके घटक क्या-क्या है। अस्मिता ऐसी सरल वस्तु के समान नहीं है जिसे दिखाकर कहा जा सकता है कि "देखो यह अस्मिता है।" यह कई प्रतीकों का संयोग है। कोई अकेला प्रतीक इसे व्याख्यायित नहीं कर सकता है। यह कुछ हद तक जी.ई.मूर के 'शुभ' की तरह है। मूर कहते हैं कि शुभ को परिभाषित नहीं किया जा सकता है।[1]

दर्शनशास्त्र में 'Identity' शब्द लैटिन के 'Identitas' शब्द से बना है, जिसका अर्थ उसी के समान या उसी तरह होता है। हम जैसा अपने को देखते हैं और अपने को अभिव्यक्त करते हैं, उसी के द्वारा अस्मिता को परिभाषित करने की कोशिश की जाती है। आनुवंशिकता, जन्म, लिंग, स्थान के आधार पर हम अपनी पहचान बनाते हैं। यह पहचान कई स्तरों पर बनती है। हम इसे कभी जानबूझकर और कभी अनजाने में बनाते रहते हैं। हमारी अस्मिता कई चरणों में बदलती रहती है। जीवन के विभिन्न

आयामों में वह अलग-अलग आकार लेकर उपस्थित होती है।

वर्तमान समय में अस्मिता की राजनीति 'Identity Politics' की चारों ओर चर्चा है। सभी राजनीतिक दल अस्मिता को ढूढने में लगे है। सब अपने-अपने वोट बैंक को अस्मिता से जोड़कर उसे एक नई पहचान देकर अपने साथ करना चाहते हैं। भारत का समाज विविध जातियों और धर्मों में विभाजित है। यहाँ का प्रत्येक नागरिक या तो किसी जाति में पैदा होता है या किसी धर्म में पैदा होता है। यह एक तरह की ऐसी मान्यता है जो एक को दूसरे से अलग पहचान दिलाती है। आपका जन्म भारत के किस क्षेत्र में हुआ है, यह भी तथ्य पहचान और अस्मिता के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

राष्ट्रीय राजनीति में लोकतंत्र के वास्ते जनता को कैसे वोट बैंक में परिवर्तित किया जाय, इसमें 'पहचान की राजनीति' अति महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। सामाजिक अस्मिता का पूरा प्रश्न इस तरह से समझा जा सकता हैः अस्मिता क्या है, इस प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न के उत्तर में समान होगा कि आप कौन हैं? मेरी अस्मिता क्या है, यह इस बात पर निर्भर करती है कि मैं अपने आपको किस तरह परिभाषित करता हूँ कि 'मैं कौन हूँ।[2] सामाजिक अस्मिता के लिए हमें सामाजिक वर्गों के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना होगा। अस्मिता के संदर्भ में आजकल सम्मान और गरिमा जैसे शब्दों का प्रयोग किए जाने लगा है। चूँकि भारत का समाज अपने सभी स्थितियों में ऐतिहासिक है। इसलिए अस्मिता का कोई भी दायरा भारतीय परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक हो जाता है। अपने संघर्षों, अपने पूर्वजों की ऐतिहासिक स्थितियों को संदर्भ सहित प्रस्तुत करने की प्रक्रिया, अस्मिता के खोज का प्रारम्भिक बिन्दु है। उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का अवलोकन करते समय, अस्मिता के अन्वेषणकर्त्ता का विभिन्न तरह के भावों से सामना होता है। आप अपनी भूमिका जब किसी विशेष प्रसंग में किसी ऐतिहासिक घटना के परिप्रेक्ष्य में देखने लगते हैं, उस समय इस खोज की प्रक्रिया की शुरूआत होती है।

प्रश्न उठता है कि आज की राजनीति में अस्मिता का प्रश्न इतना महत्वपूर्ण क्यों हो गया है। प्राचीन समय में अस्मिता का प्रश्न किसी न किसी तरह उठाया जाता रहा है। भारत पर किए गए सभी आक्रमणों में यह बात आती है। विजित अस्मिता, पराजित अस्मिता का सवाल स्थानीय समकालीन साहित्य में भी देखा जा सकता है। बहुत समय के बाद खण्ड-खण्ड में बंटी हुई अस्मिता एक व्यापक विस्तार लेकर भारतीय अस्मिता में परिणित होती है।

छोटी-छोटी जातियों की अस्मिता से शुरू हुआ अस्मिता की राजनीति का सवाल जातियों के पहचान पर आधारित नैतिकता का रूप ले लेता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अस्मिता का प्रश्न अपनी देशी हितों के सन्दर्भ में समझा जाता है। कभी-कभी एक वर्ग, समूह या धर्म अपनी पहचान इतने व्यापक तौर पर बना लेता है कि बाकी पहचान निर्मित करने वाले उपसमूह गौण हो जाते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि एक राजनीतिक उद्देश्यों से निर्मित समूह धर्म के कुछ मूल बिन्दुओं को साथ में रखकर 'पहचान' की राजनीति करते हैं। उदाहरण के तौर पर ISIS को देख सकते हैं। ISIS का उद्देश्य एक अलग 'पहचान' के लिए राजनीतिक युद्ध नहीं है बल्कि 'पहचान' के साथ राजनीतिक युद्ध है।[3] यही पहचान की राजनीति अस्मिता बन जाती है। जब दुनियाँ भर में बिखरे हुए लोग, अपनी देश की सम्प्रभुता और स्वाभिमान को छोड़कर किसी धार्मिक रूप से उपजे हुए पहचान को महत्व देने लगते हैं। अस्मिता का प्रश्न तब और विकराल रूप ले लेता है जब गैर सरकारी संस्थाएँ सीधे, कभी-कभी खुलेआम धर्म परिवर्तन कराने लगती है।

यह बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है कि प्रलोभन और लालच देकर किसी गरीब का धर्म परिवर्तन कराने का प्रयोजन क्या है? क्यों दूसरे धर्म के लोग अन्य

धार्मिक विश्वासों के मानने वाले लोगों को अपने धर्म में परिवर्तन करने के लिए प्रयत्न करते हैं। यह एक प्रकार से अस्मिता या पहचान से जुड़ा हुआ प्रश्न है।

प्राचीन भारत में अस्मिता को नया रुप देने का कार्य गौतम बुद्ध ने किया। उन्होंने कहा कि आप अपनी पहचान, अपनी मुक्ति स्वयं बना सकते हो, किसी की मदद की जरूरत उसमें नहीं है।[4] उनका आशय यह था कि पहचान या अस्मिता के लिए किसी भूतकालीन स्थितियों की जरूरत नहीं है। ऐतिहासिक स्थितियाँ अस्मिता के लिए बाहरी दीवार का काम तो कर सकती है, लेकिन वही अपने आप में अस्मिता नहीं कही जा सकती है। व्यक्तिगत अस्मिता और सामाजिक अस्मिता के प्रश्न यहीं पर उठते है। किसी वर्ग, जाति, धर्म, क्षेत्र और व्यवसाय के द्वारा निर्मित 'अस्मिता' निश्चित रूप से व्यक्तिगत और सामाजिक अस्मिता के टकराव पर आधारित है।

भारतीय लोकतंत्र में जातीय उभार इसी तरह के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। ऐतिहासिक परिदृश्य में जब यह कथानक एकाएक तार्किक आधार लेने लगे कि समाज के एक वर्ग की पहचान, समाज के दूसरे वर्ग की पहचान से अलग है।[5] दोनों वर्गों की अस्मिता को परिभाषित करने वाले घटक एक नहीं होकर अलग-अलग हों तब निश्चित रूप में यह अस्मिता के संकट (Identity crisis) रूप में उपस्थित होता है।

'अस्मिता का संकट', ऐसा प्रश्न खड़ा करती है जिसमें तथ्यों की ऐतिहासिकता को नए संदर्भों में गढ़ा जाने लगता है। इतिहास पुनर्लेखन की बात होने लगती है, बड़े तौर पर संस्कृति, सभ्यता के तर्क गढ़े जाने लगते हैं। आयातित विचारों और व्यवहारों को किस हद तक आत्मसात करना हैं और किस हद तक उसके विरुद्ध यह तर्क देना कि हमारी अस्मिता को खतरे में डालने वाली चीजें हैं। कभी-कभी तो पूरे विमर्श को अस्मिता के नाम पर, नवीनता के साथ, पूरा नया कलेवर देकर प्रस्तुत किया जाता है।

मध्यकालीन भक्ति एवं समाज-सुधार आंदोलनों को 'अस्मिता' के प्रश्न से जोड़कर देखा जा सकता है। सामाजिक हैसियत, आर्थिक स्वावलम्बन और अन्य अधिकारों को लेकर किए जाने वाले आन्दोलनों का मुख्य मकसद 'अपनी पहचान' की नई परिभाषाएँ गढ़ना है। सामाजिक विसंगतियों से ही नई पहचान की बात की जाती है।

ध्यान देने योग्य बात है कि मार्क्स ने नई पहचान के वास्ते ही सर्वहारा के अधिनायकवाद की बात की। इस पहचान में कुछ ऐसी आजादी एवं सुविधाएं शामिल हैं जो पहले नहीं थी। गाँधी और अम्बेडकर भी कुछ हद तक इसी नई पहचान की बात करते हैं। तार्किक रूप से देखें तो जब डॉ. भीमराव अम्बेडकर हिन्दू धर्म में व्यापक सामाजिक असमानताओं और विसंगतियों की बात करते हैं तो उनका आशय यह होता है कि इन विसंगतियों को हटाकर एक नई अस्मिता, नई पहचान की जरूरत है।[6] दी गई 'पहचान' और 'अर्जित पहचान' में बहुत अन्तर है। यदि हमारी पहचान जातीय दीवारों से बंधी हो तो जातीय विद्वेष होना स्वाभाविक है।

ताकत के बल पर बनाई गई अस्मिता अन्य सापेक्ष अस्मिताओं के सन्दर्भ में उच्चता का भाव लिए होती है। इस बनाई गई अस्मिता में कहीं न कहीं अहंकार का पुट होता है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड के नागरिक की अस्मिता, भारत के नागरिक की अस्मिता के सन्दर्भ में उच्च भावना लिए होती है। उस देश के सभी लोगों को लगता है कि भारत कई सालों तक उनका गुलाम रहा है। सच कहें तो यही उच्च होने का भार एक खोखले अहंकार को जन्म देता है। इस तथ्य को हिन्दी फिल्म 'लगान' में होने वाले क्रिकेट मैच से बखूबी समझा जा सकता है। अंग्रेज, जिन्होंने क्रिकेट का अविष्कार किया, जिसे जेन्टिलमैन गेम का नाम दिया, अपनी हार गुलामों के हाथों कैसे स्वीकार कर सकते हैं? यहाँ जो अस्मिता का सवाल है, नकारात्मक दंभ से परिपूर्ण है। यहीं पर हम देख सकते हैं कि सोशल आइडेन्टिटी क्राइसिस (सामाजिक अस्मिता का संकट या द्वन्द्व) पैदा होती है। अपनी अपेक्षा और बनाई गई पहचान पर खरा नहीं उतरने से ये संकट पैदा होता है।

परसनल आइडेन्टिटी क्राइसिस[7] (व्यक्तिगत अस्मिता का संकट) बहुत से व्यक्तियों में पाया जाता है। इस क्राइसिस को इस तरह समझा जा सकता है। मान लीजिए किसी शैक्षणिक संस्थान में पचास से अधिक शिक्षक है। सभी शिक्षकों की भूमिकाएं तय है। सभी को अपनी नियमित कक्षा में निर्धारित समय से जाना है। विषय के विशेष टॉपिक पर विद्यार्थियों को प्रकाश डालना है। एक घंटे की कक्षा में शिक्षक से यह उम्मीद की जाती है कि वह अपनी कक्षा में विद्यार्थियों को अमुक टॉपिक के महत्वपूर्ण बिन्दुओं को समझाएं और उससे सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान करें। लेकिन वे शिक्षक जो उपर्युक्त भूमिकाओं में फिट नहीं बैठ पाते, वे परसनल आइडेन्टिटी क्राइसिस के शिकार होते हैं। ऐसे लोग दो स्तरों पर उलझते हैं। उन्हें हमेशा अपनी पहचान के बारे में डर या भय लगा रहता है। वे जानते हैं कि सहयोगी शिक्षक उनकी क्लास नहीं लेने की आदत को जानते हैं, वही दूसरी ओर विद्यार्थियों भी भली-भाँति समझ जाते हैं कि वह शिक्षक कैसा है, जो क्लास में पढ़ाता नहीं है। ऐसे शिक्षक विद्यार्थियों से लेकर प्रशासन तक एक झूठ और भ्रम फैलाए रखने की कोशिश करते हैं। जबकि अन्य सभी लोग उनकी असली स्थिति को जानते रहते हैं। परसनल आइडेन्टिटी क्राइसिस से ग्रसित लोग मिथ्या आडम्बर में रहते हैं। वे हमेशा बनावटी या दिखावटी व्यस्त रहते हैं।

इस क्राइसिस के शिकार वही लोग होते हैं जो अपने पेशे के प्रति ईमानदार नहीं होते हैं। जिस पेशे से जीवन-यापन चलता है, जिसकी वहज से उनकी पहचान बनी है, उसके प्रति लापरवाही बरतने वाला व्यक्ति हमेशा आशंकाओं, प्रश्नों, संकटों और विराधाभासों से गुजरता रहता है। ऐसे लोग विश्वास के योग्य नहीं होते हैं। वे अपने में ही उलझे रहते हैं।

सद्गुणों से निर्मित अस्मिता, व्यक्तित्व में स्वाभिमान पैदा करती है। यह स्वाभिमान 'न्याय' में परिपूर्ण होता है। न्याय से परिचालित अस्मिता सर्वोच्च होती है।[8] न्याय का व्यक्तित्व में उद्भव तभी हो सकता है जब व्यक्ति में सभी सद्गुण समान भाव से कार्य करें।

REFRENCE

1. GE Moore, 1903, principia Ethica, Cambridge University Press, Cambridge 2000, rvised
2. Hopf Ted. 1998. "The promise of Constructivism in International Relations Theory." International Security 23 : 171 - 200
3. Wendt Alexander, 1994, Collective Identity Formation and International State ; American Political Science Review 88:384-96
4. अप्प दीपो भव, महात्मा बुद्ध
5. Jaffrelot, Christophe, India's Silent Revolution : The Rise of Lower Castes in Northern India, 2003, Columbia University Press PP. 203
6. B. R. Ambedkar (1936), The Annihilation of Caste Columbia University, Retrived, 2014
7. आइडेन्टिटी क्राइसिस शब्द का प्रयोग जर्मन-अमेरिकन मनोवैज्ञानिक एरिक एरिक्सन ने अपने सिद्धान्त साइकोलाजिकल डेवलपमेंट आफ ह्यूमन बीइंग में पहली बार किया है। इनका जन्म जर्मनी में 1902 में हुआ था और मृत्यु 1994 में अमेरिका में हुई।
8. Republic, Plato, Four Virtue : 1- Wisdom, 2 .Courage, 3. Self Control, 4. Justice.

आलेख

मित्रता का अद्वितीय आख्यान : *'सुदामा-चरित'*

- डॉ. राकेश कुमार द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर एवं अध्यक्ष–हिन्दी विभाग, डीएवी पीजी कालेज, वाराणसी

सनातन हिन्दू धर्म में विष्णु के अवतारों में 'राम' और 'कृष्ण' अर्थात् 'रामावतार' और 'कृष्णावतार' की प्रतिष्ठा पौराणिक काल से भी अधिक प्राचीन है। राम और कृष्ण की लीलाकथाएँ उस समय लोककंठों में रही होंगी तभी पौराणिक ग्रन्थों में इनकी सविस्तार चर्चा वंशावलियों के विवेचन के साथ प्राप्त होती है। कालांतर में इन दोनों ही महापुरुषों का लीलाचरित कवियों के काव्य का उपजीव्य बना। त्रेतायुग में राम के समय में स्वयं संस्कृत कवि वाल्मीकि ने उनके जीवन के घटनाक्रमों को आधार बनाकर *'रामायण'* नाम का विश्व-विश्रुत महाकाव्य लिखा तो द्वापर में जब कृष्ण का अवतार हुआ तब महर्षि वादरायज अर्थात् व्यासजी ने *'महाभारत'* (कौरव और पांडवों की कथा) में कृष्ण के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अत्यंत कवित्व के साथ चित्रित किया। ये दोनों ही ग्रंथ हिन्दू संस्कृति और जन-जीवन की आस्था के पर्याय हैं। 'रामायण' में जहाँ आदर्श की प्रधानता है वहीं 'महाभारत' में यथार्थ का आग्रह। जीवन का ऐसा कोई कोना नहीं जिसका मार्मिक अंकन इन ग्रन्थों में न किया गया हो।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम और लीतापुरुषोत्तम कृष्ण का चरिताख्यान हिन्दी-कवियों के बीच भी कौतूहल का विषय रहा, आज भी हिन्दू जन-समुदाय उनमें अपनी जीवनादर्शों की प्रतिच्छवियाँ देखा करता है। हिन्दी में रामकाव्य की परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय 'रामावत् सम्प्रदाय' के संस्थापक आचार्य रामानंद को जाता है तो कृष्ण काव्य की प्रतिष्ठा 'अष्टछाप' के संस्थापक आचार्य बल्लभाचार्य तथा उनके पुत्र गुसाईं विट्ठलनाथ के सत्प्रयासों के संभव हुई। रामानंद के रामावत् सम्प्रदाय में आगे चलकर दो तरह के शिष्य हुए, एक निगुर्ण निराकार के उपासक थे तो दूसरे सगुण और साकार ब्रह्म के। कबीर, दादू, रैदास, रज्जब आदि जहाँ निर्गुण मतावलंबी थे वहीं नरहरि के शिष्य तुलसीदास, अग्रदास तथा नाभादास आदि सगुणोपासक भक्त थे।

लीला प्रधान अवतार होने के कारण हिन्दी के कवियों को कृष्ण का चरित्र बराबर आकृष्ट करता रहा, यही कारण है कि हिन्दी में जितनी संख्या कृष्णभक्त कवियों की है उतनी

अन्य किसी की नहीं। कृष्ण की भक्ति ने हिन्दू ही नहीं, रहीम, रसखान जैसे मुसलमान कवितों को भी अपनी ओर ऐसा खींचा कि वे अद्वितीय कृष्णभक्त बन गये। लेकिन हिन्दी में कृष्ण-काव्य की प्रतिष्ठा में सबसे बड़ा योगदान आचार्य बल्लभ और उनके अष्टछाप के कवियों-नन्ददास, सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास तथा कुम्भनदास जैसे कवियों का है। इनमें सूरदास सर्वोच्च कृष्ण भक्त के रूप में ख्यात हैं।

उसी भक्तिकाल (संवत् 1375-1700) में कुछ ऐसे सम्प्रदाय-निरपेक्ष कवि भी हुए जिन्होंने हृदय के प्रेमोद्गारों को स्वच्छंद रूप से, बिना किसी मत-मतांतर के चक्कर में पड़े, अभिव्यक्त किया। ऐसे कवियों में मीरा, रहीम, रसखान, कृपाराम, कवि भंग, लालचंद तथा नरोत्तमदास का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य में नरोत्तम अपने लोकप्रिय ग्रंथ 'सुदामा-चरित' के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं।

मध्ययुगीन अन्य कवियों की भाँति नरोत्तमदास के विषय में भी अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। 'सुदामाचरित' और 'ध्रुवचरित' के सम्पादक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इनके विषय में लिखा कि, 'सुदामाचरित' में प्रायः 120 से 121 छन्द तो सभी प्रतियों में मिलते हैं, किसी में कुछ और किसी में कुछ; ऐसे भी हैं जो कई प्रतियों में मिलते हैं, हो सकता है कि पुराने हस्तलेखों के मिलने पर दो चार छन्द और भी मूल के प्रमाणित हों। जो प्रमाणित हस्तलेख नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय और मायाशंकर याज्ञिक के संग्रहों के हैं पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार इनमें किसी में लिपिकाल का उल्लेख नहीं है। सम्मेलन संग्रहालय के पाण्डुलिपि विभाग से प्राप्त संग्रह की भी यही स्थिति है।[1]

मेरे गुरुवर प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र जिन्होंने कालांतर में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं. मायाशंकर याज्ञिक के संग्रह तथा 'सुदामाचरित' की प्राप्त अन्य प्रतियों के आधार पर 'सुदामा-चरित' का सम्पादन किया। ग्रंथ की भूमिका में उन्होंने कवि के विषय में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के हवाले से लिखा कि–''नरोत्तमदास क्या थे? यह जीवनी से भी पता नहीं चलता। उनका जीवनवृत्त भी नाममात्र को ही उपलब्ध है। वे सीतापुर के कस्बाबाड़ी के ही रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और संवत् 1602 के आस-पास विद्यमान थे तथा 'सुदामाचरित' का निर्माण संवत् 1582 के लगभग हुआ था।''[2]

आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने साहित्येतिहास ग्रंथ में नरोत्तमदास के विषय में अधिक नहीं लिखा है। भक्तिकाल के फुटकर कवियों में इनका उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने लिखा कि, ''ये सीतापुर के जिले बाड़ी कस्बे के रहने वाले थे। 'शिवसिंह सरोज' (शुक्लजी ने इसी ग्रंथ के आधार पर इनका विवरण दिया है) में इनका संवत् 1602 में वर्तमान रहना लिखा है। इनकी जाति का उल्लेख कहीं नहीं मिलता।''[3] शुक्ल जी ने नरोत्तम दास की कवि-प्रतिभा के विषय में लिखा कि–''इनका 'सुदामाचरित' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसमें घर की दरिद्रता का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। यद्यपि यह छोटा है, तथापि इसकी रचना बहुत ही सरस और हृदयग्राहिणी है और कवि की भावुकता का परिचय देती है।''[4] आगे शुक्ल जी ने इस ग्रंथ की मधुमयी चित्रयुक्त भाषा पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि–''भाषा भी बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है। बहुतेरे कवियों के समान भरती के शब्द और वाक्य इसमें नहीं है।''[5] महत्व की बात यह है कि आचार्य शुक्ल और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र दोनों ने ही नरोत्तम को भक्त की अपेक्षा कवि ही अधिक माना है।

'सुदामा-चरित' अपने कलेवर में छोटा होते हुए भी एक महत्वपूर्ण खण्डकाव्य है। इस ग्रंथ के प्रणयन का मुख्य प्रयोजन सुदामा की 'गरबीली गरीबी' का चित्रण तथा कृष्ण और सुदामा की अद्वितीय मैत्री का वर्णन कर पाठक के चित्त को द्रवीभूत करना है। प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि कृष्ण और सुदामा की इस आदर्श मित्र की कथा को लेकर हिन्दी में अनेक सुदामाचरित लिखे गये। उनके अनुसार–''हिन्दी में सुदामाचरितों की परम्परा मिलती है। नन्ददास के सुदामचरित को यह महत्व प्राप्त नहीं हुआ जो काव्य के रूप में नरोत्तमदास के सुदामाचरित को प्राप्त है।

नरोत्तमदास के बाद आलम (सं. 1623), कालीराम (सं. 1731), माखन कवि (विक्रम की 18वीं शती), बालकदास (1890 वि.) और महाराज दास (1919 वि.) आदि ने भी सुदामाचरित और कृष्ण की कथा को आधार बनाकर सुदामाचरित कृतियाँ लिखी हैं।''[06] इन सभी कृतियों पर 'श्रीमद्भागवत्' की कथा का प्रमाण है। नरोत्तम दास की विशेषता यह है कि उन्होंने कथा के साथ ही साथ मार्मिक स्थलों की कल्पना कर इसे बड़ा ही हृदयग्राही बना दिया है। संख्यरस की प्रतिष्ठा के साथ इसमें श्रीकृष्ण के दीनबंधु, दीनवत्सल रूप को अत्यंत ही सरल और भावमय शब्दों में प्रतिष्ठित किया गया है। कवित्त, सवैया, दोहा, रोला, कुंडलिया जैसे छन्दों का प्रयोग कवि ने इसमें किया है।

नरोत्तम दास ने कथा से प्रेरणा लेते हुए 'श्रीमद्भागवत' में आये कृष्ण-सुदामा-प्रसंग को अपनी कल्पना से मौलिकता प्रदान की है। भागवत में सुदामा की पत्नी का नाम सुशीला है लेकिन 'सुदामाचरित' में 'सुबुद्धि' जो 'शील' के बजाय 'बुद्धि' पर बल देने के संकेत से युक्त है। स्पष्ट है कि सुदामा जितने सरल, स्वाभिमानी और विनयी ते उनकी पत्नी उतनी ही चतुर और दक्ष। 'श्रीमद्भागवत' के अध्याय 80 से 81 तक इसी कथा का वर्णन है। कृष्ण के दो मुट्ठी चावल खाने पर रुक्मिणी उन्हें रोकती है और कहती हैं कि स्वामी, अपने रहने का स्थान तो बचा रहने दीजिए। भगवताकार ने लिखा–

''त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्त्र कक्षाश्च सद् द्विजः।
विप्रो अगम्यान्धवृष्णीनां गृहे स्वयुत् धर्मिणाम्।।''[07]

इसी प्रकार संदीपनि गुरु के आश्रम में साथ-साथ पढ़ने, वन में लकड़ियाँ काटने, आँधी तथा वर्षा में भीगने आदि का वर्णन भागवतानुसार है किन्तु गुरुमाता द्वारा दिये हुए चने में से कृष्ण के भाग को भी खा जाना नरोत्तमकवि की प्रकल्पना है जिससे उन्होंने कथा को और भी विश्वसनीय और मार्मिक बना दिया है। इसी तरह कृष्ण द्वारा सब कुछ दे दिये जाने पर भी सुदामा को प्रत्यक्षतः कुछ न दिखाई पड़ना, उनका कृष्ण को बुरा-भला कहना आदि प्रसंग नरोत्तम के अपने हैं। यही सब संभवतः इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का कारण बना होगा, इसमें संदेह नहीं।

नरोत्तमदास कृत 'सुदामा-चरित' में कुल 120 छन्द हैं। इस ग्रंथ की प्रारम्भ परम्परानुसार 'ईश-वंदना' से इस प्रकार होता है–

''गनपति कृपानिधान विद्या वेद विवेक जुत।
देहु मोहिं वरदान हर्ष सहित हरिगुन कहौं।।1।।
हरिचरित बहु भाई सेस दिनेस न किह सकैं।
प्रेम सहित चित खाइ सुनौ सुदामा की कथा।।2।।
श्री गनेस सुमिरन करूँ, उपजै बुद्धि प्रकाश।
भिक्षा माँगि भोजन करैं, हिये जपै हरिनाम।।3।।''[08]

उक्त तीसरे छन्द की अन्तिम पंक्ति में कवि ने सुदामा की माली हालत की ओर संकेत कर दिया है और इसके तुरन्त बाद उनकी पत्नी 'सुबुद्धि' (सुशीला) का वर्णन है–

''ताकी धरनी पतिव्रता, गहे बेद की रीति।
सलज सुसील सुबुद्दि अति, पतिसेवा सों प्रीति।।4।।''[09]

एक दिन आपस में संवाद करते हुए सुदामा की गृहिणी सुबुद्धि को पता चला कि द्वारका के राजा श्रीकृष्ण सुदामा के बचपन के सखा हैं और दोनों ने गुरुकुल में साथ-साथ पढ़ा है, तो वह अपने पति से द्वारका जाने के लिये हठ करने लगी। सुदामा को द्वारका पठाने के पीछे उसका जो तर्क था वह यह था–

''द्वारिका के गये, हरि दारिद हरैंगे पिय,
द्वारिका के नाथ, वे अनाथन के नाथ हैं।।8।।''[10]

सुदामा की स्त्री कृष्ण का बखान करती है और अपनी व्यावहारिक बुद्धि से सोचती है कि कृष्ण के पास जाने से उनकी दरिद्रता अवश्य ही मिट जायेगी, क्योंकि वे राजा हैं अपने मित्र को इस हाल में देख नहीं पायेंगे और जब राजा मित्र हो तो उसके घर निःसंकोच जाना चाहिए, पर सुदामा मानो स्त्री का भाव भाँपते हुए अपनी विमल भक्ति के साथ अपनी नियति का उल्लेख करते हुए तुष्ट मनोवृत्ति का परिचय देते हैं–

"मेरे हिये हरि के पद-पकंज, बार हजार लै देखु परीच्छा।

औरन को धन चाहिए बावरि, बांभन के धन केवल भिच्छा।।9।।"[11]

ब्राह्मण का धन केवल 'भिक्षा' है, मानो यह कहकर वे पत्नी के अरमानों पर पानी फेर देते हैं। सुदामा गरीब हैं, पर, स्वाभिमानी ब्राह्मण हैं। कोई राजा हो तो हो उसके दरवाजे जाकर कुछ माँगना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। कवि नरोत्तमदास ने उनकी गृहिणी की मनोदशा और दीनदशा का जो चित्रण किया है वह अत्यंत ही मार्मिक है। किस स्त्री की इच्छा नहीं होती कि उसके घर में जरूरत की सभी वस्तुएँ हों, पर सुदामा के घर में–

"या घर ले न गये कबहूँ पिय! टूटो तथा अरु फूटी कठौती।।12।।"[12]

इस पर सुदामा पत्नी की चुटकी लेते हैं–

"जातहि दैहैं लदाइ लढ़ा भरि, लै हौं रिवाइ यहै जिय जानी।

जो पै दरिद्र रिख्यो हैं लिलार, तो काहू पै मेटिन जात अजानी।।"[13]

प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र ने लिखा कि –"भरपेट कोदो साँवा का न मिल पाना, ठंडक का बिना कपड़ों के सिसियाते ही बीत जाना, एक जोड़ी धोती का भी न मयस्सर होना कभी साबुत तावा और कठौती का न बन पाना सुदामा के दारिद्रय का ही नहीं प्रकारान्तर से मिथ्याजीवी ब्राह्मण मात्र का प्रतीक है।"[14] ऐसे में भी सुदामा का धीरज देखने लायक है–

सुख-दुःख के दिन तौ काटे ही बनैंगे भूलि,

बिपति परे पै द्वार मित्र के न जाइये।।"[15]

तुलसी ने लिखा–'धीरज धरम मित्र अरु नारी, आपद काल परखिअहिं चारी।" सुदामा का धीरज ऐसा ही है जो हजार मुसीबते सहने के तैयार है, पर किसी के सामने हाथ फैलाना उसके ज़मीर को गवाँरा नहीं। किन्तु जब देवता तक स्त्री के हठ के सामने झुके तो विचारे सुदामा की क्या बिसात? हार-थककर उन्हें पत्नी की बात माननी ही पड़ी। द्वारका पहुँचने पर सुदामा को नागर संस्कृति की सुन्दरता का भान होता है। महलों के बीच में अपने मित्र कृष्ण के घर को न पहचान पाने पर वे द्वारपाल से पूछते हैं–

"धीरज अधीर के, हरन पर पीर के,

बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं?।।"[16]

द्वारपाल ने जब सुदामा को देखा तो वह देखता ही रह गया, उसके आश्चर्य का तब ठिकाना न रहो जब सुदामा ने कृष्ण को अपना सखा बताया। भागवत् में द्वारपाल का प्रसंग नहीं है, वहाँ जब सुदामा पहुँचते हैं तो सीधे कृष्ण के महल के सामने खड़े होते हैं और रुक्मिणी के साथ वार्तालाप कर रहे कृष्ण उन्हें देख लेते हैं, लेकिन नरोत्तम ने राजा की गरिमा के अनुसार द्वारपार का प्रसंग लाया है। द्वारपाल जब संदेशा लेकर कृष्ण के पास जाता है तब कृष्ण के पूछने पर वह आगंतुक का परिचय बहुत ही ह्रदयस्पर्शी और मार्मिक रूप से इस प्रकार देता है–

सीस पगा न झगा तन में, प्रभु! जाने को आहि बसे केहिग्रामा।

धोती फटी-सी लटी-दुपटी अरु पायँ उपानहु की नहिं सामा।।

द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रहयो चकि सो वसुधा अभिरामा।

पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा।।"[17]

आचार्य शुक्ल ने लिखा कि, 'सुदामाचरित' का यह सवैया आज भी लोगों के मुख से सुना जाता है। द्वारपाल के मुख से 'सुदामा पांडे' का नाम सुनते ही कृष्ण के नेत्रों के सामने बचपन के दिनों की पूरी तस्वीर घूम गयी, मित्र का नाम सुनते ही वे हर्ष के साथ नंगे पैर ही दौड़ पड़े। द्वार पर पहुँचते ही सुदामा को अंक से लगा लिया। मित्र को ऐसी दीन-हीन दशा में देख उनके नेत्रों से झर-झर आँसू गिरने लगे। नरोत्तम ने लिखा–

"रंक ते राउभयो तबहीं, जबहीं भरिअंक रमापति भेट्यो।।"[18]

सुदामा और कृष्ण के इस "मित्र–मिलन" को तीनों लोकों ने देखा। कृष्ण ने अत्यंत आदर के साथ सुदामा को

महल के भीतर ले जाकर सिंहासन पर बैठा दिया और आतिश्य करने लगे। नरोत्तमदास ने मैत्री-भाव को सात्विक चरम प्रदान करते हुए राजा और रंक के मध्य की खाई पूरी तरह से पाटते हुए लिखा कि, कृष्ण ने बेवाइयों से फटे तथा काँटों से भरे सुदामा के पैर को अपने नेत्र-जल से अभिसिंचित किया, परात में रखे पानी को हाथ तक नहीं लगाया। सुदामा की ऐसी दशा देखकर कृष्ण बहुत दुःखी हुए और बोले–

''हाय महादुःख पाय सखा,

तुम आये, इतै न कितै दिन खोए।।''[19]

कृष्ण की सभी पटरानियाँ इस मैत्री को देख के चकित हैं। उन्होंने भगवान की उदारता, सदाशयता, परदुःखकातरता और भक्ति-वत्सलता को प्रत्यक्षतः देखा। कुशल -क्षेम जानने के पश्चात अचानक कृष्ण ने देखा कि सुदामा उनसे कुछ छिपा रहे हैं, तभी उनका ध्यान एक छोटी-सी पोटली (जिसमें सुदामा की पत्नी ने कुछ तंदुल दे दिये थे। की ओर गया। कृष्ण सब माजरा समझ गये–

''कछु भाभी हमको दियो, सो तुम काहे न देत।

चाँपि पोटरी काँख में, रहयो कहो केहि हेत।।''[20]

कृष्ण ने सुदामा को बचपन के दिनों की याद दिलाई और गुरुमाता के दिये हुए चने (जिसे सुदामा चोरी से अकेले ही खा गये थे) का पुनःस्मरण कराया। कृष्ण ने उस पोटली से चावल निकाला और जैसे ही दो मुट्ठियाँ खाई कि–

''हाल्यो पर्‌योथोकन में, लोकन में लाल्यो पर्‌यो,

चाल्यो पर्‌यो चौकन में, चाउर चबात ही।।''[21]

उन्होंने चावल चबाने के बदले सुदामा को क्या-क्या दे दिया, यह कोई न जान सका क्योंकि भक्त और भगवान, दरिद्र और दाता के बीच में कोई तीसरा आ भी नहीं सकता। रुक्मिणी इस रहस्य को जानती थी इसीलिए तीसरी मुट्ठी खाने से पहले उन्होंने भगवान के हाथ पकड़ लिया–

''मूठी तीसरि भरत ही, रुकिमिनि पकरी बाँह।

ऐसी तुम्हैं कहा भई, सम्पति की अनचाह।।''[22]

इस प्रकार दो मूठी चावल खाने के बदले में भगवान ने सुदामा को दो लोकों का राजा बना दिया। सात दिन तक आतिथ्य करने के बाद मित्र को साग्रह विदा किया। लौटे हुए सुदामा की मनोदशा का नरोत्तम ने बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया है। प्रत्यक्षतः कुछ न पाकर वे रास्ते में अपनी स्त्री के साथ ही कृष्ण को भी भला-बुरा कहते हैं। स्वाभिमानी विप्र सुदामा इसे अपनी गरीबी की मजाक समझते हैं लेकिन बचपन के सखा होने के कारण कृष्ण को श्राप नहीं देते–

''बालापन के मित्र हैं, कहा देउँ मैं सराप।

जैसी हरि हमको दियो, तैसो पइहैं आप।।''[23]

कथा में दिलचस्प नाटकीयता तब घटित होता है जब द्वारका से लोटे हुए सुदामा अपना घर ही नहीं पहचान पाते। कृष्ण की कृपा से उनका गाँव अब नगर बन चुका था, जहाँ का ऐश्वर्य देख लक्ष्मी भी लजा जाती थीं। चारो तरफ सोने-चाँदी के महल जगमगा रहे थे। जब उनकी पड़ाइन उनके सामने आती हैं तो वे उन्हें भी नहीं पहचान पाते, अंततः सारे रहस्य का पटाक्षेप हो जाता है। सुदामा मित्र की दरियादिली से फूले नहीं समाते। वे बार-बार कृष्ण के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापित करते हैं–

''कै वह टूटी सो छानी हतीं कि मनोहर कंचन धाम सुहावत।

कै पग में पनही न हतीं कि लिये गज-राजहु ठाढ़े महावत।।

भूमि कठोर पै राति कटै, कहँ कोमल सेज पै नींदन आवत।

जेहिं के जुरतो नहिं को दौ सवाँ, प्रभु के परिताप ते दाख न भावत।।''[24]

किसी के जीवन में ऐसा आमूल परिवर्तन दैव-इच्छा से ही संभव है। ''सुदामा के दिन लौटना'' कृष्ण की दया से ही संभव हुआ और तभी से यह मुहावरा चल निकला होगा। अधोलिखित दोहे के साथ यह ग्रंथ समाप्त हो जाता है–

दन्य धन्य जदुवंश मनि, दीनन पै अनुकूल।

धन्य सुदामा सहित तिय, कहि बरसहिं सूर फूल।।''[25]

कृष्ण ने जहाँ एक तरफ राजा होने का 'राजधर्म' निभाया वहीं दूसरी ओर सखा होने का 'मित्र-धर्म' भी। जहाँ एक ओर ईश्वर होने का 'भगवत्धर्म' निभाया वहीं दूसरी ओर संसार के पोषक होने का 'पोषाक धर्म' भी। इसीलिए

कृष्ण और सुदामा की यह कथा लोक में 'मित्रधर्म' का आदर्श बन सकी है। नरोत्तमदास ने जिस भावुकता, हृदयस्पर्शिता, प्रसंगयुक्तता, चित्रमयता, प्रवाहमयता, सरलता और रसज्ञता के साथ डूबकर इस कथा की प्रसंगोइ भावना की है, वह विरल है।

निष्कर्षतः यहकहा जा सकता है कि आज के धोखे, विश्वासघात और छल-छद्म भरे जीवन में इस ग्रंथ की प्रासंगिकता तब और भी बढ़ जाती है जहाँ सम्बन्धों को तार-तारकर हर तरफ गलाकाट स्पर्धा छिड़ी हुई है। मेरे विचार से आज यदि ऐसे ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में उचित स्थान दिया जाय तो समाज की दशा कुछ अवश्य ही बदल सकती है। समाज की दशा और दिशा को बदलने की सामर्थ्य रखने वाला कवि नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित' मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का एक ऐसा ही जगमगाता हुआ नगीना है।।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : सम्पादक-'सुदामाचरित', उद्धृत-सत्यप्रकाश मिश्र 'सुदामाचरित', लोकभारती प्रकाशन, 15 ए महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2004, पृ. 5
2. सत्यप्रकाश मिश्र : सम्पादक– 'सुदामा–चरित', वही, पृ. 5
3. रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', प्रकाशक-नागरी प्रचारिणी सभा काशी, 32वाँ संस्करण, 2054 विक्रम, पृ. 110
4. वही, पृ. 110
5. वही, पृ. 110
6. सत्यप्रकाश मिश्र : सम्पादक– 'सुदामा-चरित', वही, पृ. 6
7. 'श्रीमद्भागवत्', उद्धृत–सत्यप्रकास मिश्र, सम्पादक–'सुदामा-चरित' वही, पृ. 7
8. नरोत्तमदास : 'सुदामा चरित', सम्पादक–सत्यप्रकाश मिश्र, वहीं पृ. 13
9. वही, पृ. 13
10. वही, पृ. 14
11. वही, पृ. 14
12. वही, पृ. 15
13. वही, पृ. 15
14. वही, (प्राक्कथन) पृ. 8
15. वही, पृ. 16
16. वही, पृ. 18
17. वही, पृ. 18
18. वही, पृ. 19
19. वही, पृ. 19
20. वही, पृ. 20
21. वही, पृ. 21
22. वही, पृ. 21
23. वही, पृ. 22
24. वही, पृ. 28
25. वही, पृ. 28

साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में दलित विमर्श

- डॉ0 राकेश कुमार राम

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
डी.ए.वी.पी.जी. कालेज, वाराणसी

साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों के संदर्भ में प्रायः यह सवाल उठाया जाता रहा है कि भारतीय नवजागरण और स्वातंत्र्योत्तर भारत के विकसित दौर में अनेक अन्य विमर्शों की तरफ दलित विमर्श की परम्परा रही है अथवा नहीं, तो इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि ''साठोत्तरी साहित्य के औपन्यासिक विधा में जिस संक्रान्तिकालीन समाज की अनिवार्यता की ओर संकेत किया जाता रहा है, जिसमें व्यक्ति और समाज के द्वन्द की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, उसमें दलित विमर्श की भी बात की गयी है।''[1] हालांकि इस देहरी के केन्द्र में मध्य वर्ग ही है, लेकिन मध्य वर्ग के साथ–साथ पिछड़े और दलित वर्ग का विकास भी तेजी से होने लगा था। दलितों में एक नई चेतना का आविर्भाव होने लगा था। यहीं चेतना साहित्यिक रूपों (उपन्यासों) में भी रही है। डा0 विजय शंकर मल्ल के शब्दों में ''तात्कालीन उपन्यास अपने समकालीन मध्यवर्गीय समाज और देश–दशा का विस्तृत परिचय देता है।''[2]

अपनी प्रकृति और लक्ष्य की दृष्टि से सैकड़ों साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों की रचना की गई, जिनमें कुछ महत्वपूर्ण उपन्यास इस प्रकार हैं– 'महारानी दुर्गावती' (1964)–बृन्दावनलाल वर्मा, 'मुक्तिबोध' (1965)–जैनेन्द्र, 'ऋतुचक्र' (1969) इलाचन्द्र जोशी, 'सीधी–सच्ची बातें' (1968), सबहि नचावत राम गोसाईं (1970)–भगवती चरण वर्मा, 'दिवोदास' (1961)–राहुल सांकृत्यायन,'अपने–अपने अजनबी' (1961)–अज्ञेय, 'शहर में घूमता आईना' (1962)–उपेन्द्रनाथ अश्क, 'जमनिया का बाबा' (1968) नागार्जुन 'अमृत और विष' (1961) अमृतलाल नागर, 'महाश्रमण सुने (1963) कृष्णचंद शर्मा, 'दर्पण का व्यक्ति' (1968)–विष्णु प्रभाकर, 'कहो उर्वशी' (1961) देवेन्द्र सत्यार्थी, 'अनदेखे अनजान पुल' (1963)–राजेन्द्र यादव, 'जंगल' (1969)–अमृतराय, 'जो' (1963)–प्रभाकर माचवे, 'दीर्घतपा' (1964)–फणीश्वरनाथ रेणु, 'यह पथ बंधु

था' (1962), 'नदी यशस्वी है' (1967)—नरेश मेहता, 'समुद्र में खोया हुआ आदमी'(1967)—कमलेश्वर, 'रागदरबारी' (1968)—श्रीलाल शुक्ल, 'नदी फिर बह चली' (1965)—हिमांशु श्रीवास्तव , 'घने और वने' (1961)—बलभद्र ठाकुर, 'कोयल और आकृतियाँ', (1970)—लक्ष्मीकान्त वर्मा, 'हौलदार' (1961)—शैलेश मटियानी, 'उतरते ज्वार की सीपियाँ' (1968)—राजेन्द्र अवस्थी, ' भग्न सीमाएँ (1965), 'लकुमा' (1969)—बालशौरी रेड्डी, 'पानी के प्राचीर' (1961) 'जल टूटता हुआ' (1969) रामदरश मिश्र, 'अंधेरे बंद कमरे' (1961)—मोहन राकेश, 'पचपन खंभे लाल दिवारे',—उषा प्रियंवदा, 'चारूचन्द्र लेख' (1963) हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'वे दिन' (1964)—निर्मल वर्मा, 'काला जल' (1965) गुलशेर खाँ शानी, ' आधा गाँव' (1966)—राही मासूम रजा, 'झरोखे' (1967)—भीष्म साहनी, 'चिड़ियाँ घर' (1968)—गिगिराज किशोर 'अलग—अलग वैतरणी' (1967)—शिवप्रसाद सिंह, 'बबूल' (1967)—विवेकी राय, मित्रों मरजानी' (1967)—कृष्णा सोबती, 'एक पति के नोट्स' (1967)— महेन्द्र भल्ला 'रीक्ष' (1967)—विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, 'सोने की नैया' (1967)— मायानन्द्र मिश्र, 'अमलतास' (1968)—शशि प्रभा शास्त्री, 'वह अपना चेहरा' (1969)—गोविन्द मिश्र, 'आँखों की दहलीज' (1969)—मेहरून्निशा परवेज, ओरछा की नर्तकी' (1970)—इकबाल बहादुर देवसरे, 'मछली मरी हुई' (1965)—राजकमल चौधरी, 'गाँठ' (1970)—हृदयेश, 'धूपछाँव रंग' (1970)—गिरिश अस्थाना, 'विपात्र' (1970)—मुक्तिबोध, 'जिन्दगियाँ बेमतलब' (1968)—दुष्यंत कुमार, 'दूसरी बार' (1968)—श्रीकान्त वर्मा, 'कुणाल की आँखे' (1967)—आनन्द जैन, 'ग्राम सेविका' (1967)—अमरकान्त, 'चौदह फेरे' (1969)—शिवानी एवं मन्नू भण्डारी कृत 'एक इंच मुस्कान (1962)।

इन सभी उपन्यासों के अलग—अलग कथ्य हैं, जिनमें साम्प्रदायिकता किसानों, मजदूरों का शोषण, कस्बाई क्षेत्रों का विवरण, ग्रामेतर संदर्भ एवं स्त्री—विमर्श प्रमुख हैं। जहाँ तक दलित विमर्श की बात है तो साठोत्तरी उपन्यासों में कुछ ही ऐसे उपन्यास हैं, जिनमें दलित विमर्श अथवा दलित संदर्भ की बात की जा सकती है। इन उपन्यासों में 'सबहि नचावत राम गुसाई' (1970)—भगवती चरण वर्मा, 'दिवोदास' (1969)—राहुल सांकृत्यायन, 'जल टूटता हुआ' (1969)—रामदरश मिश्र, 'अलग—अलग वैतरणी' (1967)—शिवप्रसाद सिंह, 'वयं रक्षामः (1967)—चतुरशेन शास्त्री एवं 'सीधी—सच्ची बातें' (1969)—भगवती चरण वर्मा आदि को लिया जा सकता है।

'जल टूटता हुआ' (1969)—रामदरश मिश्र, व्यक्ति और समाज के पतन की कहानी है। इस कहानी में हरिजनों की व्यथा भी जुड़ी हुई है, जो मार्मिक रूप से उद्घाटित होती है। इस उपन्यास में एक दलित स्त्री 'बदमी' का प्रासंगिक रूप से चित्रण हुआ है, जो सामाजिक जाति—पाति के कुचक्र में फँसी हुई है। बदमी के गाँव में दलितों की बहुत अच्छी स्थिति नहीं है। वहीं सामाजिक दंश वे सदियों से झेलते आये हैं, जिसे उनके बाप—दादा भोगने को अभिशप्त थे। एक बार गाँव में आये बाढ़ में बदमी बह जाती है। लेकिन उसको नीच जानकर कोई बचाने नहीं आता। लोगों को यह डर है कि उसे छूने से उनका धर्म कहीं भ्रष्ट न हो जाये। परन्तु उसका प्रेमी 'कुंजु तिवारी' जो स्वयं भी जाति से सवर्ण है, अपने प्राण संकट में डालकर बदमी को बचा लेता है। कुंजु तिवारी ऐसा इसलिए करता है कि वह स्वयं भी समाज का घिनौना रूप देखकर समाज से अलग—थलग पड़ चुका है। अतः समाज का परवाह किये बिना वह बदमी को बचाता है। यहाँ कुंजु के एहसान तले दबी बदमी कहती है—''यहाँ भी वहीं अशान्ति पीछे—पीछे दौड़ती है। सभी मुझे आँखे मारते हैं, मेरी भरी—भरी देह में आँख गड़ा देते हैं, तो मैं डरकर भाग जाती हूँ। काम करने जाती हूँ तो कितनी आँखे मेरे आस—पास चक्कर काटती रहती हैं। मैं यहीं सोचती हूँ कि सचमुच औरत की देह और भरी

जवानी पाप है। उसे किसी को दो तो दुख न दो तो दुख..............................कोई भीतर का दरद तो देखता नहीं।''[3] इस पर कुंजु तिवारी भारी सांस लेकर कहता है कि—''हाँ बदमी तू ठीक कह रही है। भीतर का दरद कोई नहीं देखता, और मुझे ऐसा लगता है कि ये सारे धरम—करम, पोथी—पतरा, वेद—शास्त्र सब कुछ देखते हैं, लेकिन आदमी का दरद नहीं देखते। ये सब आदमी को आदमी नहीं समझते उसे देवता समझते हैं या राक्षस।''[4]

यहाँ पर लेखक कुंजु तिवारी और बदमा के माध्यम से जाति, धर्म, शास्त्र और पोथी—पत्रा से बढ़कर मानवीय धर्म को बतलाते हैं, जो संसार के सभी मनुष्यों, जो चाहे जिस जाति अथवा धर्म का हो, उससे प्रेम करना सिखाता है। उपन्यास के दूसरे प्रसंग में पंचायत चुनाव की चर्चा होती है। जातीय सरोकारों से जकड़े हुए गाँव में पंचायत राज्य की स्थापना में दलितों की आँखों में भी सपने तैरने लगते हैं। रामकुमार, सतीश, दीनदयाल, अमलेश और जग्गू हरिजन जैसे दलित भी पंचायत चुनाव में खड़े होते हैं। चुनाव से गाँव वालों को भी लग रहा था कि आजादी के बाद वे बहुत बड़ा निर्णय लेने जा रहे हैं, लेकिन यहाँ पर भी सवर्णों की वहीं मनुवादी मानसिकता काम करती है। सवर्ण दलसिंगार को दलितों का चुनाव लड़ना अच्छा नहीं लगता। वह दीनदयाल से कहता है—''हाय मईया : सुना है, दीनदयाल भाई आपने! पंचायत में कई चमार, कई तेली और कई अहीर खड़े हो रहे हैं। सतीश और कुमार कई छोटी जातियों को उकसा रहे हैं। कह रहे हैं छोटी जातियों को पंचायत राज में समान अधिकार मिलना चाहिए। हाय मईया! लोप हो गया, जो चमार—सियार हमारा आपका हल जोतते हैं, वे पंच बनकर हमारा फैसला करेंगे।[5] यहाँ सवर्णों को दलित सिर्फ हलवाह, मजदूर, अथवा गुलाम के रूप में ही स्वीकार हैं। दलितों का सरपंच बनना अथवा बेहतर जिन्दगी जीना उन्हें कत्तई स्वीकार नहीं था।

आज आजादी के कितने वर्ष हो गये। आजादी के बाद नेताओं ने कितने—कितने सपने देखे थे और लोगों को दिखाये थे। गरीबों, अनाथों, श्रमिकों और अछूतों को नई जिन्दगी मिलेगी। उन्हें खेत मिलेंगे, उनके लड़के पढ़ेंगे—लिखेंगे, अफसर बनेंगे। लेकिन इतने दिनों बाद भी आजादी उनके लिये क्या लाई। नेता पहले भी भाषणबाजी अथवा झूठे वादे करके वोट बटोरते थे और आज भी बटोर रहे हैं। उपन्यास के पात्र जग्गू गोड़इत जैसे लोग आजादी से पहले भी मजदूरी करते थे और आज आजादी के बाद भी पत्तल ढोते हैं। दलितों की औरतें गोबरहे की रोटी आज भी खानें को मजबूर हैं। सवर्ण मालिकों के खेत—खलिहान में उनकी अस्मत आज भी उसी तरह खतरे में होती है। दलितों के पालतू जानवर सवर्णों के खेत में चली भर जायें तो उनकी शामत है। लेखक भी दलितों की दयनीय दशा देखकर विचलित है। दलितों के कुछ नंग—धड़ंग बच्चे जो सुअरों के झुंड के पीछे भाग रहे हैं, उनकी दीन—हीन दशा देखकर लेखक सोचने को मजबूर है—''क्या ये ही हमारे नेताओं की कल्पना के हरिजन बालक हैं, बड़े—बड़े पेट निकले हुये, भगई लपेटे हुए, नाक बहती हुई, हाथ में सुटुकनी और आँखों में बेहद भय कि उनकी सुअरियाँ कहीं मालिकों के खेत में न पड़ जायें।''[6] क्योंकि एक भी सुअर उनके खेत में गई तो उनकी खैर नहीं। सम्भवतः कुछ नुकसान न हो तब भी वह उसे मारता है और चिल्लाता है—'' साले मेरे खेत में तेरा सुअर कैसे आ गया।।''[7] सब कुछ सहकर दलित सवर्णों की गुलामी करने को मजबूर है, क्योंकि वे उनके मालिक जो ठहरे। यह अलग बात है कि इनके मालिक ''बाहर भीख ही क्यों न मांगते हो, मिलों में दरबानी, चपरासीगिरी और कुलीगिरी ही न करते हो, रिक्सा ही क्यों न हाँकते हों, चोरी—डकैती ही क्यों न करते हो...................लेकिन गाँव में हरिजनों के मालिक हैं।''[8]

हमारा देश भाषणों में कब—तक जियेगा। यहाँ धर्म और जाति की राजनीति कब—तक चलती रहेगी। दलितों के पास आज भी जोतने के लिये जमीन नहीं

है, ''सारे खेत तो इनके परायें हैं, सारी जमीन पराई है, कोई खेत, कोई बगीचा इनका नहीं है, केवल रास्ते इनके हैं। हमेशा चलते रहें, कहीं बैठे न, न सुस्ताएं, कहाँ जायें ये? आजादी के बाद भी कोई जमीन इनकी अपनी नहीं हो सकी।''[9] गाँवों में सवर्णों के इसी अमानवीयता के चलते मजदूरों, श्रमिकों अथवा दलितों का पलायन शहरों की तरफ हो रहा है। शहर में, कल कारखानों में, खानों में मजदूरों की खपत हो रही है कि दलित अथवा मजदूर गाँव छोड़–छोड़कर शहरों में भागे जा रहे हैं और गाँव में मजदूरों का अकाल पड़ता जा रहा है। सवर्णों के खेत मजदूरों के अभाव में जोते नहीं जा रहे हैं। बुआई नहीं हो पा रही है। मजबूरी यह कि सवर्ण अपने खेतों में काम नहीं कर पा रहे हैं, लिहाजा उनके घर में अन्न का एक दाना भी नहीं जा पा रहा है। सवर्णों को श्रम करने की आदत ही नहीं है। मजदूरी हेतु दलितों के न मिलने पर जब एक सवर्ण कहता है कि 'अब क्या होगा?' तब दूसरा सवर्ण कहता है–''होगा क्या? लोग उठाएं हल कंधे पर। दो पैसे का जनेव पहनकर सारा धर्म ओढ़ने का दंभ कर रखा है। इन लोगों ने। मैं तो कब से चिल्ला रहा हूँ कि धर्म के मिथ्या आडंबर को छोड़ों, अपना काम करना सबसे बड़ा धर्म है, लेकिन कोई सुनता ही नहीं।''[10]

लेखक ने अपने उपन्यास 'जल टूटता हुआ' के माध्यम से यह बताने का भी प्रयत्न करता है कि दलित वर्ग में मानवता व सहृदयता अभी भी शेष है, लेकिन सवर्ण कहे जाने वाले लोग इसको घोलकर पी गये हैं। इस सत्य को उजागर करती यह घटना इसका उदाहरण है। जब दलित बदमी के पेट में कुंजु तिवारी का बच्चा ठहर जाता है, तो इसको लेकर दलितों और सवर्णों में पंचाईत होती है, जिसमें सवर्णों की ओर से कुछ लोग कह रहे थे–''इस तरह की आवारा लड़कियों का गाँव में रहना, गाँव की इज्जत के लिए ठीक नहीं है।''[11] तो कुछ लोग यह भी कह रहे थे कि–''अरे भाई! भला–बुरा हो ही गया हो तो इसे लेकर घूमने की क्या जरूरत थी, इसे गिरवा दिया होता।''[12] इस पर बदमी का लज्जा से छिपा हुआ चेहरा तमतमा जाता है। वह तनकर खड़ी हो जाती है और कहती है–''खबरदार रघुनाथ बाबा, सभापति होकर ऐसी बात बोलते हैं। यह गिरने–गिराने का काम आप लोगों के घरों की बाभनियाँ कराती हैं। मुझसे किसी के घर का कुछ छिपा नहीं है औरों के घरों का तमाशा देखने सभी जुट जाते हैं, अपने घरों की ओर नहीं देखते, मैं पेट क्यों गिरवाती? क्या यह कोई पाप का बच्चा है। यह अपने बाप का बच्चा है।''[13]

इस तरह उपन्यासकार ने इस उपन्यास के माध्यम से दलितों के उदात्त चरित्र को दिखलाकर अपने प्रगतिशील होने का परिचय दिया है और सही अर्थो में दलित विमर्श की बात की है।

राहुल सांकृत्यायन कृत 'दिवोदास' (1961) वस्तुतः आर्यों के संघर्षपूर्ण जीवन की कथा है, जिसमें ऋग्वैदिक काल में आर्यों का उत्तर भारत में प्रसाद और उनकी दिग्विजयी अजेय शक्ति की प्रस्तुति कृति की मूल पीठिका है। इस उपन्यास में कहीं–कहीं दलित संदर्भ भी जुड़ गया है। इस उपन्यास में 'शम्भू' नामक किरात स्त्री का प्रसंग आता है जो दलित नारियों की जन्मजात वीरता एवं साहस का परिचायक है। उदाहरण के लिए आर्यो वं किरातों में जब युद्ध होता है तो दोनों एक दूसरे की भाषा को नहीं समझते, लेकिन ''शम्भू की ललकार ने पता दे दिया कि कोई दस्यु स्त्री बोल रही है। शब्द और स्वर गम्भीर था और उससे भी अधिक उसके प्रहार पड़ रहे थे। शम्भू के हाथ में विशाल वज्र था, जिससे उसके हाथों की शक्ति का पता चलता था।''[14] यहाँ उपन्यासकार यह बताना चाहता है कि दलित नारियाँ भी जन्मजात विरांगना एवं महान होती हैं। किन्तु तथाकथित सवर्ण समाज की अमानवीय व्यवस्था, परिस्थितियाँ एवं विवशताएं उसे वारंगना बनाने को विवश कर देती हैं। दलित नारी की विरांगता एवं महानता का स्वरूप उपन्यास में घटित इस घटना से समझा जा सकता है। 'शम्भू' जो कि असुर स्त्रियों की

सेना नायिका है, अपनी सेना लेकर एक आर्य ग्राम पर धावा बोलती है और उस आर्य ग्राम को पूरी तरह नष्ट कर देती है। किरात नारियों ने आर्यों की झोपड़ियों में घूम–घूम कर देखा, जहाँ उनका प्रतिकार करने लायक कोई नहीं रह गया था। अचानक शम्भू ने झोपड़ी के एक कोने में चार–पाँच बरस के बालक को डर के मारे कांपते बैठे देखा। आर्यों के लिए अपार घृणा रखते हुए भी शम्भू के हृदय में ममत्व का भाव पैदा होता है और इसी ममत्व में अपने हाथों के दोनों हथियारों को एक तरफ छोड़कर बच्चे को दोनों हाथों से उठाकर उसका मुँह चूम लेती है। इस डर से कि हमारे बाद कोई दूसरी निशाचरी इसे मार न दे, अपने साथ लिये जाती है। उस आर्य बालक को शम्भू कई वर्षों तक अपने पास रखती है। उसका आर्यों की तरह 'देवक' नामकरण करती है। बड़ा होने पर वहीं बालक शम्भू के साथ आर्यो के विरूद्ध युद्ध करता है। एक दिन इसी युद्ध में जब शम्भू मारी जाती है और देवक कैद पर लिया जाता है। तब कोई यह पूछता है कि ''देवक जब तुम ठीक हो जाओगे तो क्या करोगे?''[15] प्रतियुत्तर में देवक कहता है–''एक–एक आर्य को मार डालूँगा। मेरी एक मात्र इच्छा यहीं है कि देवक की माता को जिसने मारा, उन्हें जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है।''[16] इतना ही नहीं जब आर्य आक्रमणकारी पानी के दर्पण में देवक का मुँह दिखाकर पूछते हैं कि ''क्या अपने मुँह, नाक, आँख, दाढ़ी देखकर तुम्हें विश्वास नही होता कि तुम दासों जैसे नहीं हो। तुम हमारे भाई हो। कहने को नहीं, आर्य माता के पुत्र हो।''[17] इस पर देवक झल्लाकर कहता है '' मैं आर्य माता का पुत्र नहीं बनना चाहता। मैंने जब से होश संभाला, शम्भू माता को अपनी माता समझा। उनकी हत्या का बदला लेना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।''[18] इस तरह राहुल सांकृत्यायन ने इस उपन्यास में अन्य सन्दर्भों को दिखाते हुए दलित नारी शम्भू के उदात्र चरित्र, मानवीयता, उसकी वीरता आदि को ईमानदारी पूर्वक प्रस्तुत कर दलित विमर्श की एक सच्ची तस्वीर पेश की है।

'अलग–अलग वैतरणी (1967) में शिव प्रसाद सिंह ने बिहार के करौता नामक अभिशप्त गाँव की कथा कही है। करौता गाँव की कथा समूचे बिहार और उसके सीमावर्ती उत्तर प्रदेश की कथा है, जिसमें मनुष्य की आर्थिक और दैहिक तृष्णा ने जाति–धर्म का प्रश्रय लेकर कैसा ताण्डव रचा है, इसे लेखक द्वारा वखूबी दिखाया गया है। इस ताण्डव में दलित–स्त्री का भी मार्मिक चित्रण हुआ है। जाति व्यवस्था में जकड़े किसी दलित का ऊँचे पद पर पहुँचना वैसे तो बहुत कम होता है, लेकिन कोई दलित यदि उच्च पद पर भी जाता है तो अपने मातहत सवर्णों का व्यंग सहना पड़ता है। समाज में उसे वह इज्जत नहीं मिल पाती जिसका वह हकदार है। इस विसंगति को इस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। उपन्यास में जब एक दलित दरोगा होकर अपने गाँव आता है तो दलितों को बहुत अच्छा लगता है, लेकिन सवर्ण लोग उससे चिढ़ते हैं। उस पर तरह–तरह का व्यंग करते हैं। गाँव में एक वाकया होने पर ठाकुर तिवारी के लोग उससे मदद की आस रखते हैं। लेकिन मर्डर का मामला होने के कारण, वह मदद करने से इनकार कर देता है। इसी संदर्भ में जब ठाकुर जैपाल सुखदेव से पूछते हैं तो वह कहता है–''कहेगा क्या साला! नीच जात का यहीं हाल है। ऊँचे ओहदे पर पहुँच जाने से कही शराफत आ जाती है? शराफत तो खानदानी चीज होती है। कहने लगा मर्डर का केस है। अरे! मर्डर का केस न होता तो क्या चोरी–डकैती के केस के लिए हम तुम्हारी सिफारिश करते।''[19]

इस उदाहरण में इस अवधारणा की पुष्टि होती है कि भारतीय समाज में दलित कभी खानदानी नहीं हो सकते, क्योंकि खानदानी होना केवल सवर्णों का हक है। दलित समाज के लोग ना ही अच्छे कपड़े पहन सकता है और ना ही अच्छा खा–पी सकता है। इतना ही नहीं दलित नारियाँ सवर्ण नारियों के समान मनवांछित वस्त्र व आभूषण भी नहीं पहन सकती। इस तथ्य को प्रमाणित करता उपन्यास का एक प्रसंग जिसमें ठाकुर जैपाल सिंह गेमन दलित की लड़की

सुगनी को बुझारत सिंह के सामने खड़ी देख उसे किसी सवर्ण की बहू–बेटी समझते हैं, किन्तु वास्तविकता ज्ञात होने पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि ''देखने में तो वह किसी राजपूत बाभन की लड़की जैसी लगती हैं''[20] यहाँ जैपाल सिंह का आश्चर्यचकित होना अस्वाभाविक नहीं है। क्योंकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलितों के रहन–सहन का भी एक प्रावधान था, जिसे आज भी कहीं–कहीं देखा जा सकता है। उपन्यास में करौता गाँव की चमरौटी इसका जीता–जागता उदाहरण है, जो तलैया (पोखरा) के दक्षिणी कगार पर आबाद है। गाँव के बड़े लोगों से अलग करती यह तलैया लेखक को भी स्वाभाविक नहीं लगती। शूद्र, चाण्डाल, चिड़ीमार, कसाई, खर्बट के बाहर रहेंगे। उपन्यासकार की समझ से ''यह व्यवस्था जिस किसी ने जब भी दी होगी, उस समय तलैया नहीं रही होगी यह इत्मीनान नहीं होता कि इस व्यवस्था से पहले यहाँ तलैया थी और इसके उत्तर तरफ और दक्षिण तरफ शूद्र बसा दिये गये। यह खाईनुमा तलैया जरूर बाद में बनी, क्योंकि गाँव वालों को लगातार डर रहा होगा कि कहीं चमरौटी की आबादी समतल सीमा को चीरकर किसी दिन उनसे सट न जाये।''[21] हालांकि स्वतंत्रता के बाद इन सब विभेदकारी व्यवस्थाओं में सुधार भी हुआ है। अब दलितों में चेतना आने लगी है और जिस किसी दलित में चेतना आ गई है, वह सवर्णों के अदब में नही रहना चाहता। उपन्यास का एक दलित पात्र 'जगेश्वर इसका उदाहरण है, जो इस संदर्भ में कहता है–''अब ऊ जमाना गया कि ठकुराने के एक अदने छोकड़े को देखकर बड़े–बूढ़े चारपाई छोड़कर उठ जाते थे। अपना राज है। हम किसी से कम हैं क्या''[22]। उपन्यास की एक बड़ी खाशियत लेखक की साफगोई है। लेखक कहता है कि ''बड़े से बड़े जुल्म का निस्तार मिल सकता है, मगर उस जुल्म का कोई निस्तार नहीं है, जिसे भोगने वाला उसे जुल्म माने ही नहीं''[23]। इस तरह लेखक इस उपन्यास में विस्तार से तो नहीं लेकिन थोड़े में ही दलित विमर्श के मूल को पाठक के सामने रखा है।

'सीधी सच्ची बातें' (1968) में भगवती चरण वर्मा ने स्वतंत्रता के पूर्व व बाद की राजनीतिक परिस्थितियों एवं उससे जुड़े सामान्य चरित्रों का समन्वित चित्रण किया है। हालांकि इसमें दलित विमर्श का अल्प रूप में ही चित्रण हुआ है। यह अल्प चित्रण उपन्यास की एक स्त्री–पात्र मिस मण्डल के माध्यम से रूपायित हुआ है। उपन्यास के प्रमुख पात्र जगत प्रकाश को लगता है कि ''समस्त विभेद का स्रोत मनुष्य की सामर्थ्य, सक्षमता, शारीरिक एवं बौद्धिक बल में है। जो शक्तिशाली और समर्थ है, वह श्रेष्ठ है। जो निर्बल और असमर्थ है, वह पतित है।''[24] लेकिन उपन्यास की दलित पात्र जगत प्रकाश के प्रश्न को हल कर देती है। जगत प्रकाश के यह पूछने पर कि 'आप बंगाली हैं,' इस पर मिस मण्डल कहती हैं ''हाँ बंगाली अछूत लेकिन अब अछूत नहीं रह गई हूँ। क्योंकि मैं इसाई बन गई हूँ।''[25] इतना ही नहीं जगत प्रकाश के यह पूछने पर कि 'आप ईसाई बनी हैं या आपके पिताजी' उत्तर में मिस मण्डल कहती है ''मैं ईसाई बनी हूँ, मेरे पिता अब भी हिन्दू हैं। चटगाँव में वकालत करते हैं, उनके पास अच्छी सम्पत्ति है।..... ....उन्होने मुझे ईसाई बनने से बहुत रोका, लेकिन मैं नहीं मानी। जिस धर्म में मनुष्य का अपमान हो, मनुष्य लांछित समझा जाए, वह धर्म दूषित है।''[26] यहाँ यह स्पष्ट होता है कि जिस धर्म में मनुष्य को मनुष्य न समझा जाए, दलितों को जानवर से भी बदतर स्थिति में रहने के लिए बाध्य किया जाय, वह धर्म कम से कम किसी दलित को स्वीकार्य नहीं है। ना ही उसे बनाने वाले अथवा उसका पोषण करने वाले। उपन्यास में जगत प्रकाश की मान्यता 'मत्स्य न्याय' के बर्बर सिद्धान्त की पोषक है, जो अलंकृत रूप में 'समरथ को नहिं दोष गुसाई' के बर्बर सिद्धान्त की ही पोषक है। किन्तु मिस मण्डल के माध्यम से यह बताना चाहता है कि 'भारत में जाति व्यवस्था और छुआछूत ही धर्मान्तरण होने का मूल कारण है। यहाँ हिन्दुओं को समझना होगा कि धर्म मानव के कल्याण के लिए न कि किसी जाति विशेष अथवा व्यक्ति

विशेष के शोषण के लिए।

परदेशी कृत उपन्यास ***'जय एक लिंग'*** (1969) मूलतः महाराणा रायमल के राज्यकाल में मेवाड़ में घटित अनेक घटनाक्रमों तथा उनके राजकुमार पृथ्वीराज व जयमल की संयुक्त राज्य लिप्सा पर आधारित है। इसके साथ ही साथ 'राजो' नामक दलित कन्या की कथा को आधार बनाकर वर्ग संघर्ष और जाति संघर्ष की समस्याओं का भी अंकन हुआ है। इस उपन्यास में लेखक ने वर्ण व्यवस्था का विरोध करके अपने आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। लेखक ने अपने इस दृष्टिकोण को उपन्यास की दलित नारी पात्र 'राजो' के माध्यम से व्यक्त की है। राजो मनुष्य–मनुष्य में किसी प्रकार का भेद नहीं मानती है। इस सम्बन्ध में वह अपनी सहेली से कहती है–''चमार हैं तो क्या हुआ, चमार क्या मनुष्य नहीं होते? जिस तरह राजाओं, सामन्तों और श्रेष्ठियों का जन्म होता है, उनमें जवानी व बुढ़ापा आता है, उसी तरह हम शोषित समाज के सच्चे सेवकों दासों और शूद्रों का भी जन्म होता है। उसके जीवन में भी यौवन के बसंत मुस्कुराते हैं। प्रौढ़ावस्था का अनुभव जीवन पथ के कुटिल कंटकों से सावधान करता है और वृद्ध होने पर जरा–जन्म रोग–शोक और संताप सताते हैं।''[27] दुनियाँ में कुछ भी पूर्वनियत नहीं है। मनुष्य अपने कर्म और बुद्धि–विवेक से सुख की प्राप्ति करता है। संसार में सभी मनुष्यों का जन्म एक ही तरीके से होता है। इसमें न कोई छोटा होता है न बड़ा। सभी एक ही मनुष्य के जाया हैं। धर्म के आधार पर मनुष्य का सामाजिक विभेद तो मनुष्य कृत हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए बनाये गये हैं, जैसा कि राजो भी कहती है–''भेद मानव निर्मित है। मनुष्य ही अपने स्वार्थों के अनुरूप वर्गों की रचना की और अपने ही जैसे दूसरे मनुष्य को छोटा या बड़ा बनाया। प्रभु का पट्टा लेकर कोई नहीं आया, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली केन्द्र हो या ज्ञानवान पण्डित।''[28] रचनाकार ने छुआछूत को मानने वाले जाति–भेद का बर्ताव करने वाले और दलितों का शोषण करने वाले सवर्णों को देश और ईश्वर का भी आपराधी माना है। लेखक का मानना है कि जिसे ईश्वर ने बनाया है, उसे मनुष्य कैसे ठुकरा सकता है? कैसे उसके साथ किसी तरह का विभेद कर सकता है। यहीं बात उपन्यास की दलित पात्रा राजो भी कहती है कि ''जो हमें अछूत मानता है, वह देश और परमेश का अपराधी है।''[29] वह आगे कहती है ''संस्कार ही मनुष्य की जाति है, कर्म ही मनुष्य की जाति है। ज्ञान–अज्ञान ही मनुष्य की जाति है। उसकी क्षुद्रता उसका अविवेक और उसकी श्रेष्ठता उसका विवेक है। मुझे कोई बताये जिसे भगवान ने बनाया उसे मनुष्य क्यों ठुकरायें?''[30]

प्रस्तुत उपन्यास में राजो के भाई को बलि हेतु जलाशय की पाल में जीवित ही चुन दिये गये जाने का विवरण आता है, जो एक औपन्यासिक सत्य ही नहीं बल्कि समाज की एक क्रूर वास्तविकता भी है। आज भी मेवाड़ तथा राजस्थान के कुछ भागों में सामंती अनाचार की ऐसी कई किंवदन्तियाँ कही सुनी जाती है। उपन्यास में इसी सामंतवादी अनाचार को साकार करते हुए राजो के भाई के जिन्दा दिवार में चुन दिया जाता है। दिवार में चुनते समय उसे पानी तक नहीं पीने दिये जाता है। उसकी पत्नी अपनी मांग की सिंदूर के लिए बिलखती रहती है। माँ अपने कलेजे के टुकड़े को मौंत के मुँह में जाते हुए देखकर फूट–फूट कर रोती है। लेकिन पाषाण हृदय वाले पृथ्वीराज व जयमल पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। समय करवट लेता है, जब पानी की बूंद के लिए तरसता राजकुमार जयमल 'शुद्र निकाय के लोगों के हाथ में पड़ जाता है औ उसे तड़प–तड़प कर प्राण देने के लिए विवश करते हुए राजो के भाई को और अपने प्रति किये गये अत्याचारों का बदला लेना चाहते हैं, तब राजो की माँ नारी की शाश्वत् ममता की प्रतिमूर्ति बन आ जाती है और राजकुमार को पानी पिलाती है, तथा उसकी रक्षा भी करती है। राजो की भाभी उसे अभयदान देती हुई कहती है–''जाओ राजकुमार चिरंजीवी हो और विजयी होओ। यथार्थ में एक शुद्राणी तुम्हें आशीष नहीं दे सकती, इतना ही स्मरण रखना कि क्षत्रियों के

समुदाय में एक दिन शूद्र ने पानी पानी पुकारते हुए प्राण त्याग दिया था, परन्तु शूद्रों के समुदाय में न केवल क्षत्रिय को प्राणदान ही मिला है, वरन जलदान भी मिला है।''[31]

इस तरह साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में उपन्यासकारों ने समग्रता के साथ तो नहीं लेकिन सम्पूर्णता के साथ दलित विमर्श से सम्बन्धित कुछ सदर्भों को उठाया है। दलितों पर हो रहे अत्याचारों का विरोध किया है। सवर्णों के पाखण्ड को दिखाकर विभिन्न उपन्यासकारों ने दलित विमर्श को सही अर्थों में परिभाषित किया है। आज दलित विमर्श की इस कोशिश को नकार कर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है, क्योंकि किसी भी क्षेत्र में पूर्व में किये गये प्रयत्न से ही प्रेरणा लेकर आगे बढ़ा जा सकता है।

संदर्भ–सूची

1. हिन्दी उपन्यासों में दलित विमर्श : डा0 राकेश कुमार राम, कला एवं धर्म शोध संस्थान, बी0एच0यू0, वाराणसी, प्रथम संस्करण– 2014, पृ0 62
2. हिन्दी उपन्यास का विकास : मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ0–233
3. जल टूटता हुआ ; रामदरश मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–2004, पृ0–52
4. वही पृ0–52
5. वही पृ0–81
6. वही पृ0–128
7. वही पृ0–130
8. वही पृ0–128
9. वही पृ0–130
10. वही पृ0–157
11. वही पृ0–190
12. वही पृ0–190
13. वही पृ0–190
14. दिवोदास ; राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद–2010, पृ0–13
15. वही पृ0–76
16. वही पृ0–76
17. वही पृ0–76
18. अलग–अलग वैतरणी ; शिवप्रसाद सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,–2004, पृ0–45
19. वही पृ0–49
20. वही पृ0–103
21. वही पृ0–141
22. वही पृ0–142
23. सीधी सच्ची बातें ; भगवती चरण वर्मा, वाणी प्रकाशन, –नई दिल्ली, 2004 पृ0–433
24. वही पृ0–451
25. वही पृ0–451
26. जय एक लिंग ; परदेशी, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0–22
27. वही पृ0–23
28. वही पृ0–24
29. वही पृ0–25
30. वही पृ0–119
31. वही पृ0–120

मार्क्सवादी समाज दर्शन का महत्व

- डॉ. हरिश्चन्द्र यादव

सहायक प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
दर्शनशास्त्र विभाग,
डी.ए.वी. पी.जी. कालेज, वाराणसी

सामान्य व्यक्ति के मन में प्रायः यह भ्रम स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्या कार्ल मार्क्स को मात्र एक दार्शनिक (Philosopher) ही कहा जाना चाहिए अथवा उन्हें एक समाजशास्त्री (Sociologist) कहना भी उपयुक्त होगा? वास्तविकता तो यह है कि मार्क्स ने क्योंकि सारे आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों के प्रति अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए मौलिक सन्दर्भ के रूप में 'मानव समाज' (Human society) और 'व्यक्ति' (individual) इनके परस्पर सम्बन्ध तथा समाज में निरन्तर विकसित होती रही प्रक्रियाओं (Processes) को ही विशेष स्थान दिया है, इन पक्षों के प्रति अपने समस्त अध्ययनों के लिए वैज्ञानिक कसौटी पर परखने और अपने निष्कर्षों को व्यावहारिक तर्कों और प्रमाणों पर ही स्थापित करने का प्रयास किया है, अतएव यदि हम मार्क्स को न केवल अन्य सामाजिक-आर्थिक दार्शनिकों की ही भाँति, बल्कि उनसे कहीं अधिक बढ़कर एक 'समाज वैज्ञानिक' (social scientist) की श्रेणी प्रदान करें तो यही दृष्टिकोण सम्भवतः सर्वोपयुक्त होगा।

मार्क्स का विचार था कि समाजविज्ञान तथा चिन्तन एवं दर्शन अनुसन्धान के एक सम्पूर्ण क्षेत्र के ही प्रमुख निर्माणक-क्षेत्र है। जबकि दर्शन समाज के अध्ययन के लिए एक अवधारणात्मक संरचना या ढांचा (conceptual Frame-work) स्थापित करता है, समाज विज्ञान कुछ ऐसी दार्शनिक समस्याओं तथा ऐसे विषयों की समझने में सहयोग देता है जिन्हें अन्य किसी क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य' क्या है? 'समाज' क्या है? 'इतिहास' क्या है? इत्यादि इसी प्रकार के प्रश्न है जिनका निदान 'समाज विज्ञान' के ही अधीन सम्भव है। मार्क्स का विचार था कि 'मनुष्य' के बारे में समस्त अवधारणाएँ जैविकीय तथा सामाजिक, दोनों प्रकार की परिस्थितियों के अधीन अपना कई रूप धारण करती है। इसलिए समस्त दर्शन तक भी अतीत अथवा इतिहास की ही देन मानी जानी चाहिए।

मनुष्य तथा समाज

कार्लमार्क्स ने 'मनुष्य' की जो अवधारणा प्रस्तुत की है वह यद्यपि दार्शनिक आधार पर टिकी हुई है, परन्तु उनका मनुष्य से सम्बन्धित विज्ञान समाजशास्त्रीय तथा अनुभव सिद्ध (empirical) है। मार्क्स के विचार में व्यक्ति या मनुष्य की प्रकृति उनकी क्रियाओं के अवलोकन से जानी जा सकती है। फ्यूअरबाख़ (Feuerbach) के विचार में, 'समाज मनुष्य से भी पहले है क्योंकि मनुष्य वास्तव में आत्म-सचेत (self-conscious) तथा मानव केवल अपने साथी-व्यक्तियों के माध्यम से ही बनता है।[1] मनुष्य सदैव ही एक सामाजिक प्राणी (Social being) रहा है, उसे अपने जीवित रहने के लिए काम भी करना पड़ता है। जीवित रहने के लिए साधनों की उत्पत्ति सदैव ही एक सामूहिक अर्थात् 'सामाजिक क्रिया' (Social activity) हुआ करती है। व्यक्ति एक दूसरे के सहयोग से ही उत्पादन करते है और परस्पर अपनी क्रियाओं तथा उत्पादनों की एक-दूसरे से अदला-बदली भी करते हैं।

'समाज'—मार्क्सवादी दृष्टिकोण

उत्पादन करने के कारण ही मनुष्य एक दूसरे के प्रति कुछ निश्चित सम्बन्धों से प्रविष्ट होते है और इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों में प्रविष्ट होते हैं और इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत 'उत्पादन' (Production) होता है। इस प्रकार अन्तःक्रिया करने वाले (Ineracting) व्यक्तियों के द्वारा ही 'सामाजिक संसार' (Social world) की स्थापना होती है। इसलिए मार्क्स ने कहा कि 'समाज अनेक व्यक्तियों का केवल एक समुच्चय (aggragate) मात्र ही नहीं है, बल्कि यह (समाज) व्यक्तियों की प्रत्यावर्ती (reciprocal) क्रिया की उपज है और मनुष्य का विज्ञान समाज में व्यक्तियों के बीच पायी जाने वाली अन्तः क्रियाओं का अध्ययन है।'[2] मार्क्स 'व्यक्ति' को एक प्राकृतिक इकाई मानने के कारण इस बात पर भी बल देते रहे कि 'समाज' प्राकृतिक कारकों से स्थापित होता है जिनकी उत्पत्ति भी मनुष्य के साथ ही होती है और समाज के ये कारक भी प्रकृति की अन्य समस्त प्रघटनाओं की ही भाँति प्राकृतिक कारकों से निर्देशित होते है।

सामाजिक उद्विकास

मार्क्स ने व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों के साथ ही सामाजिक उद्-विकास (Social evolution) की अवधारणा को भी स्थापित किया। इसी के अन्तर्गत 'प्रगतिशील श्रम विभाजन' (progressive division of labour) को मार्क्स ने प्रोत्साहित किया। इसी आधार को लेकर आपने घोषित किया था कि विश्व के समस्त इतिहास को 'मनुष्य' की ही रचना (creation of man) कहा जाना चाहिए। मनुष्य का सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन, उसका बौद्धिक विकास इत्यादि सभी कुछ सामाजिक उलझनों से पनपते हैं। सामाजिक जीवन में भाग लेने के द्वारा ही तथा एक-दूसरे के साथ कार्य करने से ही व्यक्ति अनेक संस्थाओं तथा अवस्थाओं की उत्पत्ति करते है, जैसे भाषा, सरकार, सामाजिक संगठन, कानून, कला, विज्ञान तथा धर्म इत्यादि। इसी के द्वारा वे स्पष्ट रूप से मानव विशेषताएँ प्राप्त करते हैं।

प्राकृतिक प्रघटनाएं तथा समाज

मार्क्स ने विज्ञान की स्थापना के आधार पर ही भौतिकवाद तथा आदर्शवाद के मध्य उलझी हुई चुप्पी को सुलझाया है। मनुष्य से सम्बन्धित विज्ञान ने ही यह दर्शाया है कि किस प्रकार मानव आध्यात्मिक अनुभव तक भी सामाजिक अन्तः क्रिया के ही द्वारा विकसित हो पाया है। मार्क्स ने साथ ही साथ प्राकृतिक प्रघटनाओं के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करके समाजशास्त्र के विकास के लिए भी क्षेत्र बढ़ाया है और 'समाज' को भी एक प्राकृतिक अस्तित्व वाली इकाई (natural entity) की मान्यता प्रदान की है। आपके विचार में मनुष्य की प्रकृति एक स्वयं-विकसित तथा संचयी प्रक्रिया में सामाजिक उद्विकास की एक बदलती हुई उपज है।

विभिन्न व्यक्तियों के बीच अन्तः क्रियाओं के जाल को 'समाज' मानने की अवधारणा ने यह पुनः स्थापित किया कि

समाज और व्यक्ति के मध्य एक निरन्तरता (continuity) पायी जाती है। इस अवधारणा में यह तो स्वतः निहित ही था कि सामाजिक प्रघटनाएं भी प्राकृतिक प्रघटनाएं ही होती है जो प्राकृतिक नियमों के अधीन कार्यशील बनी रहती है। अन्तःक्रिया की अवधारणा तथा इसके अधिक विशिष्ट स्वरूपों जैसे विभेदीकरण, विशेषीकरण तथा श्रम-विभाजन ने अपेक्षाकृत स्थायी समूहों की विकसित होने के कारण जानना सम्भव बना दिया चाहे वे समूह, परिवार, जनजाति गिल्ड, जाति तथा सामाजिक वर्ग के ही रूप में क्यों न हों।

सामाजिक वर्ग

अपने समाजशास्त्रीय दायरे में कार्ल मार्क्स ने जहाँ एक ओर 'मनुष्य' और 'समाज' की अवधारणाओं को स्पष्ट किया तथा उन्हें परस्पर अन्तर-सम्बन्धित भी किया, साथ ही साथ, उन्होंने सामाजिक वर्ग के (Social class) सिद्धान्त को भी अपने एक पृथक दृष्टिकोण से तर्क पूर्वक स्थापित करने का महान कार्य किया है। समाजशास्त्र के किसी आधुनिक अध्ययनकर्ता को मार्क्स की 'सामाजिक वर्ग' की अवधारणा एक अद्वितीय योगदान के रूप में ग्रहण करनी पड़ती है जिसके अभाव में सम्भवतः कोई विद्वान आधुनिक समाजशास्त्र को भली प्रकार समझ लेने का दावा नहीं कर सकता है। 'सामाजिक वर्ग' का सिद्धान्त ही वास्तव में मार्क्स की वह देन है जिस पर उनकी सम्पूर्ण समाजवादी व्यवस्था तथा इससे सम्बन्धित चिन्तन एवं दर्शन, वर्ग-संघर्ष, सामाजिक क्रान्ति और समाज के परिवर्तित स्वरूप के प्रति भविष्यवाणी, इत्यादि सभी कुछ आधारित है।

मार्क्सवादी अवधारणा

मार्क्सवादी सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता यह विश्वास है कि 'सामाजिक वर्ग' मानव समाज के उद्विकास में एक निश्चित भूमिका अदा करते हैं। प्रत्येक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन किसी न किसी रूप में 'वर्ग संघर्ष' (class struggle) से जुड़ा हुआ है। यह वर्ग-संचय ही किसी समाज के एक उद्विकासीय चरण में दूसरे चरण में परिवर्तन का निर्धारण करता है। मार्क्स का समाजशास्त्र मन सम्बन्धी तथा तनावों से तिना अधिक प्रभावित है कि यदि हम इसे 'मार्क्सवादी समाजशास्त्र' के स्थान पर 'वर्ग संघर्ष का समाजशास्त्र (Sociology of class struggles) ही कहने लग जाएँ तो भी यह त्रुटिपूर्ण नहीं होगा। आपने सम्पूर्ण समाज को दो प्रमुख वर्गों 'सर्वहारा' (proletariat) तथा 'पूंजीपति, बुर्जुवा' (bourgeoisie) के अन्तर्गत विभाजित किया है।

मार्क्स के विचार में, सामाजिक वर्गों में, उनकी सामूहिक प्रकृति होने के कारण दबाव, उत्पीड़न (Coercion) की शक्ति तथा उसे अपने सदस्यों को किन्हीं निश्चित प्रतिमानों के अनुसार क्रिया करने और उनपर अपनी विचारधारा थोपने के लिए क्षमता विद्यमान होती है। दुर्खीम (Durkheim) ने मनुष्य की सम्पूर्णता (totality) के द्वारा व्यक्तियों पर डाले जाने वाले दबाव को अधिक महत्वपूर्ण बताया है और कहा कि कोई सम्पूर्ण वस्तु उसके अपने विभिन्न भागों के मात्र योग से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है और यह एक विशिष्ट यथार्थता का प्रतिनिधित्व करती है, जिसकी कुछ अपनी पृथक विशेषताएं भी होती है। उदाहरणार्थ, कोई सम्पूर्ण समूह अपने सदस्यों के व्यक्तिगत और बिखरे हुए रूप में सोचने, अनुभव करने तथा क्रिया करने के तरीकों से बिल्कुल भिन्न रूप में दिखायी पड़ता है।[3]

कार्ल मार्क्स ने यद्यपि 'सामाजिक वर्ग' की यह अवधारणा स्थापित तो अवश्य की, परन्तु वे इसे सामाजिक स्तरीकरण के किसी सार्वभौमिक सिद्धान्त (universal theory) के रूप में प्रस्तुत न कर सके। बहुत कुछ मार्क्स के ही विचारों पर आधारित रहते हुए लेनिन (Lenin) ने परिभाषित किया है कि ''सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों के विशाल समूह का नाम है, जो किसी ऐतिहासिक रूप से निर्धारित उत्पादन की व्यवस्था में उन्हें प्राप्त होने वाली प्रस्थिति के कारण विभिन्नता प्रकट करते है, जो उत्पादन के साधनों से सम्बन्धित होते है, जिनकी श्रम के सामाजिक संगठन में एक भूमिका होती है और जो सामाजिक सम्पत्ति (धन) के अंश के आकारों के कारण भी एक दूसरे से भिन्न

हो जाया करते है चाहे वे उसे प्रयोग करने अथवा प्राप्त करने से सम्बन्धित हों।''[4]

'सामाजिक वर्ग' के आधार (मान्यताएँ)

आधुनिक समाज में उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली के आधार पर कार्ल मार्क्स ने केवल तीन प्रमुख सामाजिक वर्गों, अर्थात् मजदूरी प्राप्त करने वाले श्रमिकों (wage labourers), पूँजीपतियों (capitalists),तथा भू-स्वामियों (land owners) को ही बड़े सामाजिक वर्गों के रूप में मान्यता दी है। इस दृष्टि से तो मार्क्स द्वारा प्रस्तुत वर्ग विभाजन और आय के स्रोतों पर ही आश्रित प्रतीत होता है। परन्तु बाद में इन्हें आय-स्रोतों के रूप में न अपनाते हुए, मार्क्स ने इन साधनों, भूमि, पूँजी और श्रम के स्वामित्व को सामाजिक वर्गों का विभाजन आधार स्वीकार किया है। मार्क्स ने 'सामाजिक वर्ग' की स्थापना में तीन निम्नलिखित मुख्य आधार आदि है–

(1) उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति का वितरण–वास्तव में सामाजिक वर्ग सामाजिक सम्पत्ति के वितरण में स्थिरता के आधार पर ही एक-दूसरे से विभेदीकृत किये जा सकते है। इस प्रकार आय का वितरण नहीं, बल्कि सम्पत्ति का वितरण ही वर्ग-विभाजन का वास्तविक आधार है।[5]

(2) केवल दो वर्ग : सर्वहारा और पूँजीपति– दूसरी मार्क्सवादी मान्यता सामाजिक वर्गों के आर्थिक आधार से इस प्रकार सम्बन्धित है कि पूँजीवाद के अन्तिम स्तरों पर समाज में केवल दो ही वर्ग रहेंगे, अर्थात् सर्वहारा और पूँजीपति (बुर्जुआ)। सर्वहारा वर्ग के पास -विक्रय के लिए केवल उनकी श्रम-शक्ति ही रह जाएगी और पूँजीपति वर्ग ही उत्पादन के समस्त साधनों पर नियन्त्रण रखेगा।

मार्क्स की यह मान्यता भी दुर्बल है कि ''आधुनिक औद्योगिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता तथा उसके प्रभार वाला तत्व विशेष महत्व रखता है जिसे मार्क्स ने अपनी 'सामाजिक वर्ग' की अवधारणा में पूर्णतः त्याग दिया है। मार्क्स के विचार में वर्ग जिसके पास भौतिक उत्पादन के साधन उपलब्ध होते हैं, वे ही शासक-वर्ग (ruling class) होती है।''[6]

(3) वैचारिक चेतना : विरोधी वर्ग से तनाव–तृतीय मार्क्सवादी मान्यता 'वैचारिक चेतना' की है जिसके अन्तर्गत न केवल कोई वर्ग अपनी एकता (unity) मात्र के प्रति ही जागरूक हो सकता है बल्कि अन्य उपस्थित सामाजिक वर्गों के प्रति खिंचाव-तनाव तथा शत्रुता की भावना भी रखता है, जिसके परिणामस्वरूप ही वह वर्ग अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए दूसरों के हितों के विरुद्ध एक संघर्ष को प्रोत्साहित करता है। यह कहा गया है कि 'पृथक बिखरे हुए व्यक्ति केवल उसी सीमा तक एक वर्ग का निर्माण करते हुए माने जाते है जब तक कि उन्हें दूसरे वर्ग के विरुद्ध एक सामान्य संघर्ष करते रहना पड़ता है।''[7]

संक्षेप में, मार्क्स ने वर्ग-चेतना में एक निश्चित तथा स्पष्ट विचारधारा को सम्मिलित किया है। इस चेतना के अन्तर्गत सम्पन्न की जाने वाली क्रिया का एक कार्यक्रम इस प्रकार अपनाया जाता है कि जिसका उद्देश्य वर्तमान या प्रचलित वस्तु-स्थिति को दृढ़ बनाये रखना, परिवर्तित कर देना अथवा पूर्णतया उखाड़ फेंकना होता है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

किसी समाज में वर्ग-संरचना (class-structure) वास्तव में आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक, तीनों ही आधारों पर निर्भर करती है। मार्क्स ने प्रमुख रूप से आर्थिक आधार को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। वास्तविकता यह है कि किसी आर्थिक वर्ग की निर्धारक विशेषताएँ आवश्यक रूप से उसके सदस्यों की सामाजिक और राजनीतिक विशेषताओं के अनुरूप नहीं होती है। सच तो यह है कि जिस वर्ग में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक तीनों ही आधार सन्तोषजनक रूप से सन्तुलित होते हैं, वही वास्तिवक अर्थ में *'सर्वोत्तम वर्ग'* माना जाना चाहिए। इन तीनों आधारों से भी पूर्व, काल मार्क्स ने अपने लेखों तथा विवरणों में, 'सामाजिक वर्ग' को स्थापित करने में 'ऐतिहासिक' आधार को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है।

मार्क्स ने बाद में इन आग्रहों को भी त्यागते हुए अपनी स्वेच्छानुसार कुछ बड़े पैमाने के सामाजिक समूहों को ही सामाजिक वर्गों की श्रेणी में सम्मिलित कर दिया है। इस हेतु मार्क्स ने विभिन्न आधारों को समयानुकूल तथा परिस्थितियों के अनुरूप अपनाने का प्रयास किया है।

अन्त में, यही कहा जा सकता है कि मार्क्स ने 'सामाजिक वर्ग' को दो प्रकार में, अर्थात् समाजशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक अवधारणाएँ स्थापित करके एक जटिल समस्या खड़ी कर दी है। मार्क्स का अन्तिम रूप से इसी पक्ष पर अधिक बल है कि ऐतिहासिक आधार पर ही आगे चलकर भविष्य में केवल दो ही प्रमुख सामाजिग वर्ग, सर्वहारा और बुर्जुआ, रह जायेंगे। अन्य शेष सभी वर्गों का उन्हीं दोनों में से किसी न किसी रूप में विलय हो जाएगा। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित तर्क के अधीन होने वाले दीर्घकालीन सामाजिक परिवर्तन इसी वर्गीकरण की पुष्टि करेंगे। परन्तु यह अनुमान कहाँ तक यथार्थ सिद्ध होता है, इस समस्या का उत्तर तो भविष्य में आने वाला युग तथा उसमें घटित होने वाले परिवर्तन ही दे सकेंगे।

सन्दर्भ

1. "Society is prior to the individual, for and becomes truly human and self conscious only through his fellow men". L. Feuerbach, The Besence of Christianity, Harper Torchbooks, New York, 1957, p. 87.
2. "Society is not an aggregate of individual but the product of man's "reciprocal action" and the science of man is the study of the interactions among individuals in society" of Jordan, Z.A. (ed.), Karl Marx ; Economy, Class and Social Revolution, London, Michael loseph; 1971, p. 11.
3. "The group thinks, feels and acts quite differently from the way in which its members would, were they isolated." Emile Durkheim, The Rules of Sociological Method, Glencoe, New York, 1958, pp.2, 101-4.
4. "Social classes are large groups or people differing from each other by the place occupy in a historically-determined system of social production, by their relation (in most cases fixed and formulated in law) to the means of production, by their role in the social organisation of labour, and, consequently,by the dimensions of the share of social wealth of which they dispose and the mode of acquiring it." V. I. Lenin, 'A great Beginning', Collected Works, Moscow, 1960 ff,. Vol. XXIX, p. 421.
5. ".......the distribution of property, and not the distribution of income, is the true, basis of the formation of classes." Bottomore, T. B., Classes in Modern Society, London, 1965, pp. 177.
6. "The class which has the means of material production at its disposal, is the ruling class." Quoted by Jordan, Z.. A., op. cit, p. 27
7. The separate individuals from a 'class' only in so far as they have to carry on a common battle against another class." 1bid : P. 76

उदयन - वासवदत्ता : एक सांस्कृतिक आख्यान

–डॉ. मनीषा सिन्हा

सहायक प्रोफेसर
प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व,
श्री अग्रसेन कन्या पी. जी. कॉलेज, वाराणसी

वत्सराज उदयन महात्मा बुद्ध का समकालीन शासक था। प्रतिज्ञायौगंधरायण में इसके लिए **भारतानां कुले जातो वत्सानामूर्जितेः पति** श्लोक है [1] अर्थात इसे भरतवंश से सम्बन्धित कहा गया है इसी पौरव वंश या भरतकुल में अर्जुन के पौत्र परीक्षित के पश्चात छब्बीसवाँ राजा उदयन है।[2] वासवदत्ता अवन्ति राजा प्रद्योत की शुभलक्षणों सें युक्त महाकुलप्रसूता, स्निग्धा, निपुणा कन्या है। वत्सराज उदयन एवं अवन्ति कुमारी वासवदत्ता के प्रणय से लेकर परिणय तक की रोचक कथा संस्कृत के नाटककारों के लेखन में अंलकारिक एंव मार्मिक रूप से व्यक्त होता है। महाकवि भास द्वारा विरंचित 'प्रतिज्ञा, यौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्तम् एंव सुबन्धु द्वारा रचित वासवदत्ता में वत्सराज तथा अवन्ति कुमारी मुख्य पात्र है। इनका आख्यान इतना प्रसिद्ध हुआ कि कलात्मक उपदानो में भी इस ऐतिहासिकता एंव नाट्य कथा का मेल जोल स्पष्ट दिखाई देता है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में कौशाम्बी के राजा वत्सराज उदयन को अतुलित कलाप्रेमी, शौर्यशाली एंव पराक्रमी बताया गया है। "**उत्सेकयत्येनं प्रकाशराजकर्शि नामघेयो वेदाक्षर समवाय प्रविश्टो भारतो वंश** राजा को अपनी वंश परम्परा पर गर्व था।[3] उदयन घोषवती नामक वीणावादन में निपुण थे और इसके सुर से उन्मत्त हाथियों को अपने वश में कर लेते थे। उनके इस व्यसन के कारण अवन्ति राजा प्रद्योत का अमात्य शांलकायन छल करके छदम हाथी भेजता है और उदयन उसे मुग्ध करते हैं, तो अमात्य उन्हें कैद कर कारागृह में डाल देता है। अवन्तिराज उदयन के गुणों के प्रशंसक हैं इसलिए अपनी पुत्री वासवदत्ता को वीणा वादन सीखाने का दायित्व देते है। जिससे दोनों एक दूसरे के सानिध्य मे आते है और आसक्ति बढती है। उदयन का कुशल मन्त्री यौगन्धरायण उन्मत्त बनकर, श्रमणक वेशधारी विदूषक वसन्तक के साथ

उज्जयनी जाता है और राजा की मुक्ति का पूर्ण प्रबन्ध करता है। उदयन राजकुमारी की सहमति से उनका पलायन कराने का निश्चय करते हैं। इस नाट्य काव्य में यौगन्धरायण के चातुर्य से वत्सराज के साथ अवन्ति कुमारी के पलायन एंव कौशाम्बी पहुँच कर परिणय की कथा है।[4]

भास के द्वारा विरचित नाट्य में स्वप्नवासवद्तम् सर्वश्रेष्ठ है इसमें यौगन्धरायण से आगे की कथा है।[5] यह उदयन और वासवदत्ता के अतिशय प्रेम पर आधारित नाटक है।[5] वत्स के खोये हुए प्रदेशों को वापस लाने के लिए प्रधान सचिव यौगन्धरायण वासवदत्ता को मृत घोषित करने का षडयन्त्र करता है ताकि राजा दूसरा विवाह मगध राजकुमारी के साथ स्वीकार कर सके परन्तु उदयन अपने राज्य को पाने के लिए अपने प्रेम का अंशमात्र देने को तैयार नही है। विदूषक जब हठपूर्वक उससे अनिच्छा का कारण पूछता है तब वह स्पष्ट शब्दो में कहते हैं **वासवदत्ताबद्वं न तुतावन्मे मनोहरति** 'अर्थात उसका मन वासवदत्ता में संलग्न है। इस प्रेम अभिव्यक्ति की चरमावस्था स्वप्न प्रसंग में है, इसलिए इसका नाम स्वप्नवासवदत्तम् है[6]'

मथुरा, कौशाम्बी, चन्द्रकेतुगढ से प्राप्त शुंग–कालीन मृण्फलकों एंव उडीसा के खण्डगिरि के गणेश गुफा संख्या 10 की शोभापट्टी पर उदयन वासवदत्ता के अवन्ति से पलायन का दृश्य उत्कीर्ण है। इन कलात्मक उपादानों पर अंकित दृश्यों की पहचान उजागर है और ये मृतखंड संग्रहालयों में संरक्षित है।

इन उपादानों के साथ भरहुत स्तूप के वेदिकास्थ सूची फलक पर अंकित हाथी सवार स्त्री पुरूष, साँची स्तूप संख्या 1 के उत्तरी तोरण द्वार के मध्य एंव निम्न बड़ेरी के बीच अद्धस्तम्भों पर अंकित मूर्तिफलकों के मध्य राजसी वेशधारी स्त्री, पुरूष तथा साँची स्तूप संख्या 2 के सूची फलक पर ध्यान आकृष्ट हुआ जिसका नूतन विश्लेषण उदयन वासवदत्ता के ऐतिहासिक एंव लोक आख्यान की महत्वर्पूण कलात्मक मूर्त कड़ी है।

भरहुत के वेदिकास्थ सूची फलक पर अंकित दृश्य में फलक के कोने पर हस्तिरुढ राजकीय वेशभूषाधारी पुरूष सवार है[7] जिस पर राजत्व सूचक प्रतीक छत्र लगा हुआ है क्रमश; फलक के केन्द्र भाग में हस्तिसवार स्त्री पुरुष दिख रहे है। स्त्री के हाथ में त्रिरत्न अंकित यष्टि है। स्त्री आकृति मथुरा फलक से साम्य रखी हुई शैली में हाथी के शरीर पर अलंकृत वस्त्र के रस्मीनुमा/जंजीर की पट्टी को आलम्बन के लिए पकड़ कर बैठी है।**(चित्र–1)**

उदयन बौद्ध धर्म का उपासक थ। महात्मा बुद्ध का कौशाम्बी में धर्मोपदेश तथा चर्या का उल्लेख मिलता है जिसमें महात्मा बुद्ध से उदयन की वार्तालाप भी होती है।[8] धम्मपद की टीका के उदेनावत्थु में अवन्ति राज प्रद्योत की कन्या वासुलादत्ता तथा वत्सराज उदयन के प्रणय एंव विवाह का उल्लेख है।[9] इस फलक पर त्रिरत्न अंकित यष्टि का अंकन महात्मा बुद्ध एंव बौद्ध धर्म में इनकी आस्था को व्यक्त करता है। इस फलक के सन्दर्भ में पूर्व मत यथावत है –(इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता – हाथीसवार स्त्री–पुरूष; अलेग्जेण्डर, कनिघंम,–द स्तूप ऑफ भरहुत, पृ032,फलक **XXXII-4, ; मुंशीराम, मनोहरलाल, नई दिल्ली** संस्करण, 1998, हाथीसवार सैनिक ; वासुदेव शरण, अग्रवाल – भारतीय कला, पृ012,चित्र विवरण इन्द्र–इन्द्राणी? चित्र–93, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण, 1977, पुनर्मुद्रण, 2015, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी)

परन्तु इस फलक का सांगोपोग विवेचन के उपरान्त यह उदयन–वासवदत्ता के पलायन का दृश्य ही सम्य्क है।

साँची महास्तूप के उत्तरी तोरण द्वार के अग्र भाग पर मध्य एंव निम्न बडेरियों की कडी वाले

अर्द्वस्तम्भों के बीच के स्थान में हस्तिरूढ स्त्री, पुरूष की मूर्ति है।[10] इस हस्तिरुढ पुरूष को देखने पर विदित हुआ कि यह उदयन के अन्य अंकित फलकों की तरह राजकीय वेशभूषा से सज्जित पुरूश है जो अंकुश हाथ में लिए हाथी का संचालन कर रहे हैं हाथी पर पीछे बैठी स्त्री आकृति भी वासवदत्ता की शैली में बैठी है। उसकी सज्जा और अंलकरण भी विशिष्ट है।

सॉची स्तूप संख्या 2 के वेदिकास्थ सूची पर हस्तिरुढ स्त्री पुरूष का अंकन है।[11] इस फलक की पृष्ठभूमि में कमल की पँखुड़िया मथुरा के फलक के समान उत्कीर्ण है। हाथीसवार उष्णीष एंव कुण्डल धारी पुरूश अंकुश लिए बैठा है। इसके पीछे बैठी स्त्री आकृति बायें हाथ से हाथी के शरीर पर अंकित रस्सीनुमा पट्टी/जंजीर को मथुरा फलक एंव भरहुत सूची के अंकन के समान ही आलम्बन के लिए पकड़ी है। स्त्री आकृति दाहिने हाथ से पुरूष सवार के बायें हाथ को स्पर्श पर रही है। स्त्री के मुरवाकृति की भाव प्रवणता का अत्यन्त कलात्मक अंकन है। इस तरह यह सूचीफलक भी नाट्यकथा के विषयवस्तु और मृण्फलक शैली से साम्यता के आधार पर उदयन वासवदत्ता के कलात्मक उपादानों की संख्या में वृद्धि करता है।

मथुरा मृण्फलक भरहुत, सॉची महास्तूप,सॉची स्तूप 2 के फलको पर अंकित दृश्य में ऐतिहासिक लोक आख्यान के यथार्थ स्वरूप का प्रदर्शन होता है क्योकि इनके अंकन काल तक सामान्य लोग इस वास्तविक कहानी से परिचित है।

कौशाम्बी के मृण्फलक एंव उड़ीसा के खण्डगिरि के गणेश गुफा की भोभापट्टी पर उत्कीर्ण दृश्य में हाथीसवार पुरूष और स्त्री आकृति के अतिरिक्त हाथी पर पीछे की तरह बैठा एक पुरुष आकृति का अंकन दिखता है जो हाथी के पीछे आ रहे सैनिक वेशधारी पुरूष आकृतियों के लिए सिक्के बिखेरता उत्कीर्ण है। कौशाम्बी के वृत्ताकार फलक का अग्र कोना भग्न है परन्तु पीछे की तरफ का दृश्य स्पष्ट है[12]।

गणेश गुफा की शोभापट्टी पर द्वार के कोने भाग से अगले गुफा के प्रवेश द्वार के कोने तक पलायन का पूर्ण दृश्य उकेरा गया है[13] यथा बायें से शस्त्रधारी सैनिक हस्तिरुढ़ राजकीय वेशभूषा धारी स्त्री, पुरूष पर आक्रमण कर रहे हैं। स्त्री हाथी पर आगे बैठी है और पुरूष शस्त्र संधान कर रहा है। पीछे बैठा पुरूष थैली का मुख जमीन की तरफ कर सिक्के बिखेर रहा है, जिसे उठाने में सैनिक वेशधारी आकृतियॉ व्यस्त है। तत्पश्चात तीनों आकृतियॉ हाथी से उतर पर गंतव्य की तरफ जा रहे है। दृश्य के कोने में राजसी वेशधारी स्त्री आकृति दु;खी मुद्रा में बैठी है। यह उदयन वासवदत्ता का अवन्ति से पलायन कर कौशाम्बी पहुँचने का दृश्य है और मातृगृह से आने के कारण वासवदत्ता दु;खी है।

चन्द्रकेतुगढ़ से 2 मृण्मय फलक मिला है जिस पर इनके पलायन का दृश्यांकन है। एक फलक का बॉया कोना भग्न है। फलक के मध्य भाग पर हस्तिरुढ़ तीन आकृतियॉ उत्कीर्ण है। आगे बैठी आकृतियों पर राजछत्र लगा है। इस फलक के पृष्ठभूमि में फूल, पत्तों का अंलकरण किया गया है। हाथी के सूंड में पत्तेदार टहनी है। [14]भरहूत के सूची फलक के अंकन पर भी हाथी ने इसी तरह पत्तेदार टहनी को अपनी अपनी सूंङ में लपेट रखा है।

चन्द्रकेतुगढ़ से प्राप्त दूसरे मृण्फलक पर इस पलायन के दृश्य का विस्तार से अंकन किया गया है।[15] फलक के दायें कोने से दृश्य का प्रारम्भ हुआ है, हस्तिरुढ़ स्त्री–पुरूष पर राजछत्र का अंकन है इनके साथ पीछे एक अन्य पुरूश आकृति हाथ में थैली लिए बैठा है तत्पश्चात क्रमश यात्रा करते हुए गंतव्य तक पहुँचने का दृश्य है जहॉ पुरूष आकृति स्त्री आकृति का हाथ पकड़ कर ले जाते अंकित है इन पर पुनः

राजछत्र का अंकन है।

भास द्वारा रचित प्रतिज्ञायौगन्धरायण एंव स्वप्नवासवदंत का नाट्य जब लोक में प्रचलित हो चुका था तब विदूशक वांसतक का पात्र भी लोकप्रिय हुआ। हस्ति पर पीछे की तरह थैली लेकर बैठने वाला पुरूष पात्र जिसने राजा को प्रत्यक्ष रुप से सहयोग दिया। कौशाम्बी के मृण्फलक एंव खण्डगिरि के गणेश गुफा में इसका अंकन हुआ। पुनः सौ–दो सौ वर्षो के पश्चात जनमानस को इस आख्यान से परिचित कराने हेतु चन्द्रकेतुगढ़ के फलक पर पूर्ण विस्तार से इस का अंकन हुआ। दृश्य के प्रारम्भ और अन्त में राजछत्र को दर्शाना अंकित पात्रों के विशिष्ट राजकीय पक्ष को उजागर करने का प्रतीक है। उदयन–वासवदत्ता का आख्यान जब कला के माध्यम से प्रकट हुआ तो परिष्कृत एंव परिर्माजित होते हुए पुनः सातवीं सदी में सुबन्धु के संस्कृत नाटक वासवदत्ता के रुप में तत्कालीन प्रसिद्धि का संवाहक बना।[16] जिसका संकेत बारहवी सदी ई0 की रचना कथासरित्यसागर में भी मिलता है।

इस तरह ई0 पू0 छठी सदी के प्रणयी उदयन वासवदत्ता का आख्यान प्रवाह लोक में सदियों तक जीवन्त रहा और आज भी संस्कृत नाटक मंचन से लेकर कला के मूर्त उपादानों में अक्षुण्ण है।

सन्दर्भ सूची

1. भास प्रणीत यौगन्धरायण– अनुवाद, गंगा सागर राय, पृ0 28, वाराणसी,1994
2. घोष, एन, एन– कौशाम्बी इन द टाईम आफॅ बुद्धा, पृ0 10–11, दुर्गा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985
3. महाकवि भास प्रणीत, प्रतिज्ञायौगन्धरायण– अनुवाद, गंगा सागर राय,वाराणसी,1994, अंक 2, श्लोक 11
4. वही, अंक 3
5. भास प्रणीत, स्वप्नवासवदत्तम – हिन्दी अनुवाद, संस्कृत टीका सहित, जयपाल विद्यालंकार, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण, 2011
6. वही, अंक 4, पृ052
7. इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, संख्या 308
8. घोष, एन,एन – कौशाम्बी इन द टाईम ऑफ बुद्धा, पृ0 20.21
9. वही, पृ0 22–23
10. मार्शल, जॉन– ए गाइड टू साँची, पृ0 59, फलक 2, मानागेर पब्लिकेशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1936
11. वर्चुअल म्यूजियम ऑफ इमेज एण्ड साउन्ड्स vmis./Archive (हाथी सवार स्त्री–पुरुष)
12. भारत कला भवन,संग्रहालय संख्या 12-टेराकोटा वीथिका, संख्या 2, वाराणसी
13. www.manishjaishree.com रानी गुफा, गणेश गुफा एण्ड अदर केव्स ऑफ उदयगिरि, उड़ीसा
14. इण्डियन टेराकोटा वीथिका, संख्या 99.184, ज्ञानप्रवाह, सेन्टर फार कल्चरल स्टडी एण्ड रिसर्च, वाराणसी।
15. रेयर बुक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, आर्काइव, टाइमलाईन फोटो 27 सितम्बर, 2016
16. शास्त्री, हरिदत्त–संस्कृत काव्यकार, पृ0 240–41 साहित्य भण्डार, मेरठ द्वितीय संस्करण, 1970

संस्कृत नाटकों में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति

–डॉ. पूनम सिंह

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
डी.ए.वी. पी.जी. कालेज, वाराणसी

''प्रतीक'' अभिव्यक्ति की एक सूक्ष्म कला है। इसको हृदयंगम करने के लिए सामान्य धरातल से उठकर एक विवेक प्रधान भूमिका का आश्रय लेना पड़ता है, इसमें मानवीय भाव मात्र भाव न रहकर व्यक्ति बन जाते हैं।

''प्रतीक नाट्य परम्परा'' के विषय में विचार करने से पूर्व इस शब्द के अर्थ पर प्रकाश डालना प्रसंगानुकूल प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य की इस विशिष्ट नाट्य–विधा में प्राप्त होने वाले नाटकों को समीक्षकों ने आंग्ल भाषा में ***'एलेगोरिकल ड्रामा'*** कहा है। एलेगोरिकल शब्द मूलतः ग्रीक आलंकारिक शब्दावली से लिया गया है जहाँ इसका मूल रुप एलेगोरिया (Alleoria) प्राप्त होता है। एलेगोरिया शब्द अभिधेयार्थ के अतिरिक्त उसी से सम्बन्धित अन्य अर्थ का भी द्योतन करता है।

संस्कृत के कोष ग्रंथों में 'प्रतीक' शब्द के अर्थ पर ध्यान देने से यही प्रतीत होता है कि यह शब्द आलंकारिक है। एकाधिक अर्थों की अभिव्यंजना इसका स्वभाव है। डॉ0 कृष्णमाचारी का कथन है कि संक्षेप में निर्जीव वस्तुओं व्यक्तिगत विशेषताओं अर्थात गुणों और इन्द्रियों के मानवीकरण को ही प्रतीक नाटक कहा जाता है।

''इन साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स'', ''इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिको'', ''दि इनसाइक्लोपीडिया अमरीकन'' प्रभ्रति कोष ग्रंथों में प्रतीक की जो व्याख्या उपलब्ध होती है उनमें भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित आलंकारिक प्रदर्शन को विशेष स्थान दिया गया प्रतीत होता है। इस प्रकार प्रतीक नाटक को अर्वाचीन समीक्षकों ने प्रतीकात्मक, रुपकात्मक, रुपकथात्मक तथा भावात्मक आदि नामों से अभिहित किया है। प्रतीक रुपक में सामान्य जीवन की घटनाओं की अभिव्यक्ति प्रतीक के माध्यम से की जाती है।

ऋग्वेद के संवाद सुक्त संस्कृत नाट्य साहित्य के मूलाधार के रुप में प्रसिद्ध है, इसके साथ ही उनमें

प्रतीकात्मकता के दर्शन भी होते हैं। यद्यपि इन स्त्रोतों को प्रतीक नाट्यतत्व की दृष्टि से प्रौढ़ नहीं माना जा सकता, तो भी प्रतीकात्मक–पात्र एवं संवाद शैली की दृष्टि से इसका महत्व नकारा नहीं जा सकता। ऋग्वेद का मण्डूक सूक्त भी प्रतीकात्मक नाट्य–तत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता हैं, इसमें सामान्य जीव जन्तु का मानवीकरण किया गया है, साथ ही वाक्य के साथ एक अन्य प्रतीयमान अर्थ रखने के कारण इसे प्रतीक नाट्य परम्परा का आधार कहा जा सकता है।

'वृहदारण्यकोपनिषद' में एक रोचक प्रसंग उपलब्ध होता है, जिसमें प्राण व पन्चेन्द्रियों के बीच श्रेष्ठता को लेकर विवाद वर्णित है। इस विष्लेषण से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि अमूर्त भावों तथा इन्द्रियादि को मूर्तरुप देने की परम्परा वैदिक काल से प्रचलित रही हैं। प्रतीक नाटकों की श्रृंखला में सर्वप्रथम 11वीं शताब्दी के चन्देलवंशीय कीर्तिवर्मा के दरबार के राजकवि श्रीकृष्ण मिश्र का ***'प्रबोधचन्द्रोदय'*** ही सर्वप्रथम नाटक हैं। ***'प्रबोधचन्द्रोदय'*** से जिस प्रतीक नाट्य परम्परा का पुनर्विकास प्रारम्भ हुआ वह आज तक अविच्छिन्न रुप से उन्नत पथारुढ़ है।

'प्रबोधचन्द्रोदय' की रचना ऐसे युग में सम्पन्न हुई जब बौध धर्म अपने अवनति के दिनों में किसी तरह जी भर रहा था। 12वीं शताब्दी में जैन धर्मावलम्बी शासकों ने अपने आश्रित कवियों को प्रतीकात्मक रुपक के प्रणयन से अपने धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रचारित व प्रसारित करने के लिए प्रोत्साहित किया। गुजरात में अजय पाल या अजय देव चक्रवर्ती शासक था। इसके आश्रित कवि यशपाल थे, इन्होंने ***'मोहपराजय'*** नामक प्रतीकात्मक रुपक लिखा। इसमें अजयपाल के पूर्ववर्ती कुमारपाल ने जैन धर्म के ज्ञाता हेमचन्द्र से दीक्षा ली। उन्होंने अपने राज्य से दूत आदि का निर्वासन किया और मोह नामक राजा पर विजय प्राप्त की। संक्षेप में :–

'पद्मासदम कुमारपालनृपतिर्जज्ञे स चन्द्रान्वयी
जैनं धर्मवाप्य पापशमनं श्रीहेमचन्द्राद गुरोः।
निर्विराधनमुज्झता विदधता द्यूतादिनिर्वासनं
येनैकेन भटेन मोहनृपतिर्जिग्ये जगत्कण्टकः।।'

प्रतीकात्मक नाटकों की इस कड़ी में 'आचार्य वैकटनाथ' का ***'संकल्पसूर्योदय'*** एक महत्वपूर्ण नाटक है इसमें इन्होंने भावात्मक पात्रों को मानव रुप में रंगमंच पर उतारा, और दर्शकों की बुद्धि पर तद्रूपता स्थापित की। धार्मिक एवं दार्शनिक प्रवृतियों को मनोरंजनात्मक परिधान में प्रस्तुत करना ही उनका लक्ष्य जान पड़ता है। कवि ने विवेक, मोह आदि अचेतन पात्रों की अभिनय शक्ति (पात्रता) के सदर्भ में संभावित संशय का निराकरण करते हुए लिखा है कि ये विवेकादि पात्र अपने अपने अधिष्ठातृ देवताओं द्वारा पात्रीकृत होते हैं–

यस्मिन गुणास्तनुभृतः सदसत्प्रकाराः
पात्री भवन्त्यनुगुणेरधिदैवतैः स्वैः।।

कवि 'वैकटनाथ' ने काव्य दर्शन, आलोचना आदि प्रत्येक क्षेत्र को अपनी प्रतिभा से प्रकाशित किया है क्योंकि इनके बाद प्रतीक नाटकों के क्षेत्र में नवीन चेतना परिलक्षित होती है। प्रतीक नाटकों का दार्शनिक चिंतन के साथ गहरा सम्बन्ध है, इसमें जीव, जगत, माया, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा आदि का जागतिक तथा पारलौकिक परिप्रेक्ष्य में सुन्दर चित्रण हुआ है।

पुरुषार्थ चतुष्टय में अंतिम मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति ही मानव जीवन का लक्ष्य है। अविद्या के कारण पुरुष अपने लक्ष्य से विमुख होकर भौतिक यातनाओं का शिकार बन जाता है। मानव की सद्आनन्द प्रवृत्तियां अपने स्वभाव के अनुसार उसे श्रेय एवं प्रेय मार्गों पर ले जाने का अथक प्रयास करतीं हैं परिणामस्वरुप मानवीय अन्तःकरण में अन्तर्द्वन्द छिड़ जाता है। इस अन्तर्द्वन्द को ***'संकल्पसूर्योदय'*** में दो राजाओं के कथानकों के प्रसंग में चित्रित किया गया है, इनमें एक पक्ष पुरुष का परम हितैषी है, वह पुरुष

को उसके परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शतत प्रयत्नशील रहता है तथा दूसरा पक्ष पुरुष को विविध भागों में आशक्त रखने के लिए सोद्योग दृष्टिगोचर होता है। ***'संकल्प सूर्योदय'*** की रचना वस्तुतः ***'विशिष्टाद्वैत'*** दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों वैष्णवधर्म के प्रतिपादन और भक्ति की मोक्षपरता सिद्ध करने के उद्देश्य से की गई है फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि ***'संकल्प सूर्योदय'*** जैसे दार्शनिक रहस्यों के प्रतिपादन नाटक का मुख्य नाटकीय आधार ***'प्रबोधचन्द्रोदय'*** है। ***'प्रबोधचन्द्रोदय'*** में आचार्य शंकर के अद्वैत मत का महत्व प्रतिपादित करते हुए जीवन के मुख लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विष्णु की भक्ति पर बल दिया गया हैं। इसमें ***प्रबोधचन्द्रोदय'*** के उदय एवं विष्णुभक्ति के प्रसाद से पुरुष को मुक्ति दिलाई गई है इसके विपरीत प्रस्तुत नाटक में विशिष्टाद्वैत मत का विवेचन किया गया है और भगवत संकल्प रुपी सूर्य के उदय तथा विष्णुभक्ति की कृपा से 'पुरुष' मोक्ष प्राप्त करता है। अतः चन्द्रोदय के विरोध में सूर्योदय का प्रणयन ही यह स्पष्ट करता है कि प्रस्तुत नाटक का आधार ***'प्रबोधचन्द्रोदय'*** है।

जिस वैष्णव धर्म तथा भक्ति का प्रचार 'वैकटनाथ' ने दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में रहकर किया, उसी वैष्णव धर्म का प्रचार कवि कर्णपूर ने उत्तर भारत में रहकर किया। चैतन्य महाप्रभु से कवित्व शक्ति प्राप्त कर इन्होंने 'चैतन्य महाप्रभु' नामक प्रतीक नाटक की रचना की इस नाटक में भी आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यंजना प्रतीक के माध्यम से की गई है। इसी श्रृंखला में 'भूदेव शुक्ल' की 'धर्म विजय' नामक प्रतीक नाटक का नाम आता है। ***'संकल्प सूर्योदय'*** की तरह ***'धर्मविजय'*** भी आद्योपान्त विशुद्ध प्रतीक नाटक है, इसके सभी पात्रों में आध्यात्मिक तथा धार्मिक जीवन के गुण एवं भाव हैं, यह इसी से अनुमेय है कि नाटक का राजा 'धर्म' नाटक के अन्त में हरिहरचरणानुराग की ही कामना करता है, और 'विद्या' उसे अचल भक्ति का वरदान देती है। 17वीं शताब्दी के उद्भट् विद्वान ''आचार्य गोकुलनाथ'' ने ***'अमृतोदय'*** नामक प्रतीक नाटक की रचना की है।

इसके अतिरिक्त महाकवि भास के नाटकों में भी अमूर्त पदार्थों का मानवीकरण किया गया है। 'अभिषेक' नाटक के 'अग्नि' का 'बालचरित' में 'मधूक' ऋषि के शाप 'वज्रवाहः' व 'लक्ष्मी' का तथा 'दूतवाक्यम्' में 'सुदर्शनचक्र' का पात्रत्वेन, जो चित्रण किया गया है, इससे यह पता चलता है। अमूर्त भावों के प्रयोग के अलावा महाकवि भास के विशाल रुपक साहित्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि ये उत्कट विष्णु भक्त रहे। उन्हें भगवान विष्णु के आयुधों को मानवीकृत करके रंगमंच पर उपस्थित करना अतिप्रिय है। इन आयुधों द्वारा उन्होंने ईश्वर की लोकरक्षिता शक्ति का दर्शन कराया है।

प्रतीक नाट्य साहित्य का प्रारम्भिक काल भले ही अश्वघोष आदि से माना जाता है, किन्तु भास के नाटकों में भी प्रतीक नाट्य–साहित्य के प्रधान वैशिष्ट्य अमूर्त पात्रों का मानवीकरण उपलब्ध होता है।

महाकवि कालिदास का सुप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम ने विश्व नाट्य साहित्य में प्रथम पंक्ति में जो अपना स्थान सुनिश्चित किया है उसका एक अनुलिखित कारण महाकवि कालिदास की अप्रतीक प्रतीक योजना है। यद्यपि इस नाट्यकृति में प्रयुक्त प्रतीकों को प्राचीन काल से ही परम्परागत टीकाकार पहचाने थे, जैसे घनश्याम ने 'हरिण' और 'भ्रमर' को अनुक्रम से शकुन्तला एवं दुष्यन्त के प्रतीक के रुप में अवश्य देखे थे।

आधुनिक काल में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने दुष्यन्त के लिए प्रयुक्त भ्रमर के प्रतीक को लक्षित करते हुए, दुर्बासा के शाप का हृदयंगम प्रयोजन उद्घाटित किया है। किन्तु उन्होंने केवल दुष्यन्त के लिए प्रयुक्त अकेले भ्रमर के ही प्रतीक को लेकर नाटक के मर्म को उद्घाटित करने का मार्ग अपनाया

हैं और दुष्यन्त को भ्रमर वृत्ति वाला कहने से उसके चरित्र में धर्म भीरुता और तत्वान्वेषिता कृत्रिम थी, यह भी कहना होगा। वस्तुतः दुष्यन्त के संदर्भ में कुल मिलाकर पांच बार भ्रमर का उल्लेख होता है। महाकवि ने दुष्यन्त के लिए गज और भ्रमर जैसे प्रतीकों का प्रयोग करने के साथ–साथ शकुन्तला के लिए भी हरिणी, कमल और हंस जैसे त्रिविध प्रतीकों का सन्निवेश किया हैं अतः कवि निर्दिष्ट कुल त्रिविध कुल त्रिविध गति–निर्देशों के साथ शकुन्तला को लिए प्रयुक्त–1. हरिण, 2. हंस तथा कमल जैसे त्रिविध प्रतीकों का संयोजन ध्यान में लेना नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से समीक्षा करने पर अभिज्ञानशाकुन्तलम के प्रतीकों से अभिव्यक्त होने वाला नाट्यकार्य यथार्थ रुप में प्रकट होता है।

प्रथम अंक में सूत्रधार के कहने पर नटी द्वारा ग्रीष्म ऋतु का गीता गाया जाता है–

''क्षणचुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमार केसरशिखानि।
अवंतसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।''

यहाँ कहा गया है कि भ्रमरों द्वारा क्षणमात्र के लिए (ही) चुम्बित (और बाद में त्यक्त) शिरीष पुष्पों को उसके प्रति दया दिखाने वाली प्रमदाएं (अपने कानों में) धारण करके अपने आपको सुशोभित करती हैं। अथवा कहो कि, उन पुष्पों को आभूषणों का गौरव प्रदान करती है, टीकाकार राघवभट्ट कहते हैं कि यहाँ शिरीष पुष्पों को धारण करने वाली प्रमदाओं से शकुन्तला का ही निर्देश करना अभीष्ट है। परन्तु यहाँ पर कुछ गम्भीर अर्थ भी छिपा हुआ दिखता है। कालिदास शकुन्तला के लिए आगे चल कर कहने वाले है कि उसको सुशोभन प्रिय था, तथापि वह वृक्षों के एक पर्ण को भी कदापि नहीं तोड़ती थी। यहाँ प्रश्न होता है कि तो फिर वह अपने कानों में क्यूँ शिरीषपुष्पों को धारण करती थी?इस प्रश्न का मार्मिक उत्तर नटी–गीत में दिया गया है। भ्रमर पुष्पों पर एक क्षण के लिए बैठते हैं और रसपान करके उसको तुरन्त छोड़ देते हैं, संसार में जो भी स्त्री के जीवन में ऐसी घटना घटित होती है, उसका विचार शकुन्तला करती है और उसके चित्त में बेशुमार वेदना होती हैं इसीलिए यह ऐसे शिरीष–पुष्पों को अपने कानों में धारण करके उसको सम्मानित करती हैं। राजर्षि विश्वामित्र ने मेनका को क्षण भर क लिए अपनाया और तुरन्त ही उसका परित्याग भी कर दिया लेकिन क्षणिक संयोग से जो संतति पैदा हुई वह थी शकुन्तला। इस तरह, नायिका जो शिरीषपुष्प धारण करती है, उसके पीछे छिपी हुई उक्त भावना उसके जन्म की कहानी से जुड़ी हुई है। कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष का क्षणिक प्रेम प्राप्त करके यदि उसके द्वारा परित्यक्त हो जाती है, तो उस स्त्री का जीवन तो निश्चित रुप से करुणाजनक हो ही जाता हैं किन्तु उस क्षणिक संयोग से जो संतति पैदा होती हे, उसके अभिज्ञान की भी समस्या खड़ी हो जाती है, जो दुःसाध्य होती हैं स्त्री जीवन में कदाचित पैदा होने वाली ऐसी पीड़ाजनक नियति, जिसको इस नटी–गीत में व्यक्त की गई है उसको दुष्यन्त कब समझता है? वह हमें देखना है और शकुन्तला के पुत्र भरत का 'दौष्यन्ति' के रुप में अभिज्ञान कब सिद्ध होता है? वह भी आनुषंगिक रुप से देखना हैं, नाटक की गति का यह प्रथम निर्देश नटी–गीत में रखा गया है और शीर्षक में आये हुए 'अभिज्ञान' शब्द के साथ उसका सम्बन्ध है। महाभारत में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान में भी शकुन्तला के पुत्र के अभिज्ञान की ही समस्या केन्द्र में थी। अतः प्रकृत में नटी–गीत का गहरा मर्म समझना अत्यावश्यक हैं इसी संदर्भ में, इस नाटक में दुष्यन्त के लिए प्रयुक्त भ्रमर का प्रतीक एवं नायिका (ओं) के लिए प्रयुक्त शिरीष, आम्रमन्जरी और कमल जैसे विविध पुष्पों के प्रतीकात्मक निर्देश विचारणीय बन जाते है। 1–2 प्रथम अंक के आरम्भ में मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त का प्रवेश होता हैं, तब नेपथ्य से आवाज आती है कि 'न हन्तवे, न हन्तव्यः, आश्रममृगाअयम् इति'। दुष्यन्त को कहा जाता है कि 'तत् साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्'। **(अ0शा0 1–10)** आर्तत्राणाय वः शस्त्रम् न

प्रहर्तुमनागसि। कण्वमुनि के शिष्यों की यह ध्वनि सुनकर मृगया के लिए निकला राजा दुष्यन्त तुरन्त ही अपने बाण का संहरण कर लेता है। तब उसके प्रतिभाव में मुनिजन राजा को आशीर्वचन देते है कि जन्म यस्य पुरोर्वशे युक्तरुपमिदं तव। पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनम् अवाप्नुहि।। **(अ0शा0 1–11)** पुरुवंश में उत्पन्न हुए आपके लिए यही समुचित हैं क्योंकि आपके बाण तो आर्त (दुःखी) व्यक्ति की रक्षा के लिए ही हो सकते है, इनसे कोई निष्पाप व्यक्ति पर आघात नहीं होना चाहिए। और, चूँकि आपने बाण का संहरण कर लिया है, आपको आपके जैसे ही गुणों वाले चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति हो। इस आशीर्वचन में अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक का चरम लक्ष्य कहा गया है।

महाकवि ने इस नाटक के मुख्य नाट्यकार्य को समझने की गुरुचावी को स्पष्ट करते हुए षष्ठम अक में लिखा गया है :–

''कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्त्रोतोवहा मालिनी, पादास्ताम् अभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः, शृइगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानाम् मृगीन्।।'' (अ0शा0 6–17)

इस श्लोक की अंतिम पंक्ति में कहा गया है कि जिस आश्रमवृक्ष की शाखाओं पर (शकुन्तला के) वल्कलवस्त्र टांगे गये हों, वहीं पर (वृक्ष की शीतल छाया में) एक हरिण ऐसा बना है, जो न केवल अक्षुब्ध, परन्तु विश्वसनीय भी हो, ताकि उसी के शृइंग पर बगल में खड़ी हरिणी अपने वामनेत्र को विश्रब्ध होके खुजला सके। इन शब्दों के वाच्यार्थ से प्रेक्षकों के मनोजगत् में एक नयनरम्य चित्र तो खड़ा होता ही हैं किन्तु उसका व्यड्ग्यार्थ भी दुष्यन्त के हृदगत मर्म को उद्घाटित करने वाला हैं। एक मृगी के लिये मृग इतना विश्वसनीय होना चाहिए कि उसके तीक्ष्ण शींग पर भी यदि वह अपना नाजुक नेत्र खुजलायेगी तो भी वह मृग तनिक भी नहीं हिलेगा और अपने नेत्र को हानि नहीं होने देगा। ऐसी उसके अन्तःकरण की दृढ़ प्रतीति होने पर ही वह मृगी अपने पास खड़े मृग के शींग पर नेत्र की खुजलाहट को दूर करेगी। यहाँ एक विश्वसनीय हो ऐसे मृग का चित्र बनाने की जो चाहत दुष्यन्त को हो रही है, वह मृग और कोई नहीं है, वह दुष्यन्त ही हैं। मृग के निमित्त से दुष्यन्त ही अपनी नयी पहचान बनाना चाहता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के नाट्यकार्य को समझने के लिए उपर्युक्त संदर्भ न केवल ध्यातव्य ही है, बल्कि अनिवार्य भी है। इस श्लोक से सूचित होता है कि अड्गुलीयक मिल जाने के बाद, विरहसंतप्त दुष्यन्त को अब शकुन्तला का नया अथवा कहो कि सही अभिज्ञान (पहचान) मिल गया हैं, आश्रम के इस मृग का हनन तो करना ही नहीं है, उसका तिरस्कार (प्रत्याख्यान) भी नहीं करना हैं बल्कि उसके जीवन को पूरा सहारा ही देना है। यह बात ठीक तरह से दुष्यन्त को अवगत हो गई है। जीवन की यह नयी समझदारी उपर्युक्त श्लोक के अन्तिम चरण से ध्वनित होती है।

अन्त में निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रतीक नाट्य साहित्य का संस्कृत वाङ्मय में एक अलग ही स्थान है, इसमें 'प्रबोधचन्द्रोदय' ***'संकल्पसूर्योदय' 'अभिज्ञानशाकुन्तल'*** आदि इस परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ियाँ है। 'संकल्पसूर्योदय' नाटक में वर्णित 'पुरुष' समस्त प्राणियों का प्रतीक है। वास्तविकता यह है कि वह महान शक्तिशाली है। इसके लिए कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। 'संकल्प' 'विष्णुभक्ति' जैसे अलौकिक उच्चकोटि पात्रों द्वारा उसकी प्रशंसा करने से ही पुरुष की महिमा व्यक्त होती है। इस नाट्य कृति में शास्त्र तथा काव्य के समस्त दार्शनिक तथ्यों को नाट्य शैली में निरुपित करना संकल्पसूर्योदय का वैशिष्ट्य है तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भी महाकवि कालिदास ने अनेक विविध प्रतीकों का गुम्फन किया है। महाकवि ने 'दुष्यन्त' के लिए 'गज' एवं भ्रमर जैसे प्रतीकों का

प्रयोग करने के साथ–साथ शकुन्तला के लिए भी हरिणी, हंस और कमल जैसे त्रिविध प्रतीकों का सन्निवेश किया है।

सहायक ग्रन्थ सूची

1. विश्वगुणादर्शचम्पू, 22/289, पृ0 163 (निर्णयसागर प्रेस), 2. वेदांतदेशिक : ए स्टडी, पृ0 15, 3. वेणीसंहार, प्रस्तावना, पृ0 9, 4. सं0सू0, 1/20, पृ0 51, 5. अलंकारसंग्रह, 7/2 पृ0 94, 6. सं0सू0 1/20 की व्याख्या, पृ0 51, 7. (क) हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेटर, पृ0 790, (ख) सं0सू0 उपोद्घात, पृ0 81, (ग) सं0सा0 का इति0 (वे0 वरदाचार्य) पृ0 296, (घ) अलंकार संग्रह, पृ0 12, 8. देव, आलक्ष्यतामयमदूरादेव नलसे तु संदर्शनोत्सुकमुनिजनगतागत विभताण्डवितवैभवः पाण्डयदैशः।। सं0सू0, पृ0 582, 9. सं0सू0, पृ0 467, 10. संस्कृत नाटक, पृ0 267, 11. हि0 ऑफ क्ला0सं0लि0, पृ0 208, 367, 678 तथा म0का0 सं0ना0, पृ0 339, 12. चै0च0, 10/75 के बाद, पृ0 394, 13. Bibliography Belvalkar, S. (1925). The Original S'akuntala 14. राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, घनश्याम, 1997, 15 कालिदास परिशीलन, सागरः संस्कृत विभाग, हरिसिंह गौर विश्वविद्यालयः, 16. त्रिपाठी, राधावल्लभ 1988, 17. द्विवेदी रेवा प्रसाद, 2004 कालिदास–अपनी बात, वाराणसीः कालिदास संस्थान, 28 महामनापुरी वाराणसी। 18. शरद रन्जन 1908, 1928 अभिज्ञानशाकुन्तलम् कोलकाताः।

पर्यावरण प्रतिबलकों के प्रभावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

- डॉ0 शैलजा सिंह

सहायक प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग,
डी.ए.वी.पी.जी. कालेज, वाराणसी

मनोवैज्ञानिकों ने व्याक्ति के व्यवहारों, अनुभवों तथा भौतिक पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी (Ecological) कारकों के सम्बन्धों पर नई दृष्टि से अनुसंधानों को वृहद स्वरूप देने का प्रत्यन किया है। अनुसंधानकर्ताओं ने मानवीय व्यवहारों के परिणाम स्वरूप पारिस्थितिकी के निरन्तर ह्रास सम्बन्धी अध्ययनों को अपने अनुसंधान का प्रमुख एवं विशिष्ट अंग बनाया है। सम्पूर्ण विश्व में भौतिक पर्यावरण, पारिस्थितिकी के प्रति वैज्ञानिकों, बुद्धिजीवियो एवं राजनीतिज्ञों का ध्यान 1960 के दशक से ही आकर्षित होने लगा है। वर्तमान समय में मानव व्यवहार एवं पर्यावरण की अन्तक्रिया महत्वपूर्ण अनुसंधान का विषय बन गया है। मानव व्यवहार के कारण ही पर्यावरण में अनेक विसंगतियां परिलक्षित हुई है। मनुष्य ने परिशुद्ध पर्यावरण के सानिध्य में रहकर ही सफलतायें अर्जित की है। मनुष्य की स्वाभाविक एवं सहज प्रवृत्तियां जीवन की वास्तविक स्थितियों के साह्चर्य के अभाव में उचित दिशा में निर्देशित नही हो सकती और न ही जीवन का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त कर सकती हैं। व्यक्ति के अन्तवैयक्तिक व्यवहारों एवं पर्यावरणीय कारकों के मध्य निकट सम्बन्ध के बावजूद औद्योगिक विकास की दशाओं एवं आधुनिक तकनीकी ने स्वस्थ वातावरण को नष्ट करने का सफल प्रयास किया है (Calhaun, 1962)।

व्यक्ति के चारो तरफ फैला हुआ पर्यावरण उसकी मनःस्थिति, शारीरिक स्वास्थ्य या परेशानी की अनुभूति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार के पर्यावरण के विविध अवयवों में अतिशय वृद्धि या अतिशय न्यूनता व्यक्ति के व्यवहारों के साथ–साथ अन्तर्वैयक्तिक व्यवहारों को व्यापक स्तर पर प्रभावित करती है। पर्यावरण में परिवर्तन से व्यक्ति में अनेक प्रकार की क्रियायें करने के लिए आन्दोलन उत्पन्न होता है। इससे उद्दीपक अतिभार

की प्राप्ति होती है और व्यक्ति का अवधान प्रभावित होता है। इस प्रभाव से व्यक्ति में पर्यावरण के प्रति प्रतिबल निर्मित हो जाता है, अथवा इस परिवर्तन से उसे प्रतिबल का अनुभव होता है (Baum, Singer & Baum, 1982)।

पर्यावरण प्रतिबल की विषय विविधता के कई रूप है जैसे–

कोलाहल :– श्रवण की क्षमता व्यक्ति की ऐसी विशेषता है जिसके माध्यम से वह अपने चारो तरफ होने वाली ध्वनियों को सुनता और उनसे सूचना प्राप्त करता है। व्यक्ति को वातावरण से निरन्तर ध्वनियां प्राप्त होती रहती हैं, इनमें से कुछ के प्रति व्यक्ति अत्यधिक संवेदनशील होता है। बहुधा पर्यावरण में होने वाली ध्वनियां कोलाहल या शोर बन जाती हैं और अप्रिय एवं निषेधात्मक रूप से व्यक्ति को उत्तेजित कर देती है। ग्लास एवं सिंगर (1972) ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया है कि कोलाहल तब क्षतिकारक होता है जब उसकी उच्चता या मात्रा अत्यधिक होती है, जब वह अप्रत्याशित रीति से घटित होता है और जब व्यक्ति का उस पर प्रत्यक्षीकृत नियंत्रण का अभाव होता है। इस प्रकार घटित होने वाले कोलाहल व्यक्ति को उत्तेजित कर उसमें झुँझलाहट और क्रोध उत्पन्न करते हैं, व्यक्ति के लिए प्रतिबल की स्थिति लाते है और मानसिक क्रियाओं के लिए अतिभार का कार्य करते हैं।

कोलाहल वाले परिवेश में अनावधानता उत्पन्न होती है जिसके कारण व्यक्ति अपने आस पास होने वाली घटनाओं का सही प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाता और उसके द्वारा किये जाने वाले संकृत्य–निष्पादन में त्रृटि की मात्रा बढ़ जाती है (Broadbent, 1958, 1971, 1978)। कोलाहल का निषेधात्मक प्रभाव प्रदर्शन काल में वृद्धि के साथ सम्बन्धित होता है (Hartley & Adams, 1974)। ब्रीम एवं उनके सहयोगियों (1973) ने कोलाहल एवं बच्चों की पढ़ने की योग्यता के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन करके यह निश्कर्श निकाला है कि जैसे–जैसे कोलाहल की मात्रा में वृद्धि होती है, पढ़ने की योग्यता में निरन्तर कमी प्राप्त की जाती है। Cohen (1978) ने अपने एक अध्ययन में कोलाहल की दशा में अवधान की क्षति का प्रमाण प्रस्तुत किया है। Glass & Singer(1972) ने अपने अध्ययन में देखा कि शान्त परिवेश में प्रयोज्यों ने कम, पूर्वकथनीय कोलाहल में उससे अधिक और अप्रत्याशित ढंग से होने वाल कोलाहल में सबसे अधिक त्रुटियां की। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला गया कि अप्रत्याशित तथा अनियंत्रणीय कोलाहल में निष्पादन का स्तर गिरता है और त्रुटियों की मात्रा बढ़ती है।

तापमान :– उच्च स्तर के तापमान एवं तापमान में गिरावट भी व्यक्ति के व्यवहारों को अनेक प्रकार से प्रभावित करते है। कोलाहल की तरह तापमान भी व्यक्ति के लिए प्रतिबल उत्पन्न करता है तथा उदोलन स्तर में परिवर्तन एवं प्रतिघात की उत्पत्ति का महत्वपूर्ण कारक बनता है। पेपलर (1972) तथा बेन्सल एवं जीमैन (1981) ने अपने अध्ययनों में यह देखा कि विद्यालयी बच्चों के निष्पादन में गिरावट, कुछ का निष्पादन अप्रभावित तथा शेष के निष्पादन में वृद्धि हई। तापमान वुद्धि से व्यक्ति उदोलित होता है जिससे उसके निष्पादन में परिवर्तन या गिरावट आने लगती है। उच्चस्तरीय तापमान प्रतिबल उत्पन्न करता है, जिससे व्यक्ति अतिभार का अनुभव करता है और अपने अवधान को प्रमुख विषय पर केन्द्रित कर देता है। अतः जिन संकृत्यों में अवधान के केन्द्रित होने के साथ–साथ परिधि पर स्थित उद्दीपन के प्रति भी अनुक्रिया होती है, उनमें निष्पादन का स्तर कम हो जाता है।

पर्यावरणीय प्रतिबल सामाजिक अन्तर्क्रियाओं की गुणवत्ता एवं स्वरूप को प्रत्यक्षतः प्रभावित करते है। वर्तमान समय में मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों ने

प्रतिबल के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है जिसमें व्यक्ति क प्रतिबल अनुभव और भौतिक पर्यावरणीय प्रभावों का स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव चर्चित रहा है। उपर्युक्त प्रकार के पर्यावरणीय प्रतिबलकों के विपरीत प्रभाव स्वास्थ्य पर दिखलाई पड़ते है (Glass & Singer1972)।

पर्यावरणीय प्रतिबल के अनेक स्रोत मनोवैज्ञानिकों ने बतायें है, जिन्हें मुख्यतः तीन वर्गो में वर्गीकृत किया जाता है–

1- Cataclysmic stressors
2- Ambient stressors
3- Daily hassles (Camphell, 1983, Evans &Cohen, 1987, Lazarus & Cohen, 1977)

प्रथम वर्ग में युद्ध एवं प्राकृतिक आपदायें प्रमुख प्रतिबलक हैं। द्वितीय श्रेणी में प्रदूषण, कोलाहल, भीड़ एवं तापमान जैसे प्रतिबलक व्यक्ति के व्यवहार एवं स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं जबकि तीसरे श्रेणी में व्यक्ति के दैनिक क्रिया कलापों एवं कार्यदशाओं से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के व्यवधान एवं अन्तर्द्वन्द्व जैसे– कार्यालय जाते समय चाभी का खो जाना, सहयोगियों के साथ सही विचार विमर्श का न होना, पारिवारिक कारणों से डयूटी पर समय से न पहुँच पाना आदि ऐसे प्रतिबल युक्त कारक हैं, जो मानव व्यवहार को प्रभावित कर देते है। Cohen & Weinstein (1981) ने अपने एक अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला है कि अति कोलाहल से रक्तचाप, ह्रदय गति एवं त्वचा में प्रकम्पन उत्पन्न होता है। इसी तरह Batra, muhar& Batra, (1990) ने कोलाहल के विपरीत प्रभाव मानसिक कुशलता एव निष्पादन पर प्राप्त किये है।

मनोवैज्ञानिकों के सीमित अध्ययन इन पर्यावरणीय प्रतिबलकों पर सम्पादित किये गये हैं। विद्यालय में अध्ययरनत विद्यार्थियों के ऊपर सम्पादित शोध अध्ययनों की संख्या भी सीमित ही है। वर्तमान में शोध अध्ययन का उद्देश्य माध्यमिक स्तर पर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के मध्य पर्यावरणीय प्रतिबलकों के प्रभावों का निरीक्षण करना होना चाहिये।

1. माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पादन एवं सीखने की योग्यता पर कोलाहल के प्रभावों का अध्ययन करना आवश्यक है।
2. माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पादन एवं सीखने की योग्यता पर तापमान के प्रभाव का अध्ययन करना अनिवार्य है।
3. माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के व्यवहारगत परिवर्तनों (आक्रमकता, झुँझलाहट आदि) एवं पर्यावरणीय प्रतिबलकों (कोलाहल, तापमान) के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन समकलीन परिप्रेक्ष्य मे प्रासंगिक है।
4. पर्यावरणीय प्रतिबलकों का विद्यार्थियों की यौन भिन्नता, आयु, कक्षा, विद्यालयीय पृष्ठभूमि के साथ समबन्धों का अध्ययन करना आवश्यक है।

अध्ययन की सार्थकता

वर्तमान युग में समाज में प्रत्येक व्यक्ति प्रतिबल का अनुभव कर रहा है, साथ ही इसके दुष्परिणामों से भी पीड़ित है। प्रतिबलकों के दुष्परिणामों से परिपक्व एवं अधिक आयु के लोग ही नहीं वरन् माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थी भी पीड़ित है। पर्यावरणीय प्रतिबलकों का इन विद्यार्थियों के सीखने की योग्यता एवं शैक्षिक निष्पादन पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आज के युग में जनसंख्या एवं अन्य संसाधनो में निरन्तर वृद्धि हो रही है, इसके परिणामस्वरूप कोलाहल एवं तापमान जैसे पर्यावरणीय प्रतिबलकों में

भी वृद्धि हो रही है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों में इन प्रतिबलकों के प्रभावों का अध्ययन अतिआवश्यक है। प्रस्तुत शोध विद्यार्थियों के शिक्षण योग्यता एवं शैक्षिक निष्पादन में वृद्धि हेतु आवश्यक दिशा निर्देश प्रस्तुत करने में सफल होगा।

सन्दर्भ

1. Batra, A.; Muhar, I. & Bhatia, P. (1990): Environmental noise and mental work. Indian Journal of Psychology, 65, 45-52.
2. Baum, A.; Singer, J.E. & Baum, C. (1982): Stress and the environmental. In G.W. Evans.(Ed.),Environmental stress (pp.15-44), New York; Cambridge University Press.
3. Broadbent, D.F. (1958): 'Effects of Noise on an Intellectual Task.' In Journal of the Acoustical Society of American, 30,pp.824-827.
4. Broadbent , D.F. (1971): Decision and Stress, Academic Press, New York.
5. Broadbent, D.F. (1978): 'The current State of Noise Research: Replay to Poution', in Psychological Bulletin, 85, pp.1052-1067.
6. Calhoun, J. (1962): Population density and social pathology. Scientific American, 206, 139-148.
7. Campbell. J. (1983): Ambient stressors. Environment & Behavior, 15, 355-380.
8. Cohen, S. (1983): 'Environmental Load and the Allocation of Attention', in A. Baum, J.E. Singer and S.Valins (eds.), Advance in Environmental Psychology, Vol. I, Lawrence Erlbaum, Hillsdale, N.J.
9. Cohen, S.; Glass, D.C. and Singer, J.F. (1973): "Apartment Noise, Auditory, Discrimination and Reading Abilities in Children," in Journal of Experimental Sociology. Prentice Hall, Englewood Cliffs, NJ,pp.134-149
10. Cohen, S. & Wwinstein, N. (1981): Nonauditory effects of noise on behavior and Health Journal of social issues, 37, 36-70.
11. Evans, G. & Cohen, S. (1987) : Environmental stress. In D. Stokols and I. Altaman (Eds.), Handbook of Environmental psychology, New york: Wiley.
12. Glass , D.C. and Singer, J.F. (1972): Behavioral After- Effects f Unpredictable and Uncontrollable Adversiv e Events," In American Scientist, 80,pp. 457-65
13. Hartly, L.R. and Auams, R.G. (1974): Effect of Noise on the Stroop Test," International University press, New York.
14. Lazarus R.S.& Cohen, J.(1977): Environmental stress. In J. Wohlwill & I. Altman (Eds.), Human behavior and Environment (pp.99-127), New York : Plenum.

भारतीय दर्शन में मुक्ति

- डॉ0 रामेन्द्र सिंह

दर्शनशास्त्र विभाग,
डी.ए.वी.पी.जी. कालेज, वाराणसी

सम्पूर्ण पौरस्त्य वाड्मय में, तत्वचिंतन में लगा हुआ ऋषि मुक्तिकामी रहा है। इस जगत के रहस्य को समझने में उसने अपनी सारी ऊर्जा लगा दी है सम्पूर्ण उपनिषद–साहित्य, जो वेदों का प्राणतत्व है, इसी रहस्योद्घाटन में तत्पर है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों में प्रयुक्त 'ज्ञान' 'शब्द' प्रकारान्तर से 'मुक्ति' का ही पर्याय है–

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'

फिर भी, विभिन्न दर्शनों के प्रतिपादक ऋषियों ने निजदृष्टि से मोक्ष की जो अवधारणा प्रस्तुत की है, वह इस प्रकार हैः–

चार्वाक दर्शन– चार्वाक दर्शन के अनुसार शरीर ही आत्मा है अर्थात् शरीर के अन्त हो जाने पर आत्मा भी नष्ट हो जाता है। अतः मुक्ति या कर्म–बन्धन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। चार्वाक दर्शन में पारमार्थिक मुक्ति को कोई स्थान नहीं मिला है अपने पूरिश्रम से धन कमाना और जीवन में दुःखों से छुट कारा पाना ही चार्वाकों की मुक्ति है। इसके अतिरिक्त और किसी मुक्ति को वे नहीं मानते।

बौद्ध दर्शन– बौद्ध दर्शन में आत्मा को चेतना का प्रवाह मात्र माना गया है। बुद्ध ने आत्मा की नित्यता को स्वीकार नहीं किया है, इसलिये उनके दर्शन में मृत्यु के उपरान्त मुक्ति पाने या स्वर्ग–अपवर्ग आदि का भोग करने का कोई प्रश्न नहीं होता। बौद्ध दर्शन् में जीवन का परम साध्य 'निर्वाण' को माना गया है। किन्तु इसे मुक्ति नही कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि मुक्ति की अवस्था में आत्मा को स्वज्ञान और निर्वाण की अवस्था में इसे स्वज्ञान नहीं रहता है। बौद्ध मत के शून्यवादी दार्शनिक नागार्जुन ने निर्वाण को अवर्णनीय एवं कल्पनातीत कहा है। निर्वाण की अवस्था में साधक या भिक्षु (1) निरोध, (2) उत्पाद, (3) उच्छेद, (4) शाश्वत्व, (5) ऐक्य, (6) नानात्व, (7) आगम और (8) निर्गम, इन अष्ट कोटियों से मुक्त हो जाता है। यही

निर्वाण की अवस्था है। व्यावहारिक दृष्टि से निर्वाण प्राप्त कर लेने पर जीव को किसी प्रकार की कोई अनुभूति नहीं होती। न उसे सुख का अनुभव होता है; न दुःख का, न शीम का न उष्ण का; वह महानिर्वाण प्राप्त करने के पहले और उसके उपरान्त, सदैव ही एक ऐसी अवस्था में रहता है, जिसे नागार्जुन ने शून्यता कहा है। जहाँ धर्मों का स्वभाव नहीं रह जाता, वही शून्यता है। दूसरे शब्दों में निःस्वभाव हो जाना ही शून्यता है और यही बौद्धों का निर्वाण है। निर्वाण प्राप्ति के लिये बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग बतलाया है। अष्टांगिक मार्ग के ये आठ अंग है– (1) सम्यक् दृष्टि, (2) सम्यक् संकल्प, (3) सम्यक् बचन, (4) सम्यक् कर्म; (5) सम्यक् आजीव, (6) सम्यक् व्यायाम, (7) सम्यक् स्मृति और (8) सम्यक् समाधि। इन्ही का सतत् अभ्यास करने से साधक समाधिस्थ हो जाता है और निर्वाण प्राप्त करता है।

जैन दर्शन–जैन दर्शन के अनुसार जब जीव पुदगलों से संयुक्त हो जाता है, तभी वह आवागमन के चक्र में पड़ता है और नाना प्रकार के क्लेश भोगता है। इसी दृष्टि से तीर्थंकरों ने यह प्रतिपादित किया कि जीव का पुद्गलों से वियुक्त हो जाना ही मोक्ष है और मोक्ष प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। मोक्ष साधना के यथोक्त मार्ग का अनुसरण करके जीव पुद्गलों से वियुक्त हो सकता है। चूँकि पुदगल अनन्त है और जीव के साथ सदा संयुक्त होते रहते हैं', अतः यह आवश्यक है कि उनका आस्त्रव रोका जाय और पुराने पुदगलों को नष्ट किया जाय। पुदगलों के आस्त्रव को रोकने की क्रिया को संवर कहते हैं और पुराने पुद्गलों को नष्ट करने की क्रिया निर्जरा कहलाती है। इसी संबर और निर्जरा के द्वारा जीव मोक्ष प्राप्त करता है और अनन्त आकाश में मुक्त होकर भ्रमण करता है। जीव के मुक्त हो जाने पर उसका वह अज्ञान, जिसके कारण कषायों की उत्पत्ति होती है, नष्ट हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये त्रिरत्न का अनुसरण करना अत्यावश्यक है। जैन दर्शन का त्रिरत्न बौद्धों के त्रिरत्न से भिन्न है। इसके अनुसार सम्यक् दर्शन, ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र ही त्रिरत्न हैं। इसके अनुशीलन से जीव का अज्ञान नष्ट होता है। और वह सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके अपने आपको पुद्गलों से विमुक्त कर लेता है। इसी का नाम मोक्ष है।

सांख्य का मत–सांख्य दर्शन में मुक्ति या कैवल्य को जीवन का चरम लक्ष्य बतलाया गया है। मुक्ति का तात्पर्य न तो स्वर्ग या अपवर्ग प्राप्त करना है और न ही इसका अर्थ शरीर अथवा इन्द्रियों से विमुक्त हो जाना है। सांख्य दर्शन के अनुसार त्रिविध दुःखों अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखों से छुटकारा पा जाना ही मुक्ति है। मुक्त हो जाने पर जीव को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और वह जगत् की क्रियाओं का कर्त्ता न रहकर केवल साक्षी या द्रष्टा मात्र रह जाता है। आत्मा या पुरूष नित्य है और यथार्थ ज्ञान के उपरान्त वह शुद्ध, चैतन्य, निष्क्रिय तथा मुक्त हो जाता है।

न्याय दर्शन–अन्य दर्शनों की भाँति न्याय दर्शन में भी मोक्ष का स्थान सर्वोच्च माना गया है। नैयायिकों ने इसे अपवर्ग कहा है। न्याय दर्शन की विशेषता यह है कि वह शरीर और इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त होने के पूर्व मोक्ष या अपवर्ग को असंभव मानता है। नैयायिकों का कथन है कि जब तक शरीर और इन्द्रियाँ रहती हैं तब तक मोक्ष कदापि नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि नैयायिक दुःखों के पूर्ण निरोध को मोक्ष या अपवर्ग कहते है। दूसरी बात यह है कि नैयायिकों के अनुसार मृत्यु या मोक्ष प्राप्त कर लेने के उपरान्त आत्मा अचेतन हो जाता है और सत्त उसी अवस्था में बना रहता है। यही उसका अपवर्ग है। अपवर्ग या मोक्ष प्राप्त करने के लिये न्याय दर्शन में तीन मार्ग बतलये गये हैं– (1) श्रवण, (2) मनन और निदिध्यासन। धार्मिक ग्रंथों का सुनना

'श्रवण' है, और उस पर विचार करना 'मनन है तथा उस विचार के अनुसार कार्य करना 'निदिध्यासन' कहलाता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा जीव को यह ज्ञान होने लगता है कि वह आत्मा और शरीर से भिन्न है। यही विचार जब परिपक्व हो जाते हैं तब वह जीवनमुक्त हो जाता है। मुक्ति, मोक्ष या अपवर्ग प्राप्त कर लेने के उपरान्त जीव के समस्त दुःखों का पूर्ण निरोध हो जाता है और सुखों का भी साथ–साथ अन्त हो जाता है। मुक्ति के उपरान्त जीव को न तो दुःख की अनुभूति होती है। और न सुख की। वह सुख–दुख से परे अचेतन हो जाता है। जब जीव को इस बात का यथार्थ ज्ञान हो जाता है कि वह शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है, तब वह कर्म–बन्धन में नहीं फँसता। वह कर्मतो अनेक करता है किन्तु उसका फल उसे नहीं मिलता। पूर्वार्जित संचित कर्म भी शनैः शनै श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा नष्ट हो जाते है। इस प्रकार जीव कर्म–बन्धन से पूर्णतः मुक्त हो जाता हैं और अपवर्ग प्राप्त कर लेता है। अपवर्ग प्राप्त कर लेने पर जीव अजर, अमर हो जाता है। अचेतन होते हुये भी उसे प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

वैशेषिक दर्शन–मोक्ष के सम्बन्ध में वैशेषिक दर्शन का मत वैसा ही है जैसा कि न्याय दर्शन का है। केवल तत्त्व विश्लेषण में दोनों दर्शन भिन्न हैं।

योग दर्शन–योग दर्शन में जिस मोक्ष का वर्णन मिलता है वह साधना के द्वारा जीवनकाल में ही साध्य है। असंप्रज्ञात योग के द्वारा साधक एक ऐसी स्थिति पर पहुँचता है जबकि उसे अपने विषय में और संसार के अन्य सभी पदार्थों के विषय में यथार्थ ज्ञान हो जाता है। यही अवस्था मोक्ष कहलाती है। योग दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने पर जीव 'कैवल्य' पद प्राप्त कर लेता है। अन्य दर्शनों की भांति कैवल्यावस्था में जीव न तो कहीं जाता है और न कहीं से आता है। वह केवल घटा–काश से निकल कर महाकाश में विलीन हो जाता है। कैवल्य प्राप्त जीव परम शुद्ध, पूर्ण ज्ञानी तथा निष्क्रिय हो जाता है। वह अनासक्त योगी बन जाता है। इसीलिये योग दर्शन का विशेष महत्त्व है। इसकी क्रियायें पूर्णतः सैद्धान्तिक एवं आदर्शवादी हैं। असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था में पहुँचने पर केवल 'ध्येय' मात्र रह जाता है; ध्याता और ध्यान दोनों ही निरस्तित्व हो जाते है। न कोई क्रिया रहती है। और न कोई साधना। इसी अवस्था में पहुँच कर पूर्ण चित्त–वृत्ति निरोध होता है जो कि योग साधना का चरम लक्ष्य है। यही योग दर्शन का मोक्ष है जिसके उपरान्त समस्त संचित, प्रारब्ध तथा क्रियामाण कर्म नष्ट हो जाते हैं और जीव बन्धनमुक्त हो जाता है।

मीमांसा दर्शन–मीमांसा दर्शन में आत्मा को 'स्वभावतः चेतन नहीं माना गया है। मीमांसकों के अनुसार जब आत्मा मन, इंद्रिय और शरीर से संयुक्त होता है, तभी उसमें चेतना जागृत होती है। इन विषयों से पृथक् रहने पर आत्मा में चेतना का अभाव रहता है। चेतना आत्मा का गुण हैं, स्वभाव नहीं; इसलिये मोक्ष–प्राप्त जीव न तो सुख का अनुभव कर पाता है और न दुःख का। सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिये मीमासकों ने सत्कर्म करने का उपदेश दिया है। सत्कर्म में रति और दुष्कर्म से विरति करने पर जीव के संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म निष्फल हो जाते हैं और वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। मुक्तावस्था में, प्राचीन मीमांसा के अनुसार वह स्वर्ग प्राप्त कर लेता था, किन्तु मध्यकालीन मीमांसकों के अनुसार मोक्ष प्राप्त जीव सुख और दुःख दोनों से परे हो जाता है। एक बार मुक्त हो जाने पर वह पुनः कभी जन्म–मरण के चक्र में नहीं पड़ता। पश्चात्वर्ती ग्रन्थों के अनुसार (जैसे मानमेयोदय) मोक्ष के उपरान्त जीव में आनन्द रहता है। समस्त दुःख समाप्त हो जाते है। यह विचारधारा वेदान्तियों से मिलती–जुलती है।

वेदान्त दर्शन

क) अद्वैत वेदान्त–शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार कर्म–बन्धन में जकड़ा हुआ जीव अविद्या या मायावश अपने आपको जगत् के समस्त कर्मों का कर्त्ता और विषयों का भोक्ता समझता है। ज्ञान साधना करते रहने से उसकी अभ्यास–दृष्टि समाप्त हो जाती है और वह ब्रह्म के विवर्त रूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह संसार ब्रह्म का विवर्त रूप है–इस ध्रुव सत्य का ज्ञान प्राप्त करके वह जीव परम शुद्ध ज्ञानी हो जाता है। शंकर के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है। केवल माया और अविद्या के कारण वह अपने आपको ब्रह्म से पृथक् समझता है। यथार्थ ज्ञान हो जाने पर उसे 'अहं ब्रह्म' का बोध हो जाता है और वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है। एक बार यह ज्ञान हो जाने पर अविद्या नष्ट हो जाती है; विवर्त का पर्दा हट जाता है और आत्मा परम शुद्ध, चैतन्य तथा आनन्दस्वरूप हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये अद्वैत वेदान्त में साधन–चतुष्टय का विधान किया गया है। (1) नित्यानित्य–वस्तु–विवेक, (2) इहामुत्रार्थ भोग विराग, (3) शमदमादि साधन सम्पत, और (4) मुमुक्षुत्व, ये चारों मिलकर साधन–चतुष्टय कहलाते हैं। इन्ही का निरन्तर अभ्यास करते रहने से और श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा जीव मोक्ष प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मज्ञानी बन जाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीवन मुक्ति संभव है। मोक्ष की अवस्था में पहुँचने पर समस्त कर्मबन्धन नष्ट हो जाते हैं और जीव को 'तत्वमसि' तथा 'अंह ब्रह्मास्मि' का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। जीवनकाल में अर्थात् शरीर और इंद्रियों के रहते हुये जब जीव ब्रह्मःज्ञान प्राप्त करता है तब उसे जीवन–मुक्त कहते हैं और जब वह देह रहित हो जाता है तब उसे विदेह–मुक्त कहते है। मुक्ति प्राप्त कर लेने पर जीव शुद्ध चैतन्य तथा आनन्दमय हो जाता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

(ख) विशिष्टाद्वैत वेदान्त– रामानुज के अनुसार जीवब्रह्म कदापि नहीं हो सकता। वह ईश्वर का अंश है और मोक्ष या मुक्ति प्राप्त कर लेने पर वह ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करता है। रामानुज ने चार प्रकार के मोक्ष बतलाये हैं–सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य, और सायुज्य। ईश्वर भक्ति में तल्लीन रहने वाला जीव ईश्वर की कृपा से यथार्थ ज्ञानी बनता है। वह स्थूल शरीर को त्याग कर भगवत् कृपा से जब बैकुण्ठ में पहुँचता है तो उसका सूक्ष्म शरीर भी छूट जाता है और वह परम शुद्ध होकर दिव्य देह धारण करके बैकुण्ठ में ईश्वर के निकट पहुँचकर वहीं निवास करता है। वह ब्रह्म या ईश्वर नहीं हो जाता जैसा कि शंकराचार्य का मत है। रामानुज ने मोक्ष–प्राप्ति के लिये कोई विशेष क्रिया या योग साधना नहीं बतलाया है। उनका मार्ग केवल भक्ति पर आधारित है। रामानुज–दर्शन की एक विशेष बात यह भी है कि वे जीवन–मुक्ति को नहीं मानते। उनका कथन है कि जब तक शरीर रहेगा तब तक धर्म रहेंगे और जब तक धर्म रहेंगे तब तक जीव पाप और पुण्य के बंधनों से बच नहीं सकता। अतः रामानुज शंकर के समान जीवनमुक्ति को नहीं मानते। मृत्यु के उपरान्त भक्ति और प्रपत्ति में निरन्तर रत रहने वाला जीव ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। यही उसका मोक्ष है। इसके बाद पुनर्जन्म नहीं होता। वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है।

मुक्ति–सम्बन्धी विविध विचारधाराओं में शंकर के विचार ही सर्वोत्कृष्ट और बुद्धिसंगत प्रतीत होते है.।

I

कौन समझेगा वरुणा और अस्सी का मर्म?

- प्रताप बहादुर सिंह

मीडिया प्रभारी,
डी.ए.वी. पी.जी. कालेज, वाराणसी

वाराणसी (काशी) जिसकी महिमा अनादि काल से हर किसी के मुख से सुनने को मिल जाती है लेकिन गाहे बगाहे इसकी वर्तमान दुर्दशा भी सुनाई पड़ती है। वाराणसी जो कि प्राचीन काल से वरुणा और असि नदी के बीच अवस्थित है और वरुणा असि की जातीय स्मृति को संभाले हुए हैं लेकिन वाराणसी को सार्थक करने वाली यह दो नदियाँ आज अपने वजूद के संकट से जूझ रही है। मान्यता है कि काशी का नाम वाराणसी इसलिए पड़ा क्योंकि इसके एक छोर पर वरुणा नदी एवं दूसरे छोर पर असि नदी है और इसी के बीच काशी बसती है। आज यह दोनो ही नदिया संकट के दौर से गुजर रही है।

सबसे पहले बात करते है वरूणा की जिसके सम्बन्ध में डॉ0 मोतीचन्द्र ने ***'काशी का इतिहास'*** में लिखा है कि 'वरुणा जो कि पास के ही इलाहाबाद– मिर्जापुर (अब भदोही) जिले की सीमा पर फूलपुर के ताल से निकलती है' और बमुश्किल सवा सौ किलोमीटर का सफर तय कर गंगा में समाहित हो जाती है परन्तु यह सौ किमी का सफर उसके लिए किसी जीरम घाटी से कम नही है। वाराणसी के रामेश्वर तीर्थ तक तो वरुणा स्नान योग्य रहती है लेकिन जब उसका प्रवेश शहर के सभ्य समाज के बीच होता है तो वह कराह उठती है। वरुणा के किनारे काशी के तमाम तीर्थस्थल और धार्मिक यात्राओ (पंचकोशी, अन्तगृही) के पड़ाव पड़ते है। पंचकोशी के विषय में डॉ. मोतीचन्द्र ने काशी के इतिहास में लिखा है कि 'बनारस की पवित्रता पंचकोशी की सीमा के अन्दर मानी जाती है। पंचकोशी की सड़क मणिकर्णिका घाट से आरम्भ होकर दक्षिण – पश्चिम कंदवा को जाती है, वहॉ से राजा तालाब के दक्षिण भीमचण्डी के मन्दिर को, फिर वहॉ से उत्तर चौखण्डी होती हुई वरूणा पर स्थित रामेश्वर को, वहॉ से पुल पार कर पॉचों पंडवा तालाब होते हुए शिवपुर को, वहॉ से संगम के पास कपिलधारा और कोटवा के मन्दिर होते हुए फिर

मणिकर्णिका पर सड़क समाप्त होती है'। यहॉ तक की सराय मोहना जहां गंगा और वरुणा का संगम होता है वह स्थान भी आस्थावानो के लिए एक तीर्थस्थल ही है लेकिन वहॉ स्नान तो दूर खड़ा होना भी दूभर है। वरुणा को कंक्रीट के मलबो से निरंतर ढका जा रहा है वहीं, शहर के उत्तरी छोर के सारे अपशिष्टो का निष्पादन भी उसी में किया जा रहा है। वरुणा के विकास और सौन्दर्यीकरण के नाम पर सरकारी अमले ने वरुणा कारिडोर पर कई सौ करोड़ रूपये खर्च जरूर किये गये ताकि वह सतही तौर पर देखने लायक हो जाये। परन्तु वहॉ भी भष्ट्राचार की काली स्याह वरुणा के जल को और भी ज्यादा कलुषित करने से नही चूकी।

दर्द से कराह रही वरुणा की व्यथा से आगे बढ़े तो नगर के दक्षिणी छोर पर स्थित असि नदी अब सिर्फ अस्तित्व की लड़ाई लड़ती दिखाई पड़ेगी। वर्तमान में यदि असि नदी का जिक्र किया जाता है तो लोग असमंजस में पड़ जाते है कि यह कहॉ है? चूँकि असि नदी अब अस्सी नाले के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुकी है। इस नदी के उद्गम स्थल के विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण तो नही मिलता लेकिन इसका नाम असि क्यों पड़ा इसकी एक सार्थक कथा अवश्य बतलाई जाती है। संस्कृत भाषा में असि का अर्थ तलवार की तेज धार और प्राचीन काल में असि की धारा भी तलवार जैसी तेज थी इसलिए इसे असि नाम दिया गया था। खेद का विषय यह है कि आज वही असि नदी अवैध निर्माणो और अपशिष्टो के भार तले दब कर रह गई है। इतने भारी भरकम अवैध बोझ को लेकर चल रही असि की सिसकियॉ भी अब कम ही सुनाई पड़ती है, वह दिन दूर नही जब असहनीय सडांध के नाम पर असि नाले को एक पाइप लाइन के द्वारा गंगा में मिलाया जाए। इससे एक ओर अवैध निर्माण करने वालो को अचूक राहत मिलेगी ही साथ ही साथ उस राह से नाक बन्द कर गुजरने वाले राहगीर भी खुश हो जायेगें क्योंकि तब उन्हे भयंकर बदबू से निजात मिल चुकी होगी। सरकार की यंह योजना लगभग तय हो चुकी है बस विभागीय अनुमति मिलने की देर है।

और इसके अलावा इन दोनो की दूसरी सैकड़ो नदियों को अपने में समेट रही गंगा का हाल तो किसी से छिपा नही है। यहॉ इतना ही कहना है की असि नदी का अन्त होना और वरुणा का जीवन रक्षक प्रणाली पर होना सिर्फ दो नदियों का खत्म होना नही है, यह वाराणसी की धार्मिक आध्यात्मिक परिकल्पना का खत्म होना है। वाराणसी की परिकल्पना इन दोनो नदियों के अस्तित्व को ध्यान में रखकर ही किया गया है। वरुणा और असि का खत्म होना वाराणसी के नाम पर भी पुर्नविचार को चीखेगा और इसके जिम्मेवार कहीं ना कहीं हम भी होंगी।

फिलहाल वाराणसी (वरुणा और असि) का मर्म समझने वाला कोई दिख नही रहा, जिससे इनकी व्यथा सुनाई जा सके, स्वतः तो संज्ञान मे लेने का प्रश्न ही नही उठता। प्रधानमंत्री का संसदीय क्षेत्र होने के नाते कुछ उम्मीद अभी कायम है अन्यथा स्थानीय जनप्रतिनिधि तो इस संबन्ध में बात करना भी मुनासिब नही समझते। स्वयं प्रधानमंत्री इन दोनों नदियों के रास्ते कई बार गुजर चुके हैं लेकिन अभी तक उन्हें भी इनके मर्म का एहसास नही हुआ है। अब जब इन नदियों के अस्तित्व पर ही संकट के काले बादल छाये है तो जल्द से जल्द इस सन्दर्भ में एक जनजागरण अभियान चलाने की जरूरत है, नही तो वरुणा और असि कुछ वर्षो बाद किस्से कहानियों में ही सुनने को मिलेगें।

संदर्भ

1. डॉ. मोतीचन्द्रः 'काशी का इतिहास', विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी तृतीय संस्करण, 2003, पृ0 11
2. वहीं, पृष्ठ 302

MAHADEO GOVIND RANADE AS AN ECONOMIC THINKER

- *Dr. Parul Jain*

Assistant Professor
Department of Economics,
DAV PG College, Varanasi,
Email: ms_parulj@rediffmail.com

INTRODUCTION

During the latter half of 19th century, the economic and social life of India underwent far reaching changes under the impact of political administration, educational system and economic policies of British in India. The changed economic and political conditions resulted in development of new line of thinking in the country. The factors which influenced the 19th century economic thought were growing poverty, rise in Indian nationalism, etc. Amongst many great thinkers like Dadabhai Naroji, Gopal Krishna Gokhale,R.C. Dutt, one was Mahadeo Govind Ranade who got influenced by these factors and his ideas have proved to be turning stone of the time.

Mahadeo Govind Ranade, born on January18, 1842, studied economics in Bombay in 1864 and was appointed judge of Kolhapur residence in 1867. He was appointed judge of Bombay High Court in 1893. Till his death in 1901, Ranade was closely associated with Indian National Congress. Ranade, the Father of Western Renaissance in India, as he was popularly called, was a Justice by profession. He advocated a separate trade and fiscal policy for India in his 'Essays on Indian Political Economy' (1898) and 'The Rise of the Maratha Power' (1900). He was a distinguished Indian scholar, a social reformer and a great author. As a judge he excersied his powers for promotion of equality of sexes, spread of education, rescuing children and widows from social injustices and protection of agricultural

workers. The path followed by him for attainment of freedom and bringing in social reforms were constitutional and through a legal framework. He was considered as a great historian who played a vital role in modernization of India economy. A deep look into the economic ideas of Ranade , reveals five important contributions among others made by him in the field of economics which hold no second to any other contributions in the field. He wrote Essays on Economics during 1890-93. He criticized classical economists like Adam Smith, David Ricardo, James Mill, etc for their ideas of free economy because , in his view, these did not apply to all economies. The contributions of Ranade relate to :

1. Methods of Economics
2. Rule of State
3. Economic Education
4. Economic Development and Industrialization
5. Poverty

1. METHODS OF ECONOMICS

After studying the economic systems of various European countries, Ranade arrived at the conclusion that the best method that needs to be adopted was inductive. In his words, **"The method to be followed is not the deductive but the historical method which takes into account the past in its forecast of the future; relativity and not absoluteness, characterizes the conclusion of the economic science".**

While the universal application of economic laws on the basis of assumptions was believed by other economist like Adam Smith, David Ricardo, Malthus, James Mill, etc, Mahadeo Ranade showed his belief in the relativity. According to him, the ideas believed and practiced by others are only applicable to a static society . He further said that traditional assumptions for economic theory can hold true in a country like England. However, as far as India was considered, where family and caste as an institution prove to have a dominant role to play than individual in determining the economic position, the set of assumptions and generalizations of economic laws practiced in the west cannot hold true. He suggested that the importance of theory and practice should be at par and are parallel to each other when studied.

2. RULE OF STATE

With the object of establishing a welfare State ,Ranade conceived of a planned India. However, he never stated this in clear terms. He tried to impress upon the people , the urgency of plan for economic development of national economy in which state was to play an important role. It was the duty of the state to direct and channelize the activities of individual and institutions towards a well determined role. For taking care of national needs in almost all matters in which individual and cooperative efforts are most likely to be effective and economical as national efforts, the State was now considered as the national organ. He advocated that the State should act as representative of the public in a way as to maximize their welfare.

3. ECONOMIC EDUCATION

The knowledge of Economics helps

people make sound choices. It goes far beyond only understanding the basic economic concepts. It helps to develop individuals as more rational well being and contribute towards growth and enhancement of nation in terms of GDP growth, per capita growth , etc. Thus, to promote the wealth of a nation, the role of economic education

was emphasized by Ranade. He said, " **Nation's economic education is of far more important than present gain of its individual members, as represented by the quantity of wealth measured by its value in exchange. In a sound and normal condition all the three departments of national activity must be fully developed. Commerce and manufacturers are, if possible , more vital in their bearing on education, on intelligence and skill and enterprise of the nation than agriculture."**

4. ECONOMIC DEVELOPMENT AND INDUSTRIALIZATION

Economic Development is the development of economic wealth of countries, regions or communities for the well being of their inhabitants. Thus, economic development is a much broader concept. Its meaning not only envisages improvements in qualitative but quantitative as well . It is improvement in quality of life which is of utmost importnace. Thus, Ranade considered development as a complex phenomenon and it had many interrelated causes. Development ,according Ranade ,depended upon economic, social and political institutions. It is a process by which a nation improves the economic, political and social well being of its people.

Ranade held the view that any nation could develop only when there is simultaneous development of agriculture, industry and commerce. He advocated that industrialization would be successful only when there is protective market for goods produced by industries and there was need to develop new industries and such industries should have protection from the State. This will help in reducing unemployment. But, Ranade despite granting importance to industries , also laid great reliance on agriculture.

5. POVERTY

According to Ranade, the chief cause of India's poverty was the predominance of agriculturally backward industries, paucity of capital and defective land policy. He did not accept the view of Dadabhai Naroji which held the view that the then existing poverty was the direct result of the British rule in India. According to Naroji , cost of living was Rs.34 per head but income was only Rs.20 per head. The main reason for such a state of affairs was exhaustion of India's previous wealth and excessive expenditure on European services and public debt . Naroji called it as a continuous drain on the economy of the country.

However, Ranade believed that mass poverty in India existed even before British rule and that the chief cause responsible for poverty in India was agricultural economy of the country. The situation could be improved in India if Indian industries were protected and entrepreneurs were encouraged to start a

new enterprise. He was convinced that industrialization was the only way out for India's developemnt. He argued upon the government to pursue a positive policy for industrial development by protecting home industries.

Ranade further suggested that the land policy should be framed in such a way as to serve the interest of cultivators in land. This would be possible only by fixing the share of farmers. Ranade further suggested that the utilization of indigenous resources should be done in the production of commodities required for stores departments in factories run by State.

CONCLUSION

From the aforesaid discussion it is evident that at different levels of discussions on the problems of India economy, Ranade raised the different concerns about the Indian economy. His ideas were, in many respects, different from his other contemporary thinkers and were more practical and realistic. Hence, Ranade occupies a significant place in the history of economic thought. Taking the economic problems to national context, he advocated to make the economic education not only more meaningful but realistic also. He was responsible for giving wide currency to the concept of welfare state and organic unity of the State. According to him if revival is impossible, reformation is the only alternative open to sensible people. His advocacy of development at multifold level helped and paved a way for eradication of poverty to a great extent. In the words of Prof. Karve, Ranade was, “a great man, a fervent patriot, a religious reformer, a leader of thought, a guide of men, an able historian and an eminent economist”. Hence, Ranade occupies a pride of place among many Indian economic thinkers. Had his ideas been implemented , the progress of Indian economy would have been faster than what it was during the British rule. In short, Ranade can be said to be the architect of Indian economic thought.

SELECTED REFERENCES

1. Hajela T.N, Hsitory of Economic Thought
2. Dasgupta Ajit, A History of Economic Thought
3. Tyagi. B.P, History of Economic Thought
4. Jain. R.S, Aarthik Vichar Dharayen
5. Jhingan. M.L, Girija.M & Shashikala L, History of Economic Thought

IMPORTANCE OF RELATIONSHIPS FOR DEVELOPMENT OF CHILDREN AND YOUNG PEOPLE

- Dr. Satya Gopal Jee

Associate Professor & Head,
Department of Psychology,
DAV PG College, VNS.

As social beings, the capacity to form and maintain relationships is essential to us and how we function within society. It is a key component to being mentally healthy, and having a positive sense of wellbeing. This is true for children and young people of all ages, from the very early years through to the teenage years. The first two years of a baby's life are crucial to their development and future mental health and wellbeing. The brain is developing and it is at its most adaptable during these early years of life. So how we interact with the child can be critical for their healthy development.

Quality of relationship

Parents and carers will have a relationship with their child, but it is the quality of the relationship that is important. A consistent and sensitive relationship is needed, to ensure that babies form a secure attachment or bond with their parents. There is lots written about attachment theory elsewhere, but the gist of it from a psychological perspective is, that it is about how babies use their relationships with their main carer to set-up an expectation about themselves and their relationships with others.

A securely attached child will learn that their parents/carer will comfort them when they are distressed, and they will develop a sense that they are worthy of being consoled and loved. This is essential for healthy development in the child, and will set them up for a good start in life. Children who are securely attached are better able to manage their own feelings and behaviours and better able to relate to others. This gets babies off to a good start in terms of their social development as well. As children grow up,

their ability to form and sustain relationships – be that with peers, parents, teachers etc. is crucial. Most children will naturally acquire these skills as they develop. However, there are some children who, for various reasons need some help with this. There are various social and emotional learning programmes that work in or with schools, and can help with various things including how people get on with each other. There is some evidence to indicate that these programmes are very helpful both in terms of social and emotional learning, but they also can improve attainment as well.

Support our vital work with children, young people and families

The important thing to emphasis here is that whilst these programmes are evidence based, they need to be implemented properly to achieve these positive results. The Children and Young People's Mental Health Coalition advocates that these programmes promoting social and emotional learning are set within a whole-school approach to promoting mental health and wellbeing

Difficulties forming relationships

We know that there are some children who may have particular problems forming relationships. This may include children with a learning disability, autism spectrum disorders and so on. Whilst they have particular needs, it doesn't mean that they can't form relationships. But people around them need to give more consideration to how they can help them build relationships. Building a 'Circle of Friends' around the person can be very helpful – and can be used with adults as well as children. Often people don't know how to engage with someone with a learning disability. So Circles of Friends is a useful tool to help create this support network around the person. This is enormously important regarding their mental health as about 36% of children with a learning disability live with a mental health problem.

The impact of poor relationships

Children's relationships with their parents, siblings and wider family, and then of course their peers and other adults such as teachers are incredibly important. Whilst they can have a very positive impact on our mental health and wellbeing, when they aren't good they can have a very negative impact on us. For instance poor relationships both within families and peers are a common trigger for self-harming behaviours. We know that other issues such as bullying, or relationships difficulties between parents 'can have an extremely negative impact on the childs mental health.

Relationships within families can become difficult when the child (or adult for that matter) is ill. A stressful thing for any family is when their child is seriously ill, and this is possibly even worse when a child has mental health problems. Your child being seriously ill is bad enough, but the sad reality for many children and young people with serious mental health problems is that when they need to be admitted to hospital, they often have to travel miles, sometimes across the other side of the country, to find a bed. Being in hospital as a child is awful, but if you are miles away from your family, which many are, it can be horrendous.

While young people will no doubt form relationships with their peers on the wards, and hopefully with practitioners as well; it is a time when they need those strong and secure relationships that families and good friends

can provide. If your child is miles away, it is very difficult to provide this support on a day-to-day basis. If you as a parent are stressed, this will impact on the rest of the family and your relationship with them.

Relationships are important on so many levels, and across the life course. But, if we can make sure that babies, children and young people are able to form and maintain positive relationships in ways that make sense to them, then this will help get them off to a good start in life and support their mental development. This is important for children and young people themselves, but also their families, friends and the communities they live in.

Why Personal Relationships are Important?

Healthy relationships are a vital component of health and wellbeing. There is compelling evidence that strong relationships contribute to a long, healthy, and happy life. Conversely, the health risks from being alone or isolated in one's life are comparable to the risks associated with cigarette smoking, blood pressure, and obesity. Research shows that healthy relationships can help you:

1. Live longer

A review of 148 studies found that people with strong social relationships are 50% less likely to die prematurely. Similarly, research calculates that committing to a life partner can add 3 years to life expectancy.

2. Deal with stress

The support offered by a caring friend can provide a buffer against the effects of stress. In a study of over 100 people, researchers found that people who completed a stressful task experienced a faster recovery when they were reminded of people with whom they had strong relationships. (Those who were reminded of stressful relationships, on the other hand, experienced even more stress and higher blood pressure.)

3. Be healthier

Research indicates that strong relationships contribute to health at any age. According to research by psychologist, college students who reported having strong relationships were half as likely to catch a common cold when exposed to the virus, while other study with older adults found that loneliness is a significant predictor of poor health. More generally, researchers found that people who feel they have friends and families to count on are generally more satisfied with their personal health than people who feel isolated.

4. Feel richer

A survey found that doubling your group of friends has the same effect on your wellbeing as a 50% increase in income. On the other hand, low social support is linked to a number of health consequences, such as: Depression. Loneliness has long been commonly associated with depression, and now research is backing this correlation up: a study of cancer patients found that those with fewer satisfying social connections experienced higher levels of depression, pain, and fatigue. The study also found a correlation between loneliness and immune system deregulation, meaning that a lack of social connections can increase your chances of becoming sick. Researchers who studied a group of 229 adults over five years found that loneliness could predict higher blood pressure even years later, indicating that the effects of isolation have long-lasting consequences.

NEW HISTORICISM AND SHAKESPEARE'S *HAMLET*

- Dr. Indrajeet Mishra

Assistant Professor,
Department of English,
DAV PG College, Varanasi

New Historicism is an open ended strategy to expose the fallibilities and manipulation of written discourses. Stephen Greenblatt's thesis is that texts are conduits for culturally generated ideas. Text is not an isolated product of author's genius rather it incorporates particular socio, political and cultural forces and these cultural forces are regarded as textual construct. Every reader being a product of different age is trapped in his/her ideological upbringing to understand the past hence, experiences of the readers cannot be homogenized. In the present paper I have tried to interpret William Shakespeare's *Hamlet* from new historicist perspective. Greenblatt in his essay "Towards a Poetics of Culture" begins his essay by pointing out that he will not attempt to define new historicism rather it is to "situate as practice"(1) which distinguishes it from the "positivist historical scholarship" of twentieth century. He urges to move beyond literary criticism's familiar terminology for treating the "relationship between art and society, allusion, symbolism, allegory, representation and mimesis".(6) Greenblatt thereby is able to show in his *Renaissance Self Fashioning* that the works of William Shakespeare have occupied central position in the western canon are not the products of his individual genius only but it can be intimately connected with the other documents, histories, ideologies and religious communities of his time. Similar to Greenblatt, Louis Montrose has given idea of 'equal weighting' which disrupts the dichotomy of literary foregrounding and historical back-grounding. He considers non literary text and literary text two equally important tools of study to inform and interrogate each other. Further in his essay "The Poetics and Politics of Culture" he emphasizes the reciprocal relationship of 'text and history' as well as relative autonomy of

specific discourses. To quote Montose:

> …to speak of the social production of 'literature' or of any particular text is to signify not only that it is socially produced but also that it is socially productive-that it is the product of work and that it performs work in the process of being written, enacted or read. Recent theories of textuality have argued persuasively that the referent of a linguistic sign cannot be fixed; that the meaning of a text cannot be stabilized. At the same time writing and reading are always socially and historically determinate events, performed in the world and upon the world by gendered individual and collective human agents. We may simultaneously acknowledge the theoretical indeterminacy of the signifying process and the historical specificity of discursive practices- acts of speaking, writing and interpreting. The project of new socio-historical criticism is, then, to analyze the interplay of culture specific discursive practices-mindful that it, too is such a practice and so participates in the interplay it seeks to analyze. By such means versions of the Real, of History are instantiated, deployed reproduced; and by such means, they may also be appropriated, contested, transformed (23).

Hamlet is written between 1599 and 1602. It is a tragedy that contains such interesting elements as revenge, madness, betrayal in love, usurpation of throne, inaction etc. The central issues that Shakespeare has endeavored to exhibit in this play are - unpredictability and unintelligibility related to human life, the very question of human existence, working of providence, soul's ultimate journey to either heaven or hell, significance of conscience, human dilemma and moral order. Time and again Shakespeare displays almost all the major beliefs prevalent in his time. He seems giving sanction to Catholicism, Protestantism, determinism, alongside he depicts through his characters a very strong urge for power and materialism. His advocacy to truth, honesty, filial love, sense of duty, exercise of free will is laudable. The bottom-line of the play is to unveil the multi-layered complexities related to human existence. Shakespeare in his own way succeeds in bringing about his thesis that there are more things in Heaven and earth that our philosophies can unravel.

The central problem depicted in the play is usurpation of power by Claudius from his brother, senior Hamlet, and hasty re-marriage of the queen Gertrude with the usurper. The revelation of the Ghost to Hamlet that, "the serpent that did sting thy father life/ Now where his crown" (Act I Scene V, 27-28) is the beautiful explication of unfair means that Claudius adopted in killing his brother solely for the sake of power. The deceitful acts for becoming powerful was one of the features common to the Elizabethan society where it was believed that if there was any ambition worth it was to rule. We can find same renaissance hunger for power in another most celebrated play *Doctor Faustus* by Marlowe when Faustus sells his soul to Mephistopheles and says:

> Had I as many souls as there be stars,
> I'd give them all for Mephistopheles.
> By him I'll be great emperor of the world,
> And make a bridge through moving air
> To pass the ocean with a band of men;
> I'll join the hills that bins the Afric shore
> And make that country continent to Spain,
> And both contributory to my crown. (85)

In the play *Macbeth* when Macbeth contemplates the murder of Duncan he

expresses that this act will be the "be all and end all of his life".

Shakespeare being an accomplished artist had acute understanding of the psychology of the people of his time. He very deftly uses the superstitious beliefs of the people in his plays. Ghosts and witches reigns supremely in the minds of the Elizabethan audience hence, the play begins with the apparition of the Ghost of late king of Denmark. It incites and instigates the audience to know the whereabouts of the ghost. As it appears to the guards, Bernardo and Marcelous, they inform about it to Horatio and later on to Hamlet. Having given to understand the apparition of his father's ghost Hamlet shows whole heartedly devotion to the pursual because he was not convinced by the explanation given to him pertaining his father's death by serpent bite. He immediately agrees to the ghost thinking that it will definitely prove of some help to him because it has appeared in the form of his father. As he encounters the Ghost:

> Angels and ministers of grace defend us
> Be thou a spirit of health or goblin damn'd
> Bring with thee airs from heaven or blasts from hell,
> Be thy intents wicked or charitable,
> Thou comest in such a questionable shape,
> That I will speak to thee : I will call thee Hamlet
> King, father, royal Dane" (Act I Scene IV, 24)

The exclamation of the prince on encountering the ghost represents the common belief of contemporary people and thus provides an insight regarding the cultural milieu. While Hamlet waits along with Horatio and others for the apparition of the ghost he comments remarkably about the wrong custom of Denmark's royalty. He makes an observation about the drinking habit and revelry practised in the court of Denmark and states that this practice has been responsible for defaming them all over the world despite all their glorious achievement as rulers. This is an occasion for Shakespeare to comment not only the mall practices of the Denmark's royalty but the royal courts in general. In connection to this he gives very significant view that hundred of good quality of a person can covered behind one weakness:

> The king doth wake to-night and takes his rouse,
> Keeps wassail, and the swaggering up-spring reels;
> And, as he drains his draughts of Rhenish down,
> The kettle- drum and trumpet thus bray out (Act I Scene IV, 23)

In Hamlet, it is important to note that Elizabethans believed whole-heartedly in the supernatural elements. The Ghost in Hamlet would have captivated the audience; it reflects the influence of culture within the text. If we will further magnify the portrayal of the ghost through the lens of New Historicism, we will find that the ghost of the former king is wearing a full armor dress, it gives an impression that he is about to set out for a battle. It reflects the culturally charged purpose of the author to present the king as a brave and gallant warrior. Shakespeare presents the ghost in this manner to quench the socio-cultural appetite of Elizabethan audience. From a new historicist point of view, it can be interpreted that the Elizabethan audience wanted to see their king as a warrior even after his death.

Even some very minute details in the play are culturally motivated. For an example, in Act I Scene I, when the ghost appears for the

second time; we come across a very petty information written as – "The Cock crows." Suddenly, after this information the ghost disappears from the scene. From a New Historicist point of view, it has happened because there was a belief in Elizabethan people that crowing of a cock awakes the God of day and at his warning the extravagant and erring spirits rush off to their abodes.

Hamlet has begotten self-contempt owing to the hasty remarriage of his mother to Claudius that he regards as incest. He understands that this action is an example of gross sensuality lacking all the fidelity and rationality of a wife to her very loyal, able and loving husband. He feels that even animal would have waited longer. Consequently he develops misogynist approach and says "…Frailty, thy name is woman". Here his objection to the behavior of his mother is quite understandable. Nevertheless, patriarchal hegemonic idea to look down upon woman and level her with such generalization is undoubtedly a direct outcome of cultural construction. Needless to mention the inferiority and otherness attached to womanhood in the Elizabethan society. It's not only a case of mother's denunciation by Hamlet but also of his beloved whom he loves so deeply but as soon as he senses that she is siding with her father he grows cynical and hysterical towards her:

> Get thee to a nunnery,
> Go: farewell. Or, if thou wilt needs marry, marry a fool:
> for wise men know well enough what monsters you make
> of them. To a nunnery go; and quickly too. Farewell (Act III Scene I, 62).

In connection to the plot these statements of Hamlet for his mother and beloved might be defended but a close study of the statements does bring the prejudices of the patriarchal society on surface. The debatable point is that even in the state of intense and genuine anger such tirades and derogatory remarks have their origin in society and culture. Such views were prevalent among the people of the society. Hence the author's textual imagination unknowingly reflects socio-cultural construction of his time.

In a New Historic evaluation, it is important to note that Hamlet's madness leads him to paranoia, revenge, and murder. In Shakespeare's era, madness was defined as "internalization of disobedience". Using this definition, it can be interpreted that Hamlet feels blameworthy that he has disobeyed his father by taking an extended period of time to avenge his death. Elizabethans believed that kings and queens were chosen by God. Therefore, it was a mortal sin to kill a king. Hamlet's struggle as to whether to kill Claudius is based on this presumption. If the ghost's information is not true, Hamlet could lose his soul to eternal damnation. Hamlet is in a constant dilemma and meditation which delay his action and lead him to madness.

Michel Foucault, a French philosopher has seminal impact on New Historicism. He questions the concept of authorship. Foucault believes that a literary text's interpretation could not be restricted to the psychology and background of author rather the larger cultural construct is to be considered. Foucault states to bring into being the opposite forces and hierarchies because a text is both product and propagator of 'Power'. He rejects conventional notion of 'Power' that is based on 'Juridico- discursive' model. Power is not name of an institution and it has not physical force. It embraces everything because it comes from everywhere. Power is constituted by accepted knowledge and understanding. Analyzing the nature of Power

in the form of Panoptic Surveillance defines the normalcy. System of Panoptic Surveillance no longer required force or violence, as people learned to discipline themselves and behave in expected ways. It is the Power of Panoptic Surveillance of Divinity which instills the sense of guilt consciousness in a sinner like Claudius. It is the feeling of being watched by God which drives the soul of Claudius to confess his sin in Act 3 Scene 3. Claudius makes his confession and states:

> what if this cursed hand
> Were thicker than itself with brother's blood,
> Is there not rain enough in the sweet heaven
> To wash it white as snow?(79)

Foucauldian idea of Power of Knowledge is applicable to the character of Hamlet which hinders him everywhere and becomes the very reason behind his procrastination. Hamlet has a good knowledge and understanding of cultural and ethical values of his society that makes him a profound meditator. Throughout the play Hamlet is a pondering figure whose philosophies and thoughts check his action. He has also made a confession in Act 3 Scene 1, that his conscience affects his behavior. He states:

> The undiscovere'd country, from who bourn
> No traveler returns, puzzles the will,
> And makes us rather bear those ills we have
> Than fly to others that we know not of?
> Thus conscience does make cowards of us all (61).

It is the Power of Panoptic Surveillance of his ethical understanding in Act 3 Scene 3, when he refuses to kill Claudius because he is at prayer. And it was an ethical belief of Elizabethans that if someone would be killed during prayer his/her soul would go to Heaven. But Hamlet does not want that the soul of Claudius should be gone to Heaven that is why he deters himself from the act of killing Caudius. From the New Historicist point of view, it reflects the power of cultural and ethical understanding of Hamlet which makes him inactive.

The play consists of historical content that can open up cultural studies. The major themes for exploration in the light of New Historicism are addressed above as monarchy, supernatural element, culture, womanhood and madness. These themes are linked to their historical and social framework during the Elizabethan era in which Hamlet was written. In order to comprehend the implications and relevance of the play, one needs to be aware of the historical context of the text.

Works Cited

Greenlatt, Stephen. "Towards a Poetics of Culture" in *The New Historicism*. Ed. H. Aram Vesser. New York London: Roultledge, Pp, 1-14.

Marlowe, Christopher. *Dr. Faustus*. Ed. Kitty Dutta. New Delhi: Oxford University Press, 2010, Reprint.

Montrose A., Louis. " The Poetics and Politics of Culture" in *The New Historicism*. Ed. H. Aram Vesser. New York London: Roultledge, Pp,15-36.

Shakespeare, William. *Hamlet*. Ed. A. W. Verity. Delhi: Surjeet Publications, 2009, Reprint.

----------------*Macbeth*. Ed. A. W. Verity. Delhi: Surjeet Publications, 2009, Reprint.

POSSIBLE IMPACT OF UNION BUDGET ON THE INDIAN STOCK MARKETS

- Anand Singh

Assistant Professor,
Department of Commerce,
DAV PG College, Varanasi,
Email-meet2anandbhu@gmail.com

Abstract

The budget has traditionally been an important part of the financial year, with the government announcing exactly what it wants to do for the next year, and how it has succeeded grandly at what it said it wanted to do last year.The political events in any country can have various forms such as announcement of new policies by the government, national level election, state elections, budgets, etc. But we can say, as such, there's no clear relationship between political events and stock market. Only in few cases as 16th Lok Sabha election, Haryana and Maharashtra Legislative Assembly election, and Delhi Legislative Assembly election. When there was an expectation of change of nation's vision by change of leadership only in that instance we can link stock market movement to election as Narendra Modi is a pro-industry pro-development leader. In all other cases the market shows random relation to political events. Lok Sabha Elections 2014 has been found to be the most influential event and its impact on stock market lasted for long period of time, the reason being its result has a profound impact on policies of India for upcoming five years. State elections have its influence on Nifty index for only few days.

The real impact upon the stock markets can be seen after going through the budget proposals thoroughly and after the reaction of the business houses and chambers of commerce. But the proposals of budget would show no impact on the stocks of information technology.

Key Words: *Stock Markets, NIFTY, BSE, SENSEX, NSE, Inflation etc.*

The budget has traditionally been an important part of the financial year, with the government announcing exactly what it wants to do for the next year, and how it has succeeded grandly at what it said it wanted to do last year. A Budget is the government's statement of policy for the next financial year. Yes, budget announcements do affect the stock prices of those companies who will be impacted favourably or otherwise by the proposed changes in the policies. You will see lot of volatility in stock prices in the run up to the budget.The stock market of a country is said to act as a barometer of its economic health.

All economic activities happening in the country and outside the country lead to a change in the market conditions. Different market players who invest their money in stocks are not only interested to know about the rise and fall in the stock market, they are keen to know about the various economic events / activities that are going to take place in the near future. The stock market reacts depending on how the investors interpret the economic activities. The Union Budget is perhaps the most watched event in economic policy making in India.

The core fiscal issues - taxation, expenditures, and the fiscal deficit - are obviously important for macroeconomics. In addition, governments have often chosen to use the Budget speech as a mechanism for announcing important new policy initiatives, and for outlining some plans for economic policy in the coming months. The stock market response to a Budget is often viewed as an important summary statistic of the 'quality' of a Budget in terms of improving the macroeconomic prospects.

Well, at least that is what it seemed like, but now people are worried about the impacts of the latest Budget on inflation and an economy coming out of the recession. While it is true that the recession never hit India that hard to begin with, some serious impacts on jobs and other economic data cannot be denied.It's going to be one of those years where we will at times fall a lot and we are going to go through that particular period for the next few months and then if one or two things go right, it should fairly easily pick up from there and ride about 50-60% from the bottomed. Add the budgetary impacts to that, and things do not seem to be very promising.Part of the budget is an economic survey that gives you lots of figures on government spending and income, and the remaining part is the budget speech which tells you what they intend to do in the coming year.

Before 2000, budgets were presented at 5PM - a hangover from the British era when the Indian budget was presented to coincide with the markets in England. Yashwant Sinha changed this and our markets have been blessed with massive budget moves ever since.Since 2000, the average budget day move is -1.22% in the last 10 years,with the wildest swing being 5% either side. Only on two occasions have there been moves of less than 1%.The roll from the budget day to one week after is an indication that what people have finally digested information and there are clarifications issued - are interesting. While the average and median moves are small, that is because the swings are wild in either direction - in effect moves are more than 1% every single time, and bar 2004, more than 2%.

In 2002, when the swings were really wild, Yashwant Sinha had rolled back five proposals. The budget day saw a 4% fall, and the subsequent week, a 10% rise in the index.Stock markets tend to react violently around the budget. Listed companies, either directly or indirectly gets benefit or get hurt by provisions of the budget. Following is a bar graph showing how stock markets on budget day itself move violently - the change from the previous day to the next:Another way to look at markets is to see where markets go from one month before the budget to after.

At times near a budget, it seems like there isn't a trade that markets don't trend or revert, around half of the graphs show a trend, the rest don't. But as options traders, one can take on a straddle, strangle or butterfly (buying/selling both put and call options). But you will note that these options get really expensive near the budget, because people like me have done the analysis of the past and pushed up options prices through buying. As India is increasing its spending on Infrastructure, Infra companies are going to get benefited from it.

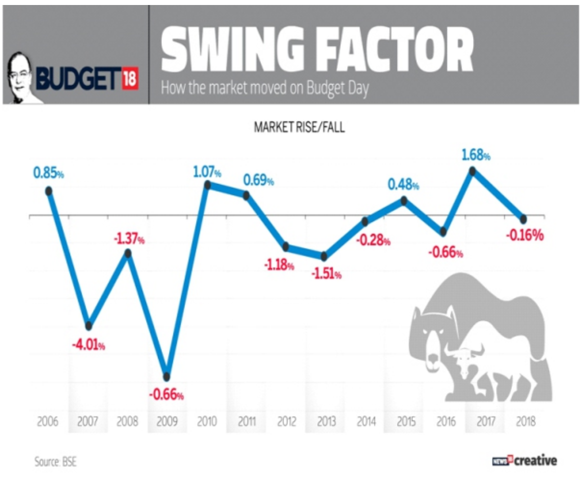

Government spending impacts infrastructure, so stocks of companies belonging to sectors such as Reality, Transportation, Communication, Warehousing, Power Generation etc. & will react as the government tries to steady FDI in a year that it seems to have slows down. Better financial visibility will be a huge positive.Stock markets react differently to budgets even on an individual sector basis. For instance, the budget has never been kind to tobacco industry, so there is bound to be some under-performance in ITC. The Tech sector benefits from anything that involves lower direct taxes, subsidies to semi-govt. companies etc. and we saw a massive rise in these stocks through the early part of the last few years, just after the budget, as taxes were slashed and flattened.

3G auctions gave a big fillip to revenues this year, and so did public sector IPOs. But the next year may not yield that much in terms of benefit - most of the IPOs sold are today quoting below their IPO prices, with the extreme example of NHPC being about 30% lesser.With a few FPOs being lined up to raise funds such as ONGC, PFC etc, and the budget may prove to be a big plus for the Infra stocks. Overall, this isn't meant to be a great budget in terms of announcements: it's mid-term, there aren't too many elections, the main contenders of income and indirect taxes are being handled separately, and the budget is increasingly unimportant to even policy nowadays. Yet, there will be something or the other that will impact the stock you know, and with the recent drop in markets, it may be useful to position yourself in sectors that the government is likely to favour.

For a long term value investor, the budget may throw up juicy opportunities to buy excellent stocks, especially if there is a negative bias. For the traders, the market volatility will go up even further, and if you can handle the butterfliesin the stomach, there's never been a better time to be in the markets.But then there are other experts who believe that the Sensex might just manage to pull through, although they have doubts about the impending price rises that could result from the hike in prices of petrol and diesel.

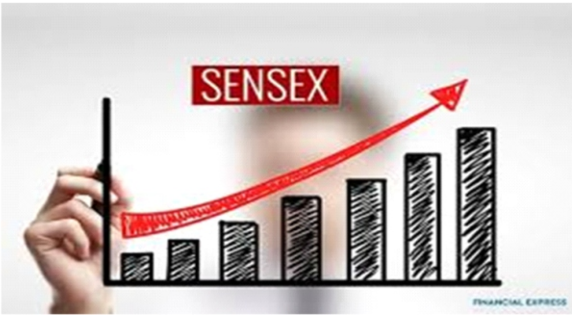

Irrespective of the proposals, the operators try to crash the market. The real impact can be seen after going through the budget proposals thoroughly and after the reaction of the business houses and chambers of commerce. But the proposals of budget would show no impact on the stocks of information technology.

REFERENCES

1. "How budget affects stock markets", Shubhneet Sethi, silicon India bologs
2. Guru A (2009) "What moves stock prices and How" NSE Newletter.
3. Booth JR, Booth LC (2003) is presidential cycle in security returns merely a reflection of business conditions? Review of Financial Economics 12: 131-159
4. Santa-Clara P, Valkanov R (2003) The presidential puzzle: political cycles and the stock market. The Journal of Finance 58: 1841-1872.
5. Nofsinger JR (2004) the stock market and political cycles. Paper presented at the Annual Meeting of the Financial Management Association, October 6-9, 2004.
6. Cutler MD, Poterba JM, Summers LH (1989) "What moves stock prices?" Journal of Portfolio Management 15: 4-12.
7. www.business-standard.com
8. www.indianjournaloffinance.co.in

FEMALE LITERARY TRADITION AND ELAINE SHOWALTER'S A LITERATURE OF THEIR OWN

- Dr. Mahima Singh

Department of English
D.A.V. P.G. College, Varanasi

Elaine Showalter traces the evolution and growth of women in literature from the Victorian Period to the Modern Age. In her book *A Literature of Their Own*, she has constructed a female literary tradition and demonstrates that the development of this tradition is similar to the development of any literary sub-culture. She deals with the lesser known writers along-with mainstream writers. Her extensive efforts have brought the dark and mute areas of women into limelight. Toril Moi, a French feminist critic who always shows a kind of aversion towards Showalter, considers her female tradition a major contribution to literary history and Feminist criticism as she emphasizes "…the rediscovery of forgotten or neglected women writers" (56).

Most of the feminists are set to challenge the representation of women in male texts and aim to eliminate all the patriarchal notions which make women doom to the inferior. In their writings Simone de Beauvoir, Mary Ellmann and Kate Millett expose the relic of women's oppression in patriarchal literature. In *The Second Sex*, Simone de Beauvoir points out:

> …man represents both the positive and the neutral, as is indicated by the common use of man to designate human beings in general; whereas woman represents only the negative, defined by limited criteria, without reciprocity (Simone 15).

Kate Millett analyses projection of women in literature and finds "the image of women as we know it is an image created by

men and fashioned to suit their needs" (Millett, *SP* 46). Male authored texts have maintained double standards in their treatment of male and female characters. Women perform only those activities by which they can keep male happy, while male has been represented as owner who distorts women by regarding them as mere sexual object. Unlike Simone de Beauvoir and Millett, Showalter proposes women's writing as the subject of study and discards to conceive women on the basis of male authored texts. She believes that women's mind and concern can never be accurately accessed in the androcentric model of writing therefore she creates female history and explores women's culture based on their experiences. The tendency of feminist readers to read distortions of women and to consider male theory and ideology as universal is disheartening.

Showalter views that men and women comprise distinct biology and therefore they widely differ to each other on the basis of their emotions, feelings and experiences. They are like two cultural poles; one cannot be defined from the view point of the other. Showalter claims that interpretation and reinterpretation of androcentric model even from "female frame of reference" (Showalter, *FCW* 247) is not an appropriate effort towards the development of feminist writings. She brings forth faults of such a trend of study, "we are not learning what women have felt and experienced, but only what men have thought women should be" (Showalter, *TFP* 130).

The innovative aspect of Showalter's notion of female is that she develops the concept of 'universal sisterhood' within female literary subcultures. She has constructed a single tradition for all the subcultures of female such as black, Jewish, Canadian, Anglo-Indian and even American because she believes that the female writers always write with the common "Physical experience" and shared "puberty, menstruation, sexual initiation, pregnancy, childbirth, and menopause- the entire female sexual life cycle" (15). Although these discussions are not overt, but all the female writers are united through internalized experiences. Therefore, women's writing and women's experiences are the "implied unities of culture" (15). Showalter divides development of female imagination into three phases which she designates as Feminine, Feminist, and Female. She points out:

> First, there is a prolonged phase of imitation of the prevailing modes of the dominant tradition, and internalization of its standards of art and its views on social roles. Second, there is a phase of protest against these standards and values, and advocacy of minority rights and values, including a demand for autonomy. Finally, there is a phase of self-discovery, a turning inward freed from some of the dependency of opposition, a search for identity (Showalter *LTO* 13)

Feminine phase dates from 1840s to the death of George Eliot in 1880s. In this period woman writers of each subculture imitate dominant literary tradition with a desire to be measured up to the male writers. To achieve

the standards of art, they begin to acknowledge classical literature and adopt male culture and male language. Women writers could have an opportunity to be an autonomous being but they perpetuate women's ignorance by exhibiting the borrowed and emulated scholarship in their work. One of the most important characteristics of this phase is male pseudonym which conflicts with their status as women and foreground patriarchal notions. However Showalter declares:

> In its radical understanding of the role-playing required by women's effort to participate in the mainstream of literary culture, the pseudonym is a strong marker of the historical shift (19).

During feminine phase women writers have tried their hands on different genres, but they have championed the field of novel. The feminine phase novelists were desperate to adopt act of writing as their profession but their will to write under the masculine disguise could never transcend the female identity, as they were not accustomed of any other vocation except womanhood. The rare development of self in feminine novels involves conflict between the feminine ideal of subordination and resistance. In *Aurora Leigh*, Elizabeth Browning describes story of the struggle of Aurora to become an artist. She battles with herself and her internalized convictions. Aurora rejects her suitor Romney's proposal to be her subordinate:

> You misconceive the question like a man
> Who sees the woman as the complement
> Of his sex merely. You forget too much.
> That every creature, female as the male,
> Stands single in responsible act and thought…
> I too have my vocation, - work to do,
> The heavens and earth have set me
> (Browning as qtd. in Showalter LTO 23).

The conflict between self-promotion and self-subordination is the significant aspect of Victorian's novel. It is one of the major themes from Charlotte Bronte to Penelope Mortimer. Feminine phase is marked by Victorian reviewers who confine themselves to the rigid moral values and ethics while judging women's writings. The double critical standard has been employed by Victorian critics to evaluate men and women authors. It does not matter how diverse feminine novelists have written, they will remain inferior: it seems they are destined to be generalized under the mute group. Showalter discerns the mindset of Victorian men,

> When the Victorians thought of the woman writer, they immediately thought of the female body and its presumed afflictions and liabilities. They did so, first, because the biological creativity of childbirth seemed to them directly to rival the aesthetic creativity of writing (Showalter, LTO 76).

Victorian men were not in favour of women's entrance in the field of literature. This phase includes women writers such as Bronte Eumls, Elizabeth Gaskell, George Eliot, Elizabeth Lynn Linton, Charlotte Bronte, and Elizabeth Browning etc. The

feeling of sisterhood connects feminists to one another and in this generation heroines are also supposed to take the place of sisters and friends. The male characters are based on woman's fantasy as man and they become the victim of women's repulsive attitude. Feminine novelists have not touched the height of female consciousness but Showalter asserts these women writers include in their novels women's perspective and concern which is obliquely and subvertly indicated in subtle ironic tone "one has to read it between the lines" (Showalter, TFP 138).

The protest phase literature has adopted various tools of attack; their fictions are full of social commentaries and it embodies in itself advocacy of minority rights and values. These writers transposed their own pain and sufferings to those of the poor, the child laborers and the prostitutes. Their demands include chastity of men towards women. The woman novelists of 1850s and 1860s brought great revolution and pushed back the traditional boundaries. They demand their rights not only in terms of language and thought but also wish to realize their existence on this globe as women. Sensational novelists like Mary Braddon, Rhoda Broughton, and Florence Marryat have employed this new freedom with dexterity in their novel as they protest against marriage and economic oppression. Although they still continue the demise of heroines like feminist's novels.

With the death of George Eliot in 1880s, Feminine aesthetics has exhausted and it makes possible the emergence of a new ideology called as 'feminist', which celebrates women's entry into the political field. During feminist phase from 1880s to 1920s, women writers violate the patriarchal order and advocate women's entry into the political consciousness. With the advent of this new consciousness, feminists became aware of occupying equality on legal terms. They challenge the higher education system which was designed especially for men. Though in their mission they are highly opposed, the exceptional male reformer attempts cannot be ignored, who move forward to join the protest of women. These social reformers, who address themselves as male, are ready to work with feminists but female feminists are rigid to make a flight from male surroundings. They oppose everything which has terms with male and draws a new concept of womanhood which demands restraining behavior of men. They reject passive attitude and non-competitive ideals allotted to women.

The new concept of womanhood makes woman completely rebellious. It does not assign any place for male oriented things. They step out the embedded patriarchal standards and values and demand autonomous female self. The writing of this period has been completely based on the theme of Amazon Utopia, which has made male world completely isolated for women. Amazon Utopia puts forward the concept of world whose resident are only women. The Amazon Utopia has provided the representative metaphor of female power: the Amazon. Independence from men and loyalty for one another are the underlying sources of

this Amazon power. As Showalter points out:

> …the Amazons were the most potent models for female autonomy and creativity, for the vision of a woman who is neither intellectually nor politically subordinate to men, and for the dream of a woman's language, art and aesthetics, fully independent from the dominant male culture"(COO 27).

The idea of female solidarity is very strong. The activity of mothering is highly venerated talk but they have repugnance for the actual process of sexual intercourse and childbirth. Feminist writers, like Lady Florence Dixie and Ellis Ethelmer in England and Charlotte Perkins Gilman in the United States, imagine a world which is ruled by women, feminist revolution and virgin births. Being too much limited to female centered story the Amazon could not survive for long. Showalter explicates their strategy to be an autonomous being is praiseworthy but they have escaped from realism and their pointed goal. They never believe in the gradual transformation of the socio- political system, instead they follow their male precursors and want to invert the hierarchy. Feminist literature has advocated separatist idea in its extremity.

On the whole, Showalter does not consider it an example of a female centered literature. She says that projects of 'feminist phase' are concerned more with message than the creation of art. Despite so many complexities and keeping hostile gesture towards manly world, their attempt to create womanhood represents an important phase in the female tradition. Through this phase female moved close to their way to self-discovery.

The 'Female Phase' before Women's Liberation Movement, a phase of "courageous self-exploration but it carries with it the double legacy of feminine self-hatred and feminist withdrawal" (Showalter, LTO 33). Dorothy Richardson, Katherine Mansfield and Virginia Woolf have worked towards female aestheticism that transposes the code of self-sacrifice into self-rejection. Though these writers have applied 'feminist' analysis of culture in their novel and developed an autonomous attitude. The female aestheticians consider creative mind and the whole world "as mystically and totally polarized by sex" (33). The female experiences and its creative process hold mystic implication. It is both transcendental and self-destructive. Dorothy Richardson, the most consistent representative of female aestheticism, develops a new consciousness in "her narrative techniques and her aesthetic theories grew out of a struggle to depersonalize and control a female identity that was potent with the promise of self-destruction" (243). Showalter denounces Woolf's androgynous vision. She says Woolf wants retreat from vicious male society and her writing lacks the experiences of a female body.

Since 1960s the female phase novelists have rejected both imitation and protest:

> …-two forms of dependency-and turn instead to female experience as

> the source of an autonomous art extending the feminist analysis of culture to the forms and technique of literature (Showalter, *TFP* 139).

The prominent novelists of this phase are Iris Murdoch, Muriel Spark, Doris Lessing, Margaret Drabble, A. S. Byatt and Beryl Bainbridge. They have incorporated the positive revolution of their predecessors in their novels with new range of language and female experiences. They set out to search independent female identity. Showalter feels this phase has enormous possibility of multifarious representation of women in different social contexts. Toril Moi harshly criticizes Showalter's notion of 'female phase' that proposes necessary search for female identity and canon formation on the basis of different female experiences. She considers this phase as to be limited to the views of woman. The main problem according to Toril Moi is not that of equality and identity, but the discourse over founding a canon. She denies conception of identity based on gender. Similarly Judith Butler, a constructionist theorist in her book Gender Trouble: Feminism and the Subversion of Identity rejects identity based on gender and sexuality. She questions the category of woman and proposes gender as "performative" (190) that is the masculine and the feminine are not biologically fixed but culturally presupposed. She keeps on interrogating the terms by which our identities are described, constituted and circumscribed.

In *A Literature of Their Own*, Showalter's intellectual activity has generated new perspectives. She has collected hundreds of woman across culture and language that resisted the domination. Showalter breaks the myth of greatness and reveals the circumstances of authors and characters in which it is imagined, published and reviewed but her effort to challenge the literary canon with her radical research on women's writings is accused for the negligence of the eighteenth century novelists by several scholars. As Janet Todd in *Feminist Literary History* protests:

> Showalter can declare that women did not think of themselves as professional writers before 1800, when there are in fact hosts of professional novelists in the eighteenth century.... In this concentration on the Victorian period and on the mode of domestic realism, as well as in its ignoring of the problem of aesthetic judgment and language, A Literature of Their Own was typical of the early phase of feminist criticism on women.... its omissions skewed the understanding of the female past and encouraged premature generalization that did duty for specific history (27).

Development of the female tradition in the literary milieu by Elaine Showalter has opened a novel path to the lesser known women writers. It is lauded as a creative and progressive step in feminist criticism as it tries to subvert the established imbalances in our literary and social culture. It is through her female tradition that Showalter explores relationship between individual female talent

and literary tradition. This theoretical paradigm provides a concrete criterion to judge or evaluate women's writing. Her categories are assimilable within the boundaries of a female textuality. Thus, Showalter's female tradition enjoys immense popularity across the territory of west and east. To touch the zenith of Showalter's 'female' consciousness, women writers are not reluctant in moving on from the given conditions in their writings. They encounter such a movement which calls for the liberation of women from the age-old clutches of servility.

Works Cited

1. Beauvoir, Simone De. *The Second Sex*. Trans. & Ed. H.M.Parshley. New York : Vintage Books, 1997.
2. Millett, Kate. *Sexual Politics*. New York: Doubleday and Company Inc, 1970.
   Moi, Toril. *Sexual/ Textual Politics: Feminist Literary Theory*. London: Routledge, 1988.
3. Showalter, Elaine. *A Criticism of Our Own: Autonomy and Assimilation in Afro-American and Feminist Literary Theory*. Princeton, NJ: Princeton University Press, 1986.
4. _____"Feminist Criticism in the Wilderness". *The New Feminist Criticism: Essays on Women, Literature and Theory* Ed. Elaine Showalter. New York: Pantheon Books, 1985, p.243-270.
5. ---. *A Literature of Their Own: British Women Novelists from Bronte to Lessing.* Princeton, N.J.: Princeton University Press, 1977.
6. ---. "Toward a Feminist Poetics". *The New Feminist Criticism: Essays on Women, Literature and Theory* Ed. Elaine Showalter. New York: Pantheon Books, 1985, p.125-143.
7. Todd, Janet. *Feminist Literary History*. New York: Routledge, 1988.

धरोहर :

काकोरी के वीरों से परिचय

—सरदार भगत सिंह

*(9 अगस्त, 1925 को शहीद रामप्रसाद बिस्मल, अशफाक उल्ला खाँ और उनके अन्य क्रांतिकारी साथियों ने क्रांतिकारी पार्टी के लिए पैसा इकट्ठा करने के विचार से लखनऊ के निकट काकोरी में रेलगाड़ी रोक कर सरकारी खजाना लूटा। इसके बाद चन्द्रशेखर आजाद के अलावा बाकी सभी क्रांतिकारी पकड़े गये। भगतसिंह भी तब कानपुर निवास के समय हिन्दुस्तान रिपब्लिकन पार्टी में भर्ती हो गये थे। उनके अपने शब्दों में, 'फिर सारी जिम्मेदारी अपने कंधे पर उठाने का समय आया।' भगतसिंह ने 'विद्रोही' नाम से मई, 1927 में एक लेख **'काकोरी के वीरों से परिचय'** शीर्षक से पंजाबी पत्रिका 'किरती' में छपवाया था। जिसके छपते ही भगतसिंह को गिरफ्तार कर लिया गया। चारपाई पर हथकड़ी लगे बैठे भगतसिंह का प्रसिद्ध चित्र इसी गिरफ्तारी के समय लिया गया था। भगतसिंह का वह लेख यहाँ दिया जा रहा है। सं.)*

9 अगस्त, 1925 को छोटे-से स्टेशन काकोरी से एक पैसेंजर ट्रेन चली। यह स्टेशन लखनऊ से 13 किमी. की दूरी पर है। ट्रेन 2-3 किमी चली। थर्ड क्लास में बैठे तीन नौजवानों ने गाड़ी रोक ली और दूसरों ने मिलकर गाड़ी में जा रही सरकारी खजाना लूट लिया। उन्होंने पहले ही जोर से आवाज देकर यात्रियों को समझा दिया था कि वे डरे नहीं, क्योंकि उनका उद्देश्य यात्रियों को तंग करना नहीं, सिर्फ सरकारी खजाना लूटने का है। खैर, वे गोलियां चलाते रहे। इसी दौरान कोई एक यात्री गाड़ी से उतर पड़ा और गोली लग जाने से मर गया।

सी.आई.डी. अधिकारी हार्टन इसकी जाँच में लगा। उसे पहले से ही यकीन को गया था कि डाका क्रांतिकारी जत्थे का काम है। उसने सभी संदिग्ध व्यक्तियों की छान-बीन शुरू कर दी। इतने में क्रांतिकारी जत्थे की राज्य परिषद की एक बैठक मेरठ में होनी तय हुई। सरकार को इसका पता चल गया। वहाँ खूब छानबीन की गयी। फिर सितम्बर के अंत में हार्टन ने गिरफ्तारियों के वारंट जारी किये और 26 सितम्बर को बहुत सी तलाशियाँ ली गयीं और बहुत से व्यक्ति पकड़ लिए गये। जो लोग लाहिड़ी दक्षिणेश्वर बम केस में पकड़े गये और वहीं उन्हें दस वर्ष की कैद हो गयी और श्री अशफाप उल्ला तथा शचीन्द्र बख्शी बाद में पकड़े गये, जिन पर अलग मुकदमा चला।

जज के फैसले से यह पता चलता है कि असहयोग आंदोलन दब जाने से देशभक्त युवकों का शांति पर विश्वास उठ गया और उन्होंने 'युगान्तर' दल स्थापित किया। श्री जोगेशचन्द्र चट्टोपाद्याय बंगाल से दल का संगठन बनाने यू.पी. आये और पक्का काम कर सितम्बर, 1924 में लौट गये। उस समय बंगाल में आर्डिनेंस पास हो चुका था और आप लौटते ही हाबड़ा पुल पर पकड़े गये। तलाशी लेने पर आपकी जेब से एक कागज मिला, जिस पर यू.पी. की राज्य परिषद की किसी बैठक का और यू.पी. में अपने दल के संगठन का साल लिखा हुआ था। खैर, फिर काम चल पड़ा और काम चलाने की खातिर कई डकैतियाँ भी की गयीं।

जज के विचार में इस दल के नेता हैं–श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल।

श्री शचीन्द्रनाथ शान्याल का नाम किससे छिपा है। आप ही *'बंदी जीवन'* जैसी प्रसिद्ध व शानदार पुस्तक के लेखक हैं। बनारस के निवासी हैं और 1915 के गदर आंदोलन में आपने खूब काम किया था। आप बनारस षड्यंत्र के नेता व श्री रासबिहारीजी का दायां हाथ थे। तब उम्र कैद हुई थी लेकिन 1920 में छूट गये थे। फिर आप अपने पिछले काम पर ही जुट गये और सन् 1925 के शुरू में *'दी रेवल्यूशनरी'* पर्चा एक ही दिन में सारे हिन्दुस्तान में बंटा। उसकी भाषा व अच्छे विचारों की अंग्रेजी अखबारों ने भी खूब तारीफ की थी। आप फरवरी में पकड़े गये। आप पर उस सम्बन्ध में मुकदमा चलाया गया और आपको दो साल कैद की सजा मिली वहीं से आपको काकोरी के मुकदमे में घसीट लिया गया। आप बड़े जिंदादिल हैं। कोर्ट में स्वयं खुश रहना और दूसरों को खुश रखना ही आपका काम था। आपने अपना मामला स्वयं लड़ा। जज आपको सबका ही सबका गुरु कहता है। 'बन्दी जीवन' का गुजराती व पंजाबी में अनुवाद हो चुका है। आप अंग्रेजी और बंगाली के उच्च कोटि के लेखक हैं। अब आपको दो उम्र कैद हो गयी है। आपके साथ आपका छोटा भाई भूपेन्द्रनाथ सान्याल भी घसीट लिया गया। वह करीब बी.ए. में पढ़ता था। पकड़ा गया और उसे पाँच साल की कैद हो गयी।

श्री शचीन्द्र के बाद अत्यन्त प्रसिद्ध श्री रामप्रसाद बिस्मिल हैं। आप जैसा सुन्दर मजबूत जवान खोजने से भी मिलना मुश्किल है। बहुत योग्य आदमी है। हिन्दी का बड़ा लेखक है। आपने 'कैथराइन' 'बोल्शेविको के काम', 'मन की लहर' आदि अनेक पुस्तकें लिखीं। आप उर्दू के माने हुए शायर हैं। आपकी उम्र 28 वर्ष की है। पहले 1919 में मैनपुरी षड्यन्त्र में आपके वारंट निकले और आपके गुरु श्री गेंदालाल जी आदि पकड़े गये, लेकिन आप नेपाल की ओर चले गये और वहीं बड़ी मुश्किलें सहन कर गुजारा करते रहे। पूरा दिन हल चलाना, कुदाल चलाना, मेहनत मशक्कत करना और रात में डेढ़ आना (वर्तमान समय के लगभग 9 पैसे सं.) पाना, जिससे पेट भर रोटी भी नहीं खा सकते थे। कई बार तो घास तक खानी पड़ी। लेकिन मजा यह, फिर भी बैठकर कविता लिखना और भारतमाता की याद और प्रेम में आंसू बहाने और गीत गाना। ऐसे नौजवान कहाँ से मिल सकते हैं। आप युद्ध-विद्या में बड़े कुशल हैं। आपको फाँसी का दंड मिला और हंस दिये। ऐसा निर्भीक वीर, ऐसा सुदर जवान, ऐसा उच्च कोटि का लेखक और निर्भय योद्धा मिलना मुश्किल है।

तीसरे वीर श्री राजिन्द्रनाथ लाहिड़ी हैं। 24 वर्ष का अत्यंत सुन्दर जवान बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का विद्यार्थी था। जज कहता है कि यह युगान्तर दल का एक मजबूत स्तम्भ है। आप गाड़ी रोकनेवालों में थे। बाहर से था कमजोर सूखा-सा कलकत्ते के पास दक्षिणेश्वर बम फैक्ट्री में पकड़ा गया। वहीं दस साल कैद हुई। खुशी में मोटा होने लगा। काकोरी के मुकदमे में तो शरीर खूब भर गया था और अब फाँसी की सजा हो गयी।

वीर रोशन सिंह को फाँसी की सजा हुई। आप पहले पुलिस की मदद करते थे और बहुत से डकैत आपने पकड़वाये थे। आप भी फंस गये लेकिन आप कोई डकैत तो नहीं है; जज भी कहता है। नौजवान सच्चे देशभक्त थे। अच्छा! इस वीर को भी बार-बार नमस्कार।

इसके बाद श्री मन्मथनाथ गुप्त की बारी है। आप काशी विद्यापीठ के बी.ए. के विद्यार्थी थे। 17 बरस की उम्र है। बंगाली, गुजराती, मराठी, उड़िया, हिन्दी, अंग्रेजी और फ्रेंच आदि अनेक भाषाएं आपने सीख ली थीं। जज ने आपको भी डकैतियों में शामिल कर जेल भेज दिया था। आप बड़े निर्भय हैं और यह सजा सुनकर हंस दिये। आजकल जेल में भूख हड़ताल किये बैठे हैं। आपसे गैर-सरकारी सदस्य ने जेल में आकर पूछा कि खाना क्यों नहीं खाते, तो आपने उत्तर दिया कि हम मनुष्य हैं। हमारे साथ मनुष्यों जैसा व्यवहार होना चाहिए। मैं नहीं समझता कि इस पशुओं-जैसे व्यवहार को सहन कर मैं 14 साल तक जी

सकूँगा। तिल तिलकर मर जाने से एक बार मर जाना अच्छा है। आप पहले असहयोग में भी जेल खा चूके हैं।

अब जिस नौजवान का जिक्र होगा, उसे यदि महापुरुष कह दें तो कुछ झूठ न होगा। वह वीर श्री जोगेशचन्द्र चटर्जी हैं। आप कोमिल्ला (ढाका) के रहनेवाले हैं। वह बी.ए. में फिलास्फी के विद्यार्थी थे लोग कहते थे कि लड़का बड़ा होनहार है; लेकिन आपने कालेज तो क्या, पूरी दुनिया की फिलास्फी को लात मार दी और सब कुछ छोड़कर 'युगान्तर' दल में जा मिले। आपको डिफेंस ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार गिरफ्तार किया गाय और अकथनीय और असहनीय कष्ट दिये गये। एक दिन आपके सर पर पखाना डाल दिया गया और बुरी तरह मार-मारकर पूरा बदन जख्मी कर दिया गया। लेकिन आपके पास चुप से अधिक क्या रखा था। 1920 में छूटे तो एक मामूली कार्यकर्ता की तरह कांग्रेस में काम करते रहे। घर से गरीब हैं, लेकिन अपना घर तबाह करके भी दुनिया की सेवा होती है। आप 1923 में यूपी आये और फिर 'युगान्तर दल' की नींव रखी। 1924 में बंगाल लौट गये और पकड़े गये। पहले आपको ऑर्डिनेंस के तहत पकड़ा गया था, फिर यहाँ काकोरी लाया गया। आपको दस बरस कैद हुई बेहद खूबसूरत नौजवान हैं। जज ने आपकी बड़ी तारीफ की है।

श्री गोविन्द चरणकार उर्फ डी.एन. चौधरी लखनऊ में पकड़े गये। आप बहुत पुराने क्रांतिकारी हैं। 1918 या 1919 में ढाका में पुलिस आपको पकड़ने आयी। आपने गोलियों का जबाव गोलियों से दिया और गोलियों में से लड़ते-लड़ते भाग निकले लेकिन गोलियाँ खत्म हो चुकी थीं और आप घायल हो गये थे। पकड़े गये, काला पानी मिला। 1922 में बहुत बीमार हो गये थे, तब छोड़े गये। 1925 में फिर पकड़े गये और अब दस साल की कैद हो गयी।

अब श्री सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य के सम्बन्ध में कुछ लिखेंगे। आप भी बनारस के रहनेवाले थे। बनारस षड्यन्त्र के समय आपकी उम्र 16 बरस की थी। पकड़े गये लेकिन कुछ प्रमाणित न होने से छूट गये और फिर नजरबंद कर बुन्देलखण्ड में रखे गये। आप हिन्दी के एक बड़े प्रसिद्ध लेखक हैं। कानपुर के 'प्रताप' जैसे प्रसिद्ध अखबार के सहायक सम्पादक थे। आप बनारस से पकड़े गये और अब आपको सात साल कैद हुई है। आप बहुत सुन्दर गाते हैं। जेल में आप योगाभ्यास करते थे।

श्री राजकुमार कानपुर के रहने वाले हैं। आप बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में बी.ए. में पढ़ते थे। पकड़े गये। आपके कमरे से दो राइफलें निकलीं। बहुत सुन्दर गानेवाले और देखने में भी काफी सुन्दर हैं, जोशीले बहुत हैं। श्री दामोदर स्वरूप जब बहुत बीमार होने पर भी कोर्ट में बुलाये गये तो आपको जोश आ गया और आपने जज को खूब सुनायी। जज ने कहा कि फैसले के समय तुम्हें इसका मजा चखाया जायेगा। वीर युवक को दस साल की सजा हो गयी। जीवन एक तरह से तबाह हो गया, लेकिन आप हंस दिये। धन्य हैं यह वीर और इन्हें जन्म देने वाली माताएँ।

श्री विष्णुशरण दुबलिस मेरठ के रहने वाले हैं। वैश्य अनाथालय के अधीक्षक थे। बी.ए. में पढ़ते समय असहयोग कर दिया था और मेरठ को उन्होंने दूसरा बारदोली बना दिया था। सिविल नाफरमानी के लिए तैयार हो गये थे। बड़े सुंदर वक्ता थे। आपके घर युगान्तरकारियों की बैठक हुई थी। आपको सात साल की सजा हो गयी।

श्री रामदुलारे को भी सात साल की सजा हुई। आप कानपुर निवासी थे। स्काउट मास्टर, कांग्रेस के जोशीले लेखक थे। 6 अप्रैल को फैसला सुनाया गया, उस दिन सभी वीर गाते आये थे।

सरफरोशी की तमन्ना, अब हमारे दिन में हैं,
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में हैं।

सजाएं लापवाही से सुनीं और हंस दिये। उसके बाद दुख की घड़ी आ गयी। जिन वीरों ने एक साथ समुद्र में किश्तियां डाली थीं, उनके ही अलग होने का पल आ गया। 'क्रांतिकारी लोगों में जो अगाध और गंभीर प्रेम होता है, उसे साधारण दुनियादार आदमी नहीं समझ सकते।' श्री रासबिहारी के वाक्य का अर्थ भी हम लोग नहीं समझ

सकते। जिन लोगों ने 'सिर रख तली प्रेम की गली' में पैर रख दिया हो, उनकी महिमा को हमारे जैसे निकृष्ट आदमी क्या समझ सकते हैं। उनका परस्पर प्रेम कितना गहन होता है, उसे हम सपने में भी नहीं जान सकते। डेढ़ साल से अपने जीवन अन्धकारमय भविष्य के इन्तजार में मिलकर बैठे थे। वह पल आया, तीन को फाँसी, एक को उम्र कैद, एक को चौदह वर्ष कैद, चार को दस वर्ष कैद। बाकियों को पाँच से दस साल की सख्त कैद सुनाकर जज उन्हें उपदेश देने लगा, 'आप सच्चे सेवक और त्यागी हो, लेकिन गलत रास्ते पर चल रहे हो।'

गरीब भारत में ही सच्चे देशभक्तों का यह हाल होता है। जज उन्हें अपने कामों पर पुनर्विचार करने की बात कह चलता बना और फिर क्या हुआ। क्या पूछते हैं। जुदाई के पल बड़े बुरे होते हैं। जिन्हें फांसी की सजा हो गयी, जिन्हें उम्र भर के लिए जेल में बंद कर दिया गया, उनके दिलों का हाल हम नहीं समझ सकते। कदम-कदम पर रोनेवाले हिन्दुस्तानी, यों ही थर-थर काँपने लग जाने वाले कायर हिन्दुस्तानी, उन्हें क्या समझते हैं? छोटों ने बड़ों के पैरों में झुककर नमस्कार किया। उन्होंने छोटों को आशीर्वाद दिया, जोर से गले मिले और आह भरकर रह गये। जेल भेज दिये गये। जाते हुए श्री रामप्रसाद जी ने बड़े दर्दनाक लहजे में कहा।

दरो दीवार पे हम हसरत से नजर करते हैं।
खुश रहो एहले वतन हम तो सफर करते हैं।

यह कहकर वह बड़ी लम्बी, बहुत दुर की यात्रा पर चले गये। दरवाजे से निकलते समय उस अदालत के बड़े भारी रैंकन थियेटर हाल की भयावह चुप्पी को एक आह भरकर तोड़ते हुए उन्होंने फिर कहा–

हाय, जिस पर भी हम तैयार थे मर जाने को।
जालिम जीते जी हमसे छुड़ाया उसी काशाने को।

हम लोग एक आह भरकर समझ लेते हैं कि हमारा फर्ज पूरा हो गया। हमें आग नहीं लग उठती, हम तड़प नहीं उठते, हम इतना मुर्दा हो गये। आज वे भूख हड़ताल कर बैठे हैं और तड़प रहे हैं और हम चुपचाप तमाशा देख रहे हैं। ईश्वर उन्हें बल और शक्ति दे कि वे वीरता से अपने दिन पूरा करें और उन वीरों के बलिदान रंग लायें।

I

पुस्तक-समीक्षा :

राजनीतिक विचारों का इतिहास

- *शुभनीत कौशिक*

इतिहास विभाग,
सतीश चंद्र कालेज,
बलिया, उ. प्र. –277001

q रिवोल्यूशनरी पैम्पलेट्स, प्रोपगेंडा एंड पॉलिटिकल कल्चर इन कोलोनियल बंगाल, शुक्ला सान्याल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, (2014), पेज 211।

उपनिवेशित भारत में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरोध में हुए क्रांतिकारी आंदोलनों के इतिहास, उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि, भावी राष्ट्र की उनकी संकल्पना और राष्ट्रीय आन्दोलन और भारतीय समाज पर क्रांतिकारी आंदोलन के प्रभाव को लेकर कई पुस्तकें हाल के वर्षों में लिखी गई हैं, शुक्ला सान्याल की किताब क्रांतिकारी आन्दोलन को उसकी समग्रता में समझने के इन प्रयासों में एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

शुक्ला सान्याल अपना ध्यान बंगाल में क्रांतिकारी आन्दोलन के आरंभिक चरण पर केन्द्रित करती हैं, उनका अध्ययन काल 1905 में भंग भंग के विरोध में शुरू हुए स्वदेशी आन्दोलन से लेकर पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति तक बंगाल में हुए क्रांतिकारी आन्दोलन तक सीमित है, यह वह समय था जब क्रांतिकारियों ने अपनी राजनीतिक विचारधारा के प्रचार प्रसार के लिए विविध प्रयोग शुरू किए, क्रांतिकारी आन्दोलन के इस आरम्भिक चरण में किए गए राजनीतिक प्रयोग न सिर्फ इस चरण के क्रांतिकारी आन्दोलन के संबंध में, बल्कि बाद के क्रांतिकारी आन्दोलन के विकास के बारे में भी हमें गहरी समझ प्रदान करते हैं।

क्रांतिकारियों की राजनीतिक विचारधारा, उनके मूल्यों, उम्मीदों और आकांक्षाओं को समझने के लिए शुक्ला सान्याल क्रान्तिकारी संगठनों द्वारा जारी किए गए पर्चों के साथ ही क्रान्तिकारी आन्दोलन से जुड़े या उससे सहानुभूति रखने वाले समाचार पत्रों का भी बखूबी इस्तेमाल बतौर ऐतिहासिक स्रोत करती हैं, साथ ही वे उस व्यापक राजनीतिक सांस्कृतिक संसार को समझने की भी कोशिश करती है जिसका हिस्सा वे सभी क्रांतिकारी थे क्रांतिकारियों के प्रचार कार्य को वे एक विमर्श निर्माण की प्रक्रिया के रूप

में देखती है जिसमें न सिर्फ उपनिवेशी सत्ता और प्राधिकार (अथॉरिटी) के निहितार्थों की गहन चर्चा की जा रही थी बल्कि उन अर्थों में बदलाव करते हुए एक ऐसी अस्मिता को पढ़ने का प्रयास भी किया जा रहा था जो उपनिवेशी अस्मिता से अलग हो (पृष्ठ : 02) 'क्रांतिकारी राष्ट्रवादी' अस्मिता के निर्माण की प्रक्रिया में निजी औरर सार्वजनिक दायरों के मेल के साथ ही भावनात्मक और वैचारिक स्तरों का भी मेल हो रहा था।

साम्राज्यवाद की वैधता को चुनौती

जनता के बीच अपने राजनीतिक विचारों के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए क्रांतिकारियों ने समाचार पत्रों और आगे चलकर पर्चों को एक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली माध्यम के रूप में देखा, क्रांतिकारी आन्दोलन से सम्बद्ध लोग इस तथ्य से शुरू से ही वाकिफ थे कि समाचार पत्र सूचनाएँ और तथ्य मुहैया कराने के साथ साथ लोकमत का निर्माण भी करते हैं, वे यह भी अच्छी तरह समझ चुके थे कि लोकमत का प्रतिनिधित्र करने का सीधा अर्थ था वैधता और प्राधिकार हासिल करना उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए क्रांतिकारी गतिविधियों को एकमात्र उपाय के रूप में दिखलाने और अंग्रेजी शासन के बरवस क्रांतिकारी आन्दोलन की वैधता स्थापित करने की कोशिश भी क्रांतिकारियों ने इन पत्र पत्रिकाओं के जरिए की, लोकमत को अपने पक्ष में करने, उसके निर्माण और नियंत्रण को लेकर क्रांतिकारियों और उपनिवेशी शासन में संघर्ष चलता रहा, इस वैचारिक संघर्ष में क्रांतिकारियों ने *युगांतर, संध्या* और *वंदे मातरम्* सरीखे समाचार पत्रों के जरिए अपनी राजनीतिक सोच को लोगों तक पहुँचाने का प्रयास किया, *युगांतर* ने अपने लखों में साफ प्रकट होने वाले वैचारिक झुकाव, अपनी राजनीतिक वाकपटुता, भाषाई कौशल और ठेठ मुहावरेदार शैली से अपनी एक अलग ही पहचान बनाई अपनी इस खास शैली के चलते युगांतर ऐसे रुझान वाले क्रांतिकारी पत्र पत्रिकाओं के लिए एक आदर्श बन चुका था।

स्वदेशी आन्दोलन के दौरान ब्रिटिश राज की राजनीतिक वैधता पर सवाल उठाने के साथ ही एक ऐसे राजनीतिक क्षेत्र का भी विकास हुआ जो अपने स्वभाव में उपनिवेशवाद विरोधी था, इस प्रक्रिया ने एक ऐसी नई राजनीतिक भाषा का विकास किया जिसमें लोगों से आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाने, प्रतिशोध लेने और पुरुषार्थी बनने का आह्वान किया जा रहा था। स्वदेशी आन्दोलन ने ऐसे वैकल्पिक विमर्श की जमीन भी तैयार की जो यूरोपीय विचार नियंत्रण से मुक्त था और इसलिए आम भारतीय मानस के न सिर्फ बेहद नजदीक बल्कि उसके अनुरूप भी था।

क्रांतिकारी आंदोलन के आरंभिक चरण के बारे में शुक्ला सान्याल लिखती हैं कि क्रांतिकारी आंदोलनों से जुड़ी पत्र पत्रिकाओं में जिस भाषा, जिन सांस्कृतिक प्रतीकों, कथाओं, कवियों और व्यक्तित्यों का इस्तेमाल किया जा रहा था यह अधिकांशतया हिन्दू धर्म से ली गई होती थी (पृष्ठ : 32), और यह अकारण नहीं था कि क्रांतिकारी आन्दोलन से इस चरण में गैर हिन्दुओं की भागीदारी न के बराबर थी।

अक्सर युगांतर, संध्या और स्वाधीन भारत के लेखों में और बाद के पर्चों में भी धार्मिक और पौराणिक प्रतीकों का इस्तेमाल किया जाता था, मसलन क्रांतिकारियों को गतिविधियों और उनके बलिदानों को एक 'यज्ञ' के रूप में देखा जाता था, पर यह बात जोर देकर कहने की है कि हिन्दू धार्मिक प्रतीकों के इस्तेमाल के बावजूद क्रांतिकारियों के पर्चों में या आमतौर पर उनके लेखन में गैर हिन्दू समुदायों के प्रति कोई विरोधाभाव नहीं था और उनकी सोच हिन्दू पुनरुत्थानवादियों से बिल्कुल अलग थी। सान्याल चेताती है कि क्रांतिकारियों के इस सांस्कृतिक अलगाव को बहिष्करण (एक्सक्लूजन) के रूप में देखना गलत होगा क्योंकि इसी चरण में कई ऐसे पर्चे भी लिखे गए जिनमें हिन्दू, मुस्लिम एकता पर विशेष जोर किया गया, उनके अनुसार यह जरूरी नहीं कि राजनीतिक रूप से धार्मिक विमर्श हमेशा ही साम्प्रदायिक हो या दकियानुसी और पुरातनवादी हो।

दमन का प्रतिकार

जाहिर है कि क्रांतिकारियों के संगठनिक संघर्ष से साम्राज्यवादी शासन की राजनैतिक चेतना को खुली चुनौती मिल रही थी। इनके इस उद्यम से उपनिवेशी सरकार का उबल उठना भी बिल्कुल स्वाभाविक था, नतीजतन सरकार ने दमनकारी रवैया अपनाते हुए प्रेस की स्वतंत्रता का गला घोंटने की पूरी कोशिश की, इस क्रम में उपनिवेशी सरकार ने अनेक कानूनों, मसलन, समाचार पत्र अधिनियम (1908), प्रेस अधिनियम (1910) भारतीय दंड संहिता की धारा 124 ए आदि के जरिए क्रांतिकारी आंदोलन पर हमला बोला। शुक्ल सान्याल क्रांतिकारियों द्वारा अपनाई गई उन रणनीतियों का भी अध्ययन करती हैं, जिन्हें क्रांतिकारियों ने अपने विचारों के प्रचार प्रसार और उपनिवेशी सरकार के दमन से निबटने के लिए अपनाया और इस तरह समूची उपनिवेशी मशीनरी को धता बताया।

दमनकारी कानूनों की मौजूदगी में क्रांतिकारियों के लिए पत्र, पत्रिकाएँ छापना मुश्किल हो गया, तब उन लोगों ने पर्चे छापने शुरू किए और इस तरह क्रांतिकारी आंदोलन के प्रचार कार्य को रोकने की उन सभी सरकारी कोशिशों को एक हद तक नाकाम साबित कर दिया। समाचार पत्रों के उलटा इन पर्चों पर नियंत्रण करना, उन्हें जब्त करना या प्रतिबंधित करना उपनिवेशी शासन के लिए कभी भी आसान नहीं रहा, इन पर्चों में लेखक, प्रकाशक या मुद्रक का नाम नहीं होता था, ये पैम्फलेट क्रांतिकारियों को सरकार के चंगुल में फँसे बिना, अंग्रेजी सरकार को चुनौती देने का मौका देते थे, इनके लेखक अक्सर अंग्रेजी राज को बुराई का प्रतीक बताते थे इस तरह वे क्रांतिकारियों और सरकार के बीच के संघर्ष को अच्छाई और बुराई के बीच संघर्ष का रूप दे देते थे। सरकार ने पर्चों के वितरण पर भी अंकुश लगाने की कोशिश की, इसके लिए इनके लेखकों, प्रकाशको और वितरकों को गिरफ्तार भी किया, इन पर्चों की वितरण प्रणाली को पकड़ना बेहद मुश्किल काम था। इसलिए अंग्रेजी सरकार इन पर्चो के वितरण और प्रसार पर भी प्रभावी नियंत्रण नहीं कर पाई।

प्रेरक विचार

लोगों तक राष्ट्रवाद का संदेश पहुँचाने के लिए क्रांतिकारी आंदोलन से जुड़ी रचनाओं में (और राष्ट्रीय आन्दोलन में भी) गढ़े जा रहे ऐतिहासिक अतीत के 'ऐतिहासिक आख्यान' में वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं से कहीं ज्यादा हिस्सा मिथक और स्मृतियों का होता था। मिथक से भरे इन्हीं आख्यानों के जरिए राष्ट्र के अतीत और वर्तमान के बीच प्रगाढ़ संबंध कायम करने की कोशिश की जा रही थी, पर ध्यान रखना होगा कि इस दौरान पुरानी अवधारणाों और प्रत्ययों को जस का तस नहीं अपनाया जा रहा था, उनके अर्थों में आरंभिक बीसवीं सदी की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए जरूरी फेरबदल भी किए जा रहे थे, राष्ट्र और राष्ट्रीय समुदायों से जुड़े ऐतिहासिक आख्यानों और 'आविष्कृत' परम्पराओं के ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए एरिक हब्सिवाम और टेरेंस रेंजर द्वारा सम्पादित किताब *'द इन्वेंशन ऑफ ट्रेडीशन'* (1983) में संकलित लेख भी पढ़े जाने चाहिए।

शुक्ला सान्याल के अनुसार क्रांतिकारी आन्दोलन के इस आरम्भिक चरण पर तीन भारतीय विचारकों बंकिम चन्द्र चटर्जी, स्वामी विवेकानन्द और अरविंद घोष का प्रभाव उल्लेखनीय था। बंकिम ने अपने लेखन में राष्ट्र निर्माण के लिए इतिहास पर जोर दिया था पर खुद बंकिम का ऐतिहासिक लेखन उपनिवेशवादी इतिहास लेखन से गहरे प्रभावित था। उपनिवेशवादी इतिहासकारों मसलन जेम्स मिल द्वारा किए गए काल विभाजन में भारतीय इतिहास को हिन्दू, मुस्लिम और ब्रिटिश काल में बाँटा गया और मध्य काल को पतन के काल के रूप में दिखाया गया, इस पर बंकिम को कोई आपत्ति नहीं थी, बंकिम ने भारतीय राष्ट्रवाद को राष्ट्रीय अस्मिता गढ़ने के लिए सांस्कृतिक प्रतीक, छवियाँ और नारे दिए, पर साथ ही इन प्रतीकों ने भारतीय

राष्ट्रीयता की ऐसी छवि विकसित की जिसकी जड़े हिन्दू धार्मिक परम्परा में कहीं गहरे समाई हुई थी (पृष्ठ : 66) बंकिम ने 'अनुशीलन' का सिद्धान्त भी दिया, इसके अनुसार स्वतंत्रता हासिल करने के लिए भारतीयों को शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक रूप से मजबूत होना जरूरी था।

क्रांतिकारी आंदोलन को प्रभावित करने वाले दूसरे प्रमुख विचारक स्वामी विवेकानन्द का जोर समाज सेवा पर था। विवेकानन्द ने भारतीयों से 'पुरुषार्थी' बनने का आह्वान किया, उनके अनुसार धार्मिक क्षेत्र में देश के पुनर्जीवन के बाद ही राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक क्षेत्र में कोई बदलाव संभव था, अरविंद घोष के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता देश के पुनरुद्धार के लिए पहली जरूरी शर्त थी, इन तीनों ही विचारकों ने क्रांतिकारी आंदोलन और क्रांतिकारियों की विचारधारा पर अमिट प्रभार छोड़ा।

सखाराम गणेश देउरकर द्वारा रचित *देशेर कथा* (जिसके 1904-08) के दौरान बांग्ला में पांच संस्करण छपे और हिन्दी में भी जिस पुस्तक के एकाधिक अनुवाद हुए) जैसी अर्थशास्त्र पर लिखी किताबों, इतिहास, राजनीतिक और धार्मिक पुस्तकों के आलावा क्रांतिकारियों के अपने जीवन के अनुभवों ने भी उन्हें क्रांतिकारी आंदोलन में भाग लेने की प्रेरणा दी, बाल्तेयर, रूसो और मेजिनी सारीखे पश्चिमी विचारकों और विभूतियों ने भी क्रांतिकारी आंदोलन की विचारधारा को प्रभावित किया, साथ ही वैश्विक घटनाओं ने भी, मसलन रूस-जापान युद्ध (1905) और आगे चलकर रूसी क्रांति ने भी क्रांतिकारी आंदोलन पर प्रभाव डाला, पराधीन राष्ट्र में जीने को क्रांतिकारियों द्वारा न सिर्फ अपने आत्मसम्मान को खोने बल्कि अपनी अस्मिता को भी खो देने के रूप में देखा गया।

पुरुषवादी अध्ययन

उन्नीसवीं सदी के दौरान ही बंकिम चन्द्र चटर्जी ने अपने उपन्यास *आनन्दमठ* में पहली बार प्रकाशित गीत *'वंदे मातरम्'* के जरिए भारत माता की संकल्पना की मातृ देवी से प्रेरित यह बेहद शक्तिशाली संकल्पना न सिर्फ क्रांतिकारी आंदोलनों में बल्कि समूचे राष्ट्रीय आंदोलन के लिए एक प्रेरणादायी विचार के रूप में उभरी, लेकिन इसने गैर हिन्दुओं के लिए खासकर मुस्लिमों के लिए असहजता भी पैदा की। चित्रकार अवनींद्रनाथ टैगोर ने अपनी कूची से बंकिम की अमूर्त संकल्पना की एक मूर्त और आत्मीय रूप दिया स्वदेशी आंदोलन के दौरान भी बंग भंग का विरोध करते हुए समूची बंगाली जनता से 'बंग माता' के समान की रक्षा की गुहार की गईं; पर इस चरण के क्रांतिकारी पर्चों के विश्लेषण से सान्याल दिखाती है कि भारत माता और उसके संतानों की पर्चा अकसर पत्रों तक ही सीमित होती थी (पृष्ठ 59) क्रांतिकारी आंदोलन के सि आरंभिक चरण में आंदोलन में महिलाओं की भूमिका को लेकर एक चुप्पी थी।

'बंधुत्व' की जिस अवधारणा की चर्चा क्रांतिकारी पर्चों में होती थी वह भी पुरुषों तक ही सीमित थी। सान्याल के अनुसार भारत माता की संतान से भी तात्पर्य अकसर पुत्रों से ही होता था, पुत्रियों से नहीं (पृष्ठ 127-8) भारतीय पुरुष का यह दायित्व समझा जाता था कि वह भारत माता के साथ ही भारतीय महिलाओं यानी अपनी माताओं, बहनों और बेटियों के सम्मान और प्रतिष्ठा की रक्षा अंग्रेजों से करें, क्रांतिकारी आंदोलन ने अपने आरंभिक चरण में आन्दोलन में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी के सवाल पर गंभीरता से विचार नहीं किया, लेकिन राजनीतिक गतिविधियों में महिलाओं की भागादारी का कभी विरोध भी नहीं किया, अपने इस चरण में क्रांतिकारी आंदोलन में महिलाओं की भूमिका मुख्यतः बस यही थी कि वे अपने पुत्रों और भाईयों को देशहित में समर्पित कर दें और इस तरह क्रांतिकारी आंदोलन का समर्थन करें (पृष्ठ 180), महिलाओं की भागीदारी के सवाल पर क्रांतिकारी आंदोलन की यह चुप्पी आंदोलन के अगले चरण में जाकर ही खत्म हो सकी जब महिलाओं ने क्रांतिकारी आंदोलन में बढ़-चढ़कर भागीदारी की।

हिंसा का सवाल

क्रांतिकारी आंदोलन में हिंसा का सवाल एक अन्य महत्वपूर्ण विषय है जिसकी चर्चा शुक्ला सान्याल अपनी इस पुस्तक में करती हैं। उनका तर्क है कि बहुधा क्रांतिकारी आंदोलनों ने अपनी हिंसात्मक कार्रवाईयों को अपने प्रचार कार्य (प्रोपगेंडा) का ही एक हिस्सा समझा और उसे वैध ठहराने का प्रयास किया, हिंसा के सवाल पर विचार करते हुए शुक्ला सान्याल तीन पक्षों को ध्यान में रखने की सलाह देती हैं, यानी एक पक्ष जो हिंसा प्रायोजित कर रहा है, दूसरा पक्ष जो हिंसा का शिकार हो रहा है, और तीसरा पक्ष जो हिंसा का प्रत्यक्षदर्शी है। वे दिखाती है कि अपने आरंभिक चरण में भी क्रांतिकारियों को यह अहसास हो चला था कि हिंसक गतिविधियों से उपनिवेशी शासन की अजेवता छवि को जरूत तोड़ा जा सकता है, पर इससे किसी दीर्घकालीन उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती थी क्योंकि आखिरकार क्रांतिकारी आंदोलन का असल उद्देश्य तो उपनिवेशवाद के खिलाफ लम्बी लड़ाई के लिए देश को तैयार करना था, इस चरण में क्रांतिकारी आंदोलनों में अपनी हिंसक गतिविधियों को वैध ठहराने के लिए उन्हें 'दैवीय इच्छा' का नतीजा तक बताया।

भाषाई सीमा

पर्चो की वैचारिक सीमा का एक दूसरा पहलू था उनमें इस्तेमाल होने वाली भाषा का। यह भाषा बगैर किसी अपवाद के साधु बांग्ला (संस्कृत प्रधान बांग्ला) थी, पर्चो में इस्तेमाल होने वाले धार्मिक सांस्कृतिक प्रतीक ही नहीं उनकी भाषा भी यह जता देती है कि इस आरंभिक चरण में क्रांतिकारी आंदोलन जिस वर्ग को लक्षित कर रहा था वह या शहरों में रहने वाला ऊँची जाति का शिक्षित युवा वर्ग, अपने आरंभिक चरण में खुद क्रांतिकारी आंदोलन के अधिकांश सदस्य कुलीन वर्ग से आते थे, उस समय के यानी आरम्भिक बीसवीं सदी के बंगाल के राजनीतिक वातावरण को देखते हुए यह अस्वाभाविक नहीं था कि उनका लक्ष्य शहर में रहने वाले शिक्षित युवा वर्ग को अपनी ओर आकर्षित करना था, शायद इसलिए कि इस चरण में आम लोगों से उनकी भाषा में राजनीतिक संवाद कायम करने की कोशिश नहीं की गई या शायद कुलीन वर्ग से आने वाले क्रांतिकारी इसकी जरूरत को अधिक गहराई से नहीं समझ सकें।

बाद के चरणों में ही क्रांतिकारी आंदोलन अपने संगठन में अधिक समावेशी बन सका, साथ ही समाजवाद के प्रभाव से बाद के क्रांतिकारी आंदोलनों में धार्मिक प्रतीकों वाली भाषा की जगह अधिक धर्मनिरपेक्ष और समावेशी भाषा का इस्तेमाल किया जाने लगा, शुक्ला सान्याल की यह पुस्तक क्रांतिकारी आंदोलन में दिलचस्पी रखने वालों के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में रुचि रखने वाले हर व्यक्ति के लिए जरूरी किताब हैं।

I

کیفؔی اعظمی کی فلمی نغمہ نگاری

✍ तमन्ना शाहीन*

تمنا شاہین
شعبۂ اردو، ڈی۔اے۔وی۔پی۔جی۔کالج
(بنارس)

کیفؔی اعظمی کا شمار ایسے ترقی پسند شاعروں میں ہوتا ہے جنھوں نے مزدوروں اور پس ماندہ طبقے کی حمایت میں شاعری کی۔ان کی فلمی نغمہ نگاری پر بحث کرنے سے قبل ضروری ہے کہ ان حالات پر بھی غور کیا جائے جن کے سبب کیفؔی شاعری کی طرف راغب ہوے۔ان کے گیتوں کی گہرائی اور موسیقیت سمجھنے کے لیے یہ جاننا بے حد ضروری ہے کہ وہ کون سے واقعات وحادثات تھے جنھوں نے ایک چھوٹے سے گاؤں کے معمولی لڑکے کو غیر معمولی فن کار بنا دیا۔وہ کون سے اسباب تھے جنھوں نے کیفی کو فلمی دنیا کا حصہ بنایا اور انھوں نے گیتوں کے ساتھ ساتھ کئی فلموں کی اسکرپٹ اور مکالمے بھی لکھے۔ان تمام باتوں کے پیشِ نظر سب سے پہلے ان کی سوانح کا مختصر جائزہ لیتے ہیں تا کہ ان کی شاعری اور بالخصوص فلمی شاعری کو سمجھنے میں کسی قسم کی دشواری نہ ہو۔

کیفؔی کا اصل نام سید اطہر حسین رضوی تھا ان کا تعلق ضلع اعظم گڑھ کے مجواں نامی گاؤں سے تھا جہاں ۱۵؍اگست ۱۹۱۸ء کو ان کی پیدائش ہوئی۔ان کے والد فتح حسین رضوی کو دس اولادیں ہوئیں جن میں کیفؔی کا مزاج سب سے الگ تھا۔بچپن سے ہی وہ حساس طبیعت کے مالک تھے۔زمیندار گھرانے کے چشم و چراغ ہونے کے باوجود مزدوروں، بے کسوں اور بے سہارا لوگوں سے انھیں گہری ہمدردی تھی جس کے تحت آگے چل کر وہ کمیونسٹ بن گئے اور کامریڈ کہلاے۔کیفؔی کے گھر کا ماحول شاعرانہ تھا ان کے والد کو شعر وشاعری سے گہرا شغف تھا۔ان کے تینوں بڑے بھائی بھی شعر وسخن میں دلچسپی رکھتے تھے اور شعری نشستوں میں اپنا کلام پیش کیا کرتے تھے ایسے ماحول میں کیفؔی کے اندر شاعری کا جذبہ پیدا ہو جانا فطری بات تھی۔چنانچہ ان کی کم عمری کی شاعری پڑھ کر حیران نہیں ہونا چاہیے۔ان کی ابتدائی تعلیم وتربیت گھر پر ہوئی۔بعد میں دبیر، ماہر ودبیر کامل (فارسی) اور عالم (عربی) لکھنو یونیورسٹی سے کیا۔منشی کامل (فارسی) اور اعلیٰ کامل (اردو) کی ڈگری الہ آباد یونیورسٹی سے حاصل کی۔

کیفؔی اعظمی شیعہ تھے لیکن انھوں نے حیدرآباد کے معزز سنی گھرانے کی شوکت سے شادی کی۔شوکت اور کیفؔی کی ملاقات ایک مشاعرے میں ہوئی تھی جس کے بعد دونوں نے ایک دوسرے کے ساتھ شادی کا فیصلہ کر لیا۔شوکت کے گھر والے اس شادی کے خلاف تھے لیکن ان کی ضد سے مجبور ہو کر ان کے والدین نے سپر ڈال دی۔کیفؔی کے سامنے بھی بہت سے مسائل تھے لیکن ان کے دوستوں اور سرپرستوں نے ان کی شادی کی ذمہ داری قبول کر لی۔بالآخر شوکت کیفؔی کی شریک حیات بن کر ان کے ساتھ رہنے لگیں۔انھیں تین اولادیں ہوئیں جن میں سب سے بڑے بیٹے کا انتقال معقول علاج نہ ہونے کے سبب صرف ۱۱ سال کی عمر میں ہو گیا۔اس حادثے نے کیفؔی اور شوکت دونوں کو بری طرح جھنجھوڑ دیا لیکن جلد ہی اور بھی غم ہیں زمانے میں کے مصداق ان کے گھر میں دوسری اولاد پیدا ہوئی جو آگے چل کر بہترین اداکارہ اور سماجی کارکن کی حیثیت سے شبانہ اعظمی کے نام سے مشہور ہوئی۔اس کے بعد کیفی کے یہاں ایک بیٹا پیدا ہوا جس کا نام احمر اعظمی رکھا گیا لیکن شبانہ اسے پیار سے بابا کہتی تھیں اور فلمی دنیا سے رشتہ قائم ہونے کے بعد یہ لڑکا بابا اعظمی کے نام سے مشہور ہوا۔

---

* उर्दू विभाग, डी.ए.वी.पी.जी. कालेज, वाराणसी

۹ر فروری ۱۹۷۳ء کو کیفی پر فالج کا ایسا زبردست حملہ ہوا کہ ان کے زندہ رہنے کی کوئی امید نہ تھی لیکن ۱۲ گھنٹے تک مسلسل موت اور زندگی کے بیچ جدوجہد کے درمیان کیفی نے موت کو شکست دے دی مگر ان کا بایاں ہاتھ اور پیر ہمیشہ کے لیے مفلوج ہو گئے۔ ۱۹۷۸ء میں کیفی کی زندگی میں ایک ایسا حادثہ پیش آیا جس سے ان کے حوصلے پست ہونے لگے لیکن شوکت اور بچوں کا ساتھ انھیں زیادہ دنوں تک بیمار نہ رکھ سکا۔ دراصل وہ اپنے گاؤں مجواں کی سڑک بنوانے کے سلسلے میں لکھنؤ گئے تھے جہاں ان کا پیر پھسل گیا اور سیڑھیوں سے گرنے کے سبب ان کے پیر کی ہڈی کے تین ٹکڑے ہو گئے پھر بھی کیفی ہنستے مسکراتے رہے۔ یہ الگ بات ہے کہ ان حادثوں کے بعد کیفی کی صحت رفتہ رفتہ گرتی چلی گئی اور ۱۰ مئی ۲۰۰۲ء کو ممبئی کے اسپتال میں ان کا انتقال ہو گیا۔

یوں تو کیفی نے ابتدا سے ہی احتجاجی مزاج پایا تھا لیکن ترقی پسند تحریک نے ان کے دل و دماغ کو فکری وسعت عطا کرتے ہوئے اظہارِ خیال کی آزادی بخشی اور تحریک سے وابستگی کے بعد ان کے اندر کی انقلابی لہر پوری طرح سامنے آئی۔ جس کے سبب ان کا شمار انقلابی اور عوامی شاعروں میں ہونے لگا۔ کیفی کی شاعری میں معاشرے کے دبے کچلے انسانوں کے ساتھ ہمدردی کا جذبہ ملتا ہے انھوں نے محنت کش طبقے کی محرومی اور مایوسی کو انتہائی فن کاری سے پیش کیا ہے انھوں نے ایسا لب ولہجہ اختیار کیا ہے جو ہر خاص و عام کو متاثر کرنے کے ساتھ ساتھ مزدوروں کو حرکتِ عمل کے لیے اکساتا ہے۔ ان کا پہلا شعری مجموعہ ''جھنکار'' کے نام سے ۱۹۴۳ء میں شائع ہوا جس میں تقریباً ۵۵ نظمیں اور چند قطعات شامل ہیں۔ یہ حقیقت ہے کہ کیفی نے شاعری کی ابتدا غزل گوئی سے کی تھی لیکن رفتہ رفتہ وہ اس صنف سے دور ہوتے گئے۔ انھوں نے اپنی شاعری کو عشق و عاشقی کے محدود تصور سے محفوظ رکھا شاید یہی وجہ ہے کہ جھنکار کی نظمیں قاری کو نہ صرف چونکاتی ہیں بلکہ غور و فکر پر مجبور بھی کرتی ہیں۔ ان کا دوسرا مجموعہ ''آخرِ شب'' ہے جو ۱۹۴۷ء میں منظرِ عام پر آیا اس میں وہ نظمیں شامل ہیں جو کیفی کے قومی اور انقلابی رجحانات کو پیش کرتی ہیں۔ مشہور مثنوی 'خانہ جنگی' بھی اسی مجموعے میں شامل ہے۔ ان کا تیسرا اور اہم مجموعہ ''آوارہ سجدے'' کے نام سے ۱۹۷۳ء میں شائع ہوا۔ یہی وہ مجموعہ ہے جس پر انھیں ساہتیہ اکادمی ایوارڈ، اتر پردیش اردو اکادمی ایوارڈ، مہاراشٹر اردو اکادمی ایوارڈ اور سوویت لینڈ نہرو ایوارڈ دیے گئے۔ اس مجموعے کی اہمیت کا اندازہ اس پر ملنے والے انعامات سے بھی لگایا جا سکتا ہے۔ ۱۹۷۴ء میں کیفی کے فلمی نغموں کا مجموعہ ''میری آواز سنو'' کے نام سے شائع ہوا جب کہ ایک طویل نظم ''ابلیس کی مجلس شوریٰ'' ۱۹۷۷ء کے آس پاس منظرِ عام پر آئی۔ ان کا کلیات ''سرمایہ'' کے نام سے ۱۹۹۴ء میں شائع ہوا۔ اس میں ان کے فلمی نغمے شامل نہیں ہیں لیکن کچھ ایسی نظمیں ضرور ہیں جنھیں بعد میں کچھ رد و بدل کے ساتھ گیت کی شکل دے دی گئی۔

ہمارے لیے ان اسباب و عوامل کا جائزہ لینا بھی ضروری ہے جن کی وجہ سے کیفی نے فلمی دنیا میں قدم رکھا۔ دراصل نشیب و فراز اور عروج و زوال کا انسانی زندگی کے ساتھ گہرا رشتہ ہے۔ حادثات و مسائل کے بغیر زندگی کی حقیقت کا علم نہیں ہوتا پیسہ ایسی چیز ہے جس کی ضرورت اور اہمیت کل بھی تھی اور آج بھی ہے فرق صرف زمانے کی تبدیلی کا ہے۔ کیفی کی زندگی میں ایسے کئی مواقع آئے جب انھیں معاشی تنگی کا سامنا کرنا پڑا لیکن ایسے حالات میں بھی ان کی بیوی شوکت کے لبوں پر حرفِ شکایت نہ آیا۔ انھوں نے کیفی کا بھرپور ساتھ دیتے ہوئے تھیٹر میں کام کرنا شروع کر دیا اور کچھ دنوں بعد فلمی دنیا میں اداکاری کے جوہر دکھانے لگیں۔ امراؤ جان ادا، سلام بابے اور گرم ہوا جیسی فلموں میں ان کی اداکاری پسند کی گئی۔ شوکت کی محبت اور حوصلے نے کیفی کا حوصلہ برقرار رکھا۔ اور انھوں نے معاشی تنگی دور کرنے کے لیے جدوجہد شروع کر دی لیکن کسی نتیجے پر پہنچنے سے پہلے ہی ان کی زندگی میں بچے کی موت کی صورت میں ایسا حادثہ رونما ہوا جس نے انھیں ایک عجیب سی کشمکش اور تڑپ میں مبتلا کر دیا۔ اس بات کا ذکر کیا جا چکا ہے کہ کیفی کے پہلے بچے کی موت پیسوں کی کمی کے سبب ہی ہوئی اس لیے جب شبانہ اعظمی پیدا ہوئیں تو کیفی نے ان کی بہترین پرورش کے لیے فلمی دنیا سے رشتہ قایم کیا۔ چونکہ شاہد لطیف کیفی کی مالی حالت سے بخوبی واقف تھے اس لیے انھوں نے اپنی فلم ''بزدل'' کے لیے کیفی کو دو گانے لکھنے کو دیے۔ اس طرح کیفی نے ۱۹۵۱ء میں پہلا گیت لکھا۔ شاہد لطیف نے ان دو گیتوں کے لیے کیفی کو دو ہزار روپیہ بطور معاوضہ ادا کیا۔ پہلے گانے کی چند سطریں یہاں درج کی جا رہی ہیں:

روتے روتے گذر گئی رات رے
آئی یاد تیری ہر بات رے
نیند بھی میری نہ میری ہو سکی
رو کے شبنم بھی نہ یہ غم دھو سکی
تھی میں تیری پر نہ تیری ہو سکی

روتے روتے گذر گئی رات رے
آئی یاد تیری ہر بات رے

اس گانے کی کامیابی کے بعد کیفی مسلسل فلموں کے لیے لکھنے لگے۔انھوں نے سو سے زائد فلموں کے گانے لکھے جو آج بھی مقبول ہیں۔بزدل کے بعد انھوں نے بہو بیٹی(۱۹۵۲)،گل بہار(۱۹۵۴)،سخی حاتم طائی(۱۹۵۵)،ناتہ(۱۹۵۵)،یہودی کی بیٹی(۱۹۵۶)،زندگی(۱۹۵۶)،سلطانہ ڈاکو(۱۹۵۶)،لالہ رخ(۱۹۵۸)،چندو(۱۹۵۸)،کاغذ کے پھول (۱۹۵۹)،ایک کے بعد ایک(۱۹۶۰)،شمع(۱۹۶۱)،شعلہ اور شبنم (۱۹۶۱)،نقلی نواب(۱۹۶۲)،حقیقت(۱۹۶۴)،میں سہاگن ہوں (۱۹۶۴)،دودل(۱۹۶۵)،وغیرہ فلموں کے بعض گانے لکھے جن میں کچھ مقبول ہوے اور کچھ صرف فلم کی ضرورت کو ہی پورا کر سکے۔فلم 'ایک کے بعد ایک' کا یہ گیت ملاحظہ ہو:

نہ تیل اور نہ پانی، نہ قابو ہوا پر
دیے کیوں جلائے چلا جا رہا ہے؟
اجالوں کو تیرے سیاہی نے گھیرا
نگل جائے گا روشنی کو اندھیرا
چراغوں کی لو پر دھواں چھا رہا ہے
دیے کیوں جلائے چلا جا رہا ہے؟

کیفی کے اس گیت میں بڑی جاذبیت اور اثر انگیزی ہے۔یہ حیات انسانی اور اس کی کشمکش کی غمازی کرتے ہوے معاشرے کے ہر فرد کو آئینہ دکھاتا ہے۔کیفی نے نسل انسانی پر سوالیہ نشان لگاتے ہوے زندگی کی بے ثباتی کا بیان بھی خوبصورتی سے کیا ہے ان کے یہاں دردوغم، مایوسی و ناکامی کی فضا میں امید کی ہلکی سی کرن بھی نظر آتی ہے۔فلم 'کاغذ کے پھول' کا یہ گیت دیکھے:

وقت نے کیا، کیا حسیں ستم
تم رہے نہ تم، ہم رہے نہ ہم
جائیں گے کہاں، سوجھتا نہیں
چل پڑے مگر، راستہ نہیں
کیا تلاش ہے، کچھ پتہ نہیں
بن رہے ہیں دل خواب دم بہ دم

مندرجہ بالا گیت بہت زیادہ مقبول ہوا شاید اس کا سبب اس میں موجود فلسفیانہ گہرائی ہے اسی فلم کا دوسرا گیت ملاحظہ ہو یہ گیت بھی کیفی کے فلسفے کا ترجمان ہے:

دیکھی زمانے کی یاری
بچھڑے سبھی باری باری
اڑ اڑ جا پیاسے بھنورے
رس نہ ملے گا خاروں میں
بیٹھ نہ اُن گلزاروں میں
نادان تمنا ریتی میں
امید کی کشتی کھیتی ہے
اِک ہاتھ سے دیتی ہے دنیا
سَو ہاتھ سے لے لیتی ہے
یہ کھیل ہے کب سے جاری
بچھڑے سبھی باری باری

ان گیتوں کے برعکس فلم 'دو دل' کا درج ذیل گیت دیکھیے جس میں رومانیت کے ساتھ ایک عجیب سی بے چینی، کسک، ڈر اور خوف کی کیفیت ملتی ہے پھر بھی جذبۂ عشق عروج پر نظر آتا ہے:

آجا میرے سپنوں کے راجا
پیاسی ہرنی بن بن دھائے
کوئی شکاری آئے رے
چوری چوری پھندا ڈالے رے
بانہہ پکڑ لے جائے رے

یا فلم شمع کا یہ گیت دیکھیے جس میں عشق و عاشقی کی وسیع و عریض دنیا آباد ہے اور کیفی نے ایسی تراکیبیں اور علامتیں استعمال کی ہیں جو ادبی شاعری کے لیے مخصوص ہیں:

اس جرم پر کہ ہم نے چاہا تھا مسکرانا
مرنے نہ دے محبت جینے نہ دے زمانہ
یہ سوچ کر بجھا دی خود شمع آرزو کی
شاید ہو روشنی میں مشکل نظر ملانا

ان کے علاوہ فرار(۱۹۶۵)، اس کی کہانی (۱۹۶۶)، آخری خط (۱۹۶۶)، گھر کا چراغ (۱۹۶۷)، انوکھی رات (۱۹۶۸)، ہیر رانجھا (۱۹۷۰)، پاکیزہ (۱۹۷۱)، چھوٹی بہو(۱۹۷۱)، شاعرِ کشمیر مہجور (۱۹۷۲)، منگیتر (۱۹۷۲)، باورچی (۱۹۷۲)، گرم ہوا (۱۹۷۳)، ہنستے زخم (۱۹۷۳)، فاصلہ (۱۹۷۴)، حقیقت، دھوپ چھاؤں (۱۹۷۷)، سبھاش چندر (۱۹۷۸) ،ٹوٹے کھلونے (۱۹۷۸)،آخری مجرا (۱۹۷۸)، دیدارِ یار (۱۹۸۲)، یہ نزدیکیاں (۱۹۸۲)، سراغ (۱۹۸۲)، ارتھ (۱۹۸۲)، ہم رہے نہ ہم (۱۹۸۴)، کہاں تک آسمان ہے (۱۹۸۴)، شرط (۱۹۸۵)، ایک پل (۱۹۸۶)، پھر تیری کہانی یاد آئی (۱۹۹۳)، تمنا (۱۹۹۷)، چاندگرہن (۱۹۹۷) وغیرہ ایسی فلمیں ہیں جن میں کچھ فلموں کے بیشتر گیت کیفی نے لکھے جب کہ دیگر فلموں کے صرف ایک یا دو گانے ہی تحریر کیے۔ مذکورہ فلموں کے کچھ گیت رومانیت سے بھرپور ہیں تو کچھ انسانی زندگی کی پیچیدگیوں کو اجاگر کرتے ہیں جب کہ کچھ گیت حالات سے مقابلہ کرنے کا درس دیتے ہوئے ہر حال میں خوش رہنے کی تلقین کرتے ہیں۔ مثال کے طور پر فلم انوکھی رات کا یہ گیت دیکھیے:

ملے نہ پھول تو کانٹوں سے دوستی کر لی

کسی طرح سے بسر ہم نے زندگی کر لی

اب آگے جو بھی ہو انجام دیکھا جائے گا

خدا تلاش لیا اور بندگی کر لی

مندرجہ بالا نغمہ تصوف کی عمدہ مثال ہے۔ یہ حقیقت ہے کہ کیفی نے بے شمار گیت لکھے لیکن ان کے گیتوں میں سطحیت اور عامیانہ پن نہیں ہے۔ ان میں عشق و محبت، انسانی عروج و زوال، رشتوں کی پامالی، اعتبار کی شکست و ریخت، زندگی اور موت کی کشمکش کے ساتھ وطن پرستی کا جذبہ موجود ہے۔ فلم ہیر رانجھا کا درج ذیل گیت جذبوں کی صداقت کی بھرپور عکاسی کرتے ہوئے احساس کی گرمی اور بے چینی کو بخوبی ظاہر کرتا ہے اس میں نرمی اور نزاکت بھی موجود ہے۔ کئی دہائیاں گزرنے کے بعد بھی اس کی مقبولیت میں کمی نہیں آئی:

ملو نہ تم تو ہم گھبرائیں ملو تو آنکھ چرائیں

ہمیں کیا ہو گیا ہے،

تمہیں کو دل کا راز بتائیں، تمہیں سے راز چھپائیں

ہمیں کیا ہو گیا ہے؟

اس سلسلے کی دوسری مثال ملاحظہ ہو جس میں نازک خیالی کے ساتھ شیرینی اور لطافت بھی ہے:

تم اتنا کیوں مسکرا رہے ہو کیا غم ہے جس کو چھپا رہے ہو

آنکھوں میں نمی، ہنسی لبوں پہ کیا حال ہے کیا دکھا رہے ہو

مذکورہ غزل کا تعلق ہندی سنیما کی مشہور فلم 'ارتھ' سے ہے جس میں کیفی کے تجربات و مشاہدات کے ساتھ ان کا سوزِ دروں بھی جھلکتا ہے۔ اسی فلم کا دوسرا گیت دیکھیے جو ایک مضطرب دل کی آواز ہے:

جھکی جھکی سی نظر بے قرار ہے کہ نہیں

دبا دبا سا سہی دل میں پیار ہے کہ نہیں

وہ پل کہ جس میں محبت جوان ہوتی ہے

اس ایک پل کا تجھے انتظار ہے کہ نہیں

کیفی کے نغموں کی ایک اہم خصوصیت ان کے اندر موجود جذبہ حب الوطنی ہے۔انھوں نے کئی ایسی فلموں کے گیت بھی لکھے جن میں وطن پرستی کا جذبہ کہانی کا اہم حصہ ہے اور کیفی کے گیتوں نے اس جذبے کو پوری طرح پیش کیا ہے۔مثال کے طور پر' حقیقت' اور' ہندوستان کی قسم' فلموں کے نام لیے جا سکتے ہیں۔فلم' حقیقت' کا درج ذیل گیت ملاحظہ ہو:

کر چلے ہم فدا جان وتن ساتھیو!
اب تمہارے حوالے وطن ساتھیو!
زندہ رہنے کے موسم بہت ہیں مگر
جان دینے کی رُت روز آتی نہیں
حسن اور عشق دونوں کو رسوا کرے
وہ جوانی جو خوں میں نہاتی نہیں
آج دھرتی بنی ہے دلھن ساتھیو!
اب تمہارے حوالے وطن ساتھیو!

مندرجہ بالا گیت فلمی دنیا کے بہترین گیتوں میں شامل ہے اور ۳۰۔۴۰ سال گزرنے کے بعد بھی اس کی مقبولیت میں ذرہ برابر بھی کمی نہیں آئی۔ بلکہ آج بھی یوم آزادی اور یوم جمہوریہ کے موقعوں پر پورے اہتمام کے ساتھ یہ گیت بجایا جاتا ہے لیکن بیشتر وطن پرستوں کو اس بات کا علم نہیں کہ یہ کیفی کے قلم کا جادو ہی نہیں بلکہ ان کے دل کی آواز ہے جو انھوں نے علامتی پیرائے میں دوسروں تک پہنچانے کی کوشش کی ہے۔فلم' ہندوستان کی قسم' کا درج ذیل گیت دیکھیے جو وطن دوستی اور حب الوطنی کا نہ صرف پیغام دیتا ہے بلکہ وطن پر قربان ہونے کا حوصلہ بھی بخشتا ہے:

ہندوستان کی قسم، ہندوستان کی قسم
نہ جھکے سر وطن کا، ہر جوان کی قسم
پھر امتحاں نہ ہوگا، یوں امتحان دیں گے
مٹ جائیں گے زباں پر، جب ہم زبان دیں گے
ہے اس میں شان اپنی اس شان کی قسم

کیفی نے نظموں کے ساتھ ساتھ گیتوں میں بھی ظلم و جبر کے خلاف آواز بلند کی ہے۔انھوں نے اس معاملے میں کوئی سمجھوتہ نہیں کیا بلکہ اپنے جذبات واحساسات کو پوری ایمانداری سے گیتوں میں سمونے کی کوشش کی ہے۔انھوں نے معاشرے سے شکایتیں تو کی ہیں لیکن انداز کچھ ایسا اختیار کیا ہے کہ ان کی باتیں تلخ وترش نہیں لگتیں بلکہ ان کا طنز ہمیں اپنا محاکمہ کرنے پر مجبور کر دیتا ہے۔مثلاً:

ہاتھوں میں کچھ نوٹ لو، پھر چاہے جتنے ووٹ لو
کھوٹے سے کھوٹا کام کرو، باپو کو نیلام کرو
باپو باپو کرتے رہو، زہر دلوں میں بھرتے رہو
پرانت پرانت کو تنگ کرے، بھاشا سے بھاشا جنگ کرے
سب کو چاہیے اپنی زمیں، ہندوستان کوئی نہیں

ہم کو انساں میں ہے خدا کی تلاش
تم تجوری میں اس کو ڈھونڈ ھتے ہو
یہ تمہارے گھڑی گھڑی سجدے
یہ تمہاری گھڑی گھڑی پوجا
ایک رشوت ہے، بندگی کیا ہے
کون سوچے کہ زندگی کیا ہے

کیفی اعظمی کے فلمی نغموں میں ایسی کئی خوبیاں ہیں جو انھیں دوسرے گیت کاروں سے ممتاز کرتی ہیں۔انھوں نے اپنے گیتوں میں ادبی شگفتگی اور لطافت کو برقرار رکھتے ہوے ایک انوکھی اور دلچسپ فضا پیدا کی ہے جو ان کے مزاج کا حصہ ہے شاید یہی وجہ ہے کہ ان کے نغمے خالص فلمی نہیں لگتے بلکہ ان میں ادبی حسن بھی دکھائی دیتا ہے۔کیفی اعظمی کے مذکورہ نغمے ہندی سنیما میں بڑی اہمیت رکھتے ہیں۔ان کی ادبی اور فلمی خدمات کے لیے انھیں کئی اہم انعامات سے نوازا گیا جن کے ذکر کے بغیر یہ مضمون تشنہ رہ جاے گا۔دراصل آوارہ سجدے پر انھیں جو انعامات دیے گئے وہ ان کے ادبی معیار و مرتبے کا تعین کرتے ہیں۔ان کے علاوہ انھیں اور بھی کئی اعزازات سے نوازا گیا جن میں 'پدم شری ایوارڈ' اور بہترین کہانی کا 'پریسیڈنٹ ایوارڈ' انھوں نے قبول نہیں کیا۔دلی سرکار کا ملینئم ایوارڈ (۱۱؍لاکھ روپے نقد)،حکومت اتر پردیش کا ایوارڈ (ایک لاکھ روپے نقد)،لوٹس ایوارڈ،قومی یکجہتی کا پریسیڈنٹ ایوارڈ (فلم سات ہندوستانی کے ایک گیت پر)،بہترین کہانی کا فلم فیئر ایوارڈ،بہترین مکالمے کا فلم فیئر ایوارڈ،ریاست مہاراشٹر کا گورو ایوارڈ (ایک لاکھ روپے نقد)،ایفرو ایشین رائٹرس ایوارڈ،حکومت مہاراشٹر کا گیانیشور ایوارڈ،ماہنامہ ''آپ کی کائنات'' دہلی کی جانب سے لائف ٹائم اچیومنٹ ایوارڈ اور ساہتیہ اکادمی فیلوشپ ہندی اردو ادب ایوارڈ وغیرہ کیفی کی عظمت میں اضافہ کرتے ہیں اور مجھے یہ کہنے میں تامل نہیں کہ بے شک وہ ان اعزازات کے مستحق تھے۔

Mohd Kalam

سیمابؔ: نظریہ ساز شاعر

محمد کلام، شعبہ اردو، ڈی۔اے۔وی۔پی۔جی کالج

دل کی بساط کیا تھی نگاہ جمال میں
اک آئینہ تھا ٹوٹ گیا دیکھ بھال میں

اردو کے کلاسیکی دور کے آخری شاعر سیمابؔ اکبرآبادی کا یہ دلچسپ، پرتاثیر اور سلیس شعر خاص وعام کے زبان زد ہے۔ان کی غزلوں کی پاکیزگی اور ستھرائی سے آج ادبی حلقہ محتاج تعارف نہیں۔ سیمابؔ کا زمانہ اردو شاعری میں نئے رجحانات وامکانات کا زمانہ تھا۔ سیماب اکبرآبادی ۱۸۸۰ء میں آگرہ میں پیدا ہوئے، جو اس وقت اکبرآباد کے نام سے مشہور تھا۔ اکبرآباد کی اس زمین نے سیماب سے پہلے بھی اردو شاعری کو اپنی خدمات نظیر اور غالب کی صورت میں عطا فرمائی تھی، جن کے کارنامے اردو شعر وادب میں ایک رجحان ساز اور روایت کی حیثیت رکھتے ہیں۔ ایسا ہی کچھ معاملہ سیماب کا بھی تھا۔ سیماب کو اپنے معاصرین اور اردو کے نئے شاعروں میں ایک نظریہ ساز کا درجہ حاصل ہے۔ جنھوں نے زندگی کے بدلتے مسائل کو اپنی تعمیری اور امکانی فکر کے ساتھ شاعری میں برتنے کی کامیاب کوشش کی۔

سیمابؔ کی غزلیات دل بستگی اور اثر پذیری کا مادہ رکھتی ہے۔ وہ ایسے مقام سے کچھ کہتے ہیں کہ دل میں نشتر کی طرح کھٹک جاتا ہے، جس سے تکلیف کے بجائے ایک طرح کی لذت کا احساس ہوتا ہے۔ ان کی غزلوں کا خمیر کلاسیکی شاعری کے بطن سے نکلا ہے اور جدید شاعری نے اسے اپنا رنگ روپ عطا کیا ہے۔ سیماب اپنے طرز خاص اور فکر کے رنگین ورعنا نقوش سے اہل نظر کی کچھ اس طرح مدارات کرتے ہیں:

بدل گئیں وہ نگاہیں یہ حادثہ تھا اخیر
پھر اس کے بعد کوئی انقلاب ہو نہ سکا

تھا کہاں وقت کہ افسانۂ ہستی پڑھتے
صرف عنوان ہی عنوان نظر سے گذرے

کہانی میری رودادِ جہاں معلوم ہوتی ہے
جو سنتا ہے اسی کی داستاں معلوم ہوتی ہے

ہر چیز پر بہار ہر اک شے پہ حسن تھا
دنیا جوان تھی مرے عہد شباب میں

---

* Research Scholar, Deptt. of Urdu, B.H.U.

کہانی ہے تو اتنی ہے فریب خواب ہستی کی
کہ آنکھیں بند ہو اور آدمی افسانہ ہو جائے
نہ غرض حرم کے وقار سے، نہ صنم کدے کی بہار سے
ہمیں کام ہے درِیار سے، درِ یار پھر درِیار ہے
تو نہیں تو رات ہے محروم سوز ِزندگی
شام ہی سے چاندنی روپوش ہے تیرے بغیر
نیند آ آ کر اچٹ جاتی ہے تیری یاد میں
تارِ بستر نشترِ آغوش ہے تیرے بغیر
زندگی تجھ سے عبارت تھی، مگر جب تو نہیں
زندگی کا اپنی کس کو ہوش ہے تیرے بغیر
پھول اِدھر کھلے ہوئے، داغ اُدھر بجھے ہوئے
حسن کی صبح اور ہے، عشق کی شام اور ہے
ڈبوئی تھی جہاں طوفان نے کشتی
وہاں سب تھے، خدا کیا، نا خدا کیا
اے وحشت خیال اسے کیا جواب دوں
غربت یہ پوچھتی ہے کہ چھوڑ آئے گھر کہاں
سوز وفا ہے نا تمام، جاؤ کرو تم اپنا کام
آگ بجھانے آئے ہو آگ ابھی لگی نہیں
کوئی یہ شکوہ سرایانِ جَور سے پوچھے
وفا بھی حسن ہی کرتا تو آپ کیا کرتے
لفظوں کے پرستار! خبر ہی تجھے کیا ہے؟
جب دل سے لگی ہو تو خموشی بھی دعا ہے
وہ خواب پریشاں سے گھبرا کے ترا اٹھنا
آزردہ سی وہ چتون،رُکتی سی وہ انگڑائی
الٰہی خوابِ منزل کو نئی راتیں عطا فرما
یہی تارے گنے جائے گا میرا کارواں کب تک؟

جو لمحہ جاں گداز ہے وہ جان نواز ہے
خوش ہوں کہ میری عمر محبت دراز ہے
سلگنا اور جینا، یہ کوئی جینے میں جینا ہے
لگا لے آگ اپنے دل میں دیوانے دھواں کب تک؟

اس مختصر مقالے میں سیماب کے تمام کلام کی معنوی اور فنی خوبیاں اور خامیاں گنانا ممکن نہیں۔ تاہم مندرجہ بالا چند متفرق غزلوں کے اشعار سے سیماب کا رنگ تغزل سمجھنے میں کافی مدد مل سکتی ہے اور اس بات کا اندازہ بآسانی کیا جا سکتا ہے کہ خیالات کی گہرائی اور گیرائی، جذبات کی لطافت اور گداختگی، معنی کی نزاکت و پاکیزگی، لب ولہجہ کی سبک روی اور زبان کا ستھرا پن، غزل کے اندر نئے امکانات پیدا کرنے اور اسے آگے بڑھانے میں کس قدر ممد و معاون ثابت ہوسکتا ہے۔

اردو شاعری کی تاریخ پر نظر ڈالتے ہوئے جب ہم داغ اور امیر مینائی سے آگے بڑھتے ہیں، تو ہم عصر شاعروں کے درمیان ایک نظریاتی اختلاف ہی نہیں، ان کی اپنی حیثیت کے اندر بھی ایک عجیب تناقص اور غیر معمولی تضاد دکھائی دیتا ہے۔ اس کی وجہ یہ ہے کہ وہ دو مختلف ادوار کے درمیان ایک رابطہ کی حیثیت رکھتے ہیں۔ ان کی شاعری میں جو ایک تصادم کا احساس ملتا ہے وہ مزاج اور ماحول دونوں کا تصادم ہے۔ یہ شاعر ایسے وقت میں منظر عام پر آتے ہیں، جب کہ ادب میں جدید دور کا آغاز ہو رہا تھا۔ چند در چند تاریخی اسباب و محرکات ملک شعر و سخن میں ہنگامہ بپا کیے ہوئے تھے۔ نظم اور غزل میں سخت آویزش اور پیکاری تھی۔ صرف ہیئت ہی کے جھگڑے نہ تھے بلکہ شعر کے مواد اور قدیم اسلوب بیان سے بغاوت ہو رہی تھی۔ عشق اور داستان عشق سے برگشتہ اکیلے حالؔی نہ تھے۔ دوسرے شاعر بھی نظم کی حمایت میں اپنی آواز بلند کر رہے تھے۔ اس ارتداد کے بالمقابل وہ لوگ بھی صف بصف تھے جو داغؔ اور امیرؔ سے ترکہ میں ملی ہوئی غزل کو سینے سے لگائے آگے بڑھ رہے تھے۔ ان میں سے کچھ تو انشؔا اور امانتؔ کے رنگ میں عورت یا اس کے متعلقات یا امرد پرستی کی نفسیات پر زور قلم صرف کر رہے تھے۔ دوسرے قدر بلند سطح سے داستان عشق سناتے اور زبان و محاورہ اور مصطلحات و متعلقات شاعری کے برتنے میں اپنے فنی تجّر کی نمائش کرتے ،لیکن غزل کو زمانے کی مقتضیات سے متوازن کرنے کے لیے کوئی قدم نہ اٹھاتے۔ البتہ نظم نگار کو ''شاعر'' ماننے میں تکلف سے کام لیتے تھے۔ ادھر نظم کی طرف غزل کی گردن مار دینے کے اشارے کرتے۔ غرض دونوں جانب ہمہ ہمی تھی، دونوں طرف جوش تھا۔ ترقی پسندی اور رجعت پسندی کے الفاظ گو رائج نہ تھے مگر ان کا مفہوم اذہان میں اسی طرح راسخ تھا، جیسا کہ آج ہے۔ نظم کے پرستار اور غزل کے شیدائی ایک دوسرے کو حق اور ناحق، غلط اور صحیح کہتے اور پکارتے تھے۔

متذکرہ انتہا پسند طبقات کے علاوہ کچھ شعرا ایسے ضرور تھے جو مغربی ادبیات اور میرؔ و غالبؔ کے کلام سے اثر پذیر ہو کر غزل سے دلچسپی لیتے اور نظم کو بھی اردو شاعری کے لیے مفید اور کارآمد سمجھتے تھے۔ انھوں نے غزل کو معشوق کے زلف و رخسار، لب وابرو کے محدود دائرے سے باہر نکالنے کی کوشش بھی کی، تاکہ اس میں عرفان و حقیقت شناسی، اسرار کشائی، درس و پیغام، واردات و جذبات کے اظہار و بیان کے لیے زیادہ سے زیادہ گنجائش پیدا ہو۔ ایسے شعرا جدید ذہن رکھتے ہوئے بھی قدیم ادبی مذاق سے اپنا رشتہ توڑنے پر آمادہ نہ تھے۔ چنانچہ غزل کی اصلاح و تبدیلی کا کام صحیح طور پر نہ ہوسکتا تھا۔ ضرورت تھی کہ غزل کی اصلاح کا یہ کام علمی اور سائنٹفک بنیادوں پر کیا جائے۔ ایسے موقع پر تقاضائے وقت کو پورا کرنے کے لیے سیمابؔ آگے بڑھتے ہیں اور غزل کی اصلاح و تہذیب کے لیے آواز اٹھاتے ہیں۔ غزل کی حقیقت اور اس کی ضرورت پر سنجیدگی سے بحث کرتے ہیں۔ اس میں عصری رجحانات اور مسائل حیات کو پیش کرنے کی ترغیب دلاتے ہیں اور علی الاعلان کہتے ہیں کہ خیال کی رنگینی و نزاکت کے ساتھ جذبے کی متانت و عفّت کو متوازن رکھنا ہی اصل شاعری ہے۔ دوسری طرف وہ نظم کو غزل کا حریف یا مدّ مقابل ماننے سے صاف انکار کر دیتے ہیں۔ بلکہ غزل گو حضرات سے نظم کو اپنا لینے اور اس کی ترقی و اشاعت میں کوشاں رہنے کی آرا کا اظہار کرتے ہیں۔ اس سے سیماب کے ذہن کے مثبت رویے اور تعمیری سوچ کا اندازہ ہوتا ہے۔

نظم اور غزل کی کشاکش اور ایک دوسرے پر سبقت لے جانے کے زمانے میں ہر دو اصناف کی ترصیع و ترفیع کا بار گراں اٹھانا کوئی آسان کام نہ تھا۔

اگر طناب وطوالت کو کم کرنے کے لیے سیماب کے معاصرین میں سے بہترین غزل کے حامی فانیؔ وحسرتؔ کو متغزلین کا نمائندہ منتخب کرلیا جائے اور نظم کو چار چاند لگانے والوں میں سے اقبال اور جوش کو نظم کی نمائندگی سونپ دی جائے، تو بھی ایک سوال باقی رہ جاتا ہے کہ نظم کو اپنا کر اردو شاعری کی دنیا وسیع کرنے والے اور اس کے ذریعہ زندگی کے مسائل کا حل پیش کرنے والے صحیح راستے پر گامزن تھے یا غزل کو بڑھاوا دے کر اردو شاعری کو باطنی کیفیات سے معمور رکھنے والے وہ اساتذۂ فن ٹھیک راستے پر تھے، جو ہنوز نفسیات عشق کو اپنے فکر کی جولانگاہ تصور کرتے اور غزل کی نغمگی اور تاثر ہی سے زندگی کی تلخ کامیوں کو راحت فزا بنانے اور تقدیر کا اعلیٰ ظرفی کے ساتھ مقابلہ کرنے کا حوصلہ پیدا کرتے تھے۔ پھر ہم ان دونوں قسم کے شاعروں کے کمالات اور ان کے نتائج کو اپنی آنکھوں سے دیکھتے ہیں تو یہ فیصلہ کرنا اور بھی مشکل ہو جاتا ہے کہ متغزلین نے شعر و ادب کو نقصان پہنچایا یا نظم کے پرستاروں نے۔ اس لیے کہ اردو ادب کو مفید، کارآمد، دلآویز اور دلچسپ بنانے میں دونوں ہی طرح کے شعرا کی کاوش و کوشش کو دخل ہے۔ دونوں کی میناکاری اور فردوس آرائی سے آج کا اردو ادب باغ و بہار بنا ہوا ہے۔ چنانچہ اس وقت یہ بآسانی کہا جاسکتا ہے کہ زندگی کی تاویل و تنقید کے لیے غزل بھی اسی قدر ضروری ہے، جتنی کہ نظم، مگر ذرا دیر کے لیے چشم تصور سے اس وقت اور ماحول کا جائزہ لیجیے جب کہ سیماب اپنی شاعری کی ایک نئی راہ متعین کرنے جا رہے تھے۔ ایک طرف تو وہ داغ سے شرف تلمذ رکھتے تھے اور ان کے خون میں وہی معصومانہ تغزل اور خلوصِ شعری حرکت کر رہا تھا، جو اساتذۂ قدیم کا ترکہ تھا، اور دوسری جانب وہ نظم کے کیف و اثر سے اپنے ہم سفیروں کا بدلا ہوا رنگِ ترنم دیکھ رہے تھے۔ ایسے نازک مرحلہ پر یہ سیمابؔ کا ذوق سالم اور وجدان ہی تھا جس نے ان کو نہ صرف افراط و تفریط سے بچالیا اور نظم و غزل دونوں کے لیے وقف کر دیا، بلکہ اچھے اور تعمیری ادب کی طرف ان کی رہنمائی کی۔ چنانچہ سیماب کی حیثیت بطور ایک نظریہ ساز کے، تاریخی ہے اور آج نظم اور غزل ہی کی نہیں بلکہ نئے ادب اور پرانے ادب کی چپقلش کے دور میں میانہ روی اور اعتدال کے کئی جدید نظریات سیماب کی مثبت فکر اور خیالات کی ترقی یافتہ شکلیں ہیں۔

سیماب اکبرآبادی نے شروع ہی سے اپنے کلام میں غزل کی مروجہ یا مسلمہ عریانی یا خام خیالی کو داخل کرنے سے اجتناب برتا۔ تاہم انہیں قدیم رنگ تغزل سے جو لگاؤ تھا وہ مشق مطالعہ اور زمانے کے ساتھ بدلتا گیا۔ اور انھیں کے الفاظ میں یہ کہ ۱۹۱۸ء سے ایک نئی راہ اختیار کی۔ اب ان کے کلام میں ندرت خیال کے ساتھ جذبات آفرینی اور اسلوب بیان کی متانت بے حد نمایاں نظر آتی ہے۔ فلسفہ، تنقید اور علم کلام کی مشاقی سے ایک نیا رنگ و آہنگ پیدا ہوتا ہے، جس میں میر کا سوز، غالب کی شوکت اور داغ کی سلاست بیک وقت اور ایک جگہ جمع ہو گئی تھیں۔ اسی اسلوب کو انھوں نے اپنے آخر وقت تک قائم رکھا۔

ہر چند کہ سیماب پرانے اسالیب و طرز سخن کو از سرِ نو ترتیب دینے اور غزل کو نئے زمانے، نئے ماحول کے لیے سازگار بنانے میں پیش پیش تھے۔ تاہم غزل سے پرانا اور گہرا رشتہ ہونے کے سبب نظم سے موانست پیدا کرنا اور بحسن و خوبی اس سے عہدہ برآ ہونا سخت مشکل کام تھا۔ لیکن وہ ایک سچے اور اچھے شاعر کی طرح اس مشکل مرحلے سے بھی گذر گئے اور جس طرح انھوں نے غزل میں رچاؤ کے ساتھ ایک اندرونی فضائی کیفیت برقرار رکھنے کے لیے کامیاب جدوجہد کی، اسی طرح نظم کے رجحان کو عام کرنے کے لیے نعرہ بازی کے بجائے فکر و نظر کے اعلیٰ مظاہر سے کام لیا۔ نظم کی زبان و بیان میں ایک طرح کا جذباتی انہماک، ایک طرح کی بے ساختگی، بے تکلفی اور ایک طرح کا تیکھا پن پیدا کرنے میں بھی کامیاب رہے۔

سیماب کا اپنا ایک خاص رنگ تغزل ہے اور نظم نگاری کا ایک خاص اسلوب۔ اس میں شک نہیں کہ وہ ایک زبردست قوت آخذہ کے مالک ہیں، لیکن اخذ و قبول کے سلسلے میں انھوں نے اپنی انفرادیت کو ہر حال میں قائم رکھا ہے۔ جملہ کہنے میں کوئی عار نہیں کہ انھیں کے قلم کا یہ تصرف ہے کہ دوسرے دبستانوں سے بہت کچھ اثر قبول کرنے کے باوجود آگرہ اسکول نے ایک علیحدہ اور منفرد دبستان کی حیثیت سے اردو شعر و ادب میں اپنی جگہ بنالی ہے۔ نہ معلوم کتنے قدیم و جدید اسکول کے پیرو اسی آستانۂ شعر و ادب سے فیض حاصل کرنے کے بعد آپس میں دست و گریباں ہونے کے بجائے زندگی اور شاعری کو آگے کی طرف بڑھانے میں مصروف ہیں۔

یہ تو امر مسلمہ ہے کہ سیمابؔ کے معاصرین استادوں میں جتنے شاگرد سیمابؔ کو نصیب ہوئے، اتنے ان کے کسی دوسرے معاصر استاد شاعر کو میسر نہیں ہو سکے۔ اور اس بڑی تعداد میں دو چار دس بیس نہیں بلکہ سیکڑوں شاگرد اچھی خاصی شہرت کے مالک ہیں۔ ان میں سے اکثر صاحب تلامذہ بھی ہیں۔ پروفیسر حامد حسن قادری نے صحیح کہا ہے "انھوں نے اپنے علاوہ اور بھی بہت سے طالبان فن اور تشنگان ادب کی ادبی تعمیر کی، جو بغیر کسی وسیلہ کے آج کے ادب کے ستون کی حیثیت اختیار کر چکے ہیں۔ اور جو کل کے ادبی کارواں کے سالار قافلا بنیں گے۔ بعض آج ہی بن چکے ہیں۔"

اس سے بھی بڑھ کر یہ بات قابل توجہ ہے کہ سیماب کے اپنے کلام میں بقا اور ارتقا کی زبردست صلاحیت ہے اور ان کے کلام کے حسن تاثیر سے اصلاح تخیل اور شعر و ادب کی تہذیب و تزئین کا کام آئندہ بھی جاری رہے گا۔

حوالہ و کتابیات:

۱۔ تاریخ ادب اردو، جلد چہارم، ڈاکٹر جمیل جالبی، ایجوکیشنل پبلشنگ ہاؤس، دہلی ۲۰۱۳

۲۔ اردو شاعری پر ایک نظر، حصہ دوئم، کلیم الدین احمد، بک امپوریم، سبزی باغ، پٹنہ ۲۰۱۴

۳۔ تاریخ ادب اردو، رام بابو سکسینہ، ترجمہ مرزا محمد عسکری، ادارہ کتاب الشفاء، دہلی ۲۰۰۰

MD KALAM

Dept. of Urdu

D.A.V.P.G College, Varanasi

E-mail: mkalam31@gmail.com

Mob. 9369768609

Dr.Habibullah
Assistant Professor
Dep.of Urdu
DAV PG College
Varanasi
9452583533

’’کنورمہندر سنگھ بیدی سحرؔ-انسانی قبیلے کا ایک فرد‘‘

کنورمہندر سنگھ بیدی سحرؔ کی پیدائش ۹؍مارچ ۱۹۰۹ء کو منٹگمری (موجودہ پاکستان) میں ایک معزز زمین دار گھرانے میں ہوئی۔ان کی ابتدائی تعلیم آبائی وطن میں ہوئی۔اس کے بعد ۱۹۲۵ء میں چیفس کالج لاہور سے سینیر کیمبرج کا ڈپلوما کیا۔پھر ۱۹۲۹ء میں گورنمنٹ کالج لاہور میں داخلہ لیا جہاں سے تاریخ اور فارسی مضامین کے ساتھ بی۔اے۔کی ڈگری حاصل کی۔اس کے بعد آئی۔سی۔ایس۔کا امتحان پاس کیا اور اعلیٰ سرکاری عہدوں پر مختلف جگہوں پر فائز رہے۔ملازمت کے آخری مرحلے میں (۱۹۶۴) میں ڈائریکٹر پنچایت پنجاب بنے اور ۱۹۶۷ء میں ملازمت سے سبکدوش ہوئے۔

سحر کی شادی ۱۹۳۳ء میں سوہندر کور سے ہوئی۔مسز سوہندر کور مہاراجہ رنجیت سنگھ کے ممتاز جرنیل ہرے سنگھ تلوہ کے خاندان سے ہیں۔پسماندگان میں دو بیٹے اور ایک بیٹی ہے۔بیدی کا سلسلہ نسب سکھ مذہب کے رہنما گرونانک جی سے ملتا ہے۔مذہب اسلام اور ہندو مذہب کے تعلق سے سکھ مذہب کا عمل وجود میں آیا۔یہی وجہ ہے کہ وہ تمام مذاہب کے لوگوں کو قدر کی نگاہ سے دیکھتے ہیں۔

کنور صاحب باغ و بہار شخصیت کے مالک تھے۔ان کی اہمیت کئی حیثیتوں سے تھی۔ان کی سب سے بڑی خصوصیت انسان دوستی ہے۔وہ ہر انسان کے دکھ درد کو اپنا دکھ درد سمجھتے تھے۔یہی وجہ ہے کی شروع سے آخر تک وہ سماج کے بے سہارا نوجوانوں کی ہر طرح حوصلہ افزائی کرتے رہتے تھے۔اور حصول ملازمت میں بھی ان کی مدد کیا کرتے تھے۔سحرؔ نے جغرافیائی حد بندیوں کو توڑ کے علمی،ادبی،سماجی،ثقافتی میدانوں میں ہم آہنگی پیدا کرنے کے لیے قابل تحسین کارنامہ انجام دیا اور دانشوارانہ رائے عامہ کو ہموار کیا۔

سحرؔ صاحب مشاعروں کی نظامت کے سلسلے میں بھی کافی مشہور ہوئے۔چنانچہ ہندو پاک کے بڑے بڑے مشاعروں میں ان کی شرکت کامیابی کی ضامن سمجھی جاتی تھی۔ان کی نظامت کا انداز بالکل نرالا اور دلچسپ ہوتا تھا۔وہ دہلی میں آئے دن ہونے والے مشاعروں اور ادبی محفلوں میں پورے انشراح کے ساتھ حصہ لیتے تھے۔۲۶؍جنوری کا تاریخی مشاعرہ انھیں کی کاوش کا نتیجہ ہے۔

ان سب کے باوجود سحرؔ صاحب ایک کامیاب اور اچھے شاعر بھی تھے۔انھوں نے اپنی شاعری کا آغاز طالب علمی کے دوران چیفس کالج سے شروع کر دیا تھا۔اس وقت کا ان کا ایک شعر ملاحضہ ہو۔

ذرا ہشیار رہنا دیکھنا دھوکہ نہ کھا جانا
حسینوں نے چھپایا آستین میں مار ہوتا ہے

لیکن ان کی شاعری کو اصل جلا اور مقبولیت دہلی آ کر ملی۔دہلی کے ادبی وشعری ماحول سے انھوں نے بہت کچھ حاصل کیا۔اس وقت کے کہنہ مشق شعراء کی صحبتوں سے علمی نکات سیکھے اور انھوں نے اپنے تغزل آشنا کلام سے علم وادب کو وقار بخشا۔اب تک ان کے کم از کم تین مجموعے چھپ کر ادبی حلقوں سے داد و تحسین حاصل کر چکے تھے۔اس کے علاوہ ان کی نثری داستان ’’یاروں کا جشن‘‘ ہے۔جو ان کے حالات و زندگی پر مشتمل ہے۔سحرؔ کی شاعری میں قدیم

رنگ وآہنگ پایا جاتا ہے۔کسی شاعر کے کلام کا اصل جوہر وہ ہوتا ہے جو قاری یا سامع کو متاثر کرتا ہے۔چنانچہ سحؔر کا کلام اس سے خالی بھی نہیں ہے۔بعض اشعار کافی معیاری اور رنیالب ولہجہ لیے ہوئے ہیں جو ایک قادرالکلام شاعر ہونے کی دلیل ہے۔ان کے مجموعہ کلام میں بعض حصے ہمت افزاء،حوصلہ افزاء اور امیدافزاء ہیں۔چندمثالیں ملاحضہ ہوں:

عشق ہے مشعل ورنہ　　زندگی کیا ہے اک اندھیری رات

دیروحرم کو چھوڑ بھی آگے نظر بڑھا　　حدنظر ہے وسعت کون ومکان سے دور

خزاں قریب سہی منتظر سہی صیاد　　میں شاخ گل پہ نشیمن بنا کے دیکھ تو لوں

مآل کار سے ڈرنا تو بزدلی ہے مگر　　مآل کار نظر میں رہے تو اچھا ہے۔

سحؔر کی شاعری گزشتہ کئی برسوں سے ہمارے سامنے ہے۔ہندوپاک کے معیاری رسالوں میں ان کا کلام شائع ہوتا تھا اور بڑے شوق سے پڑھا جاتا تھا اس لیے ان کا کلام محتاج تعارف نہیں۔ان کے احساسات وخیالات بقول غالبؔ غزل کا آبگینہ پگھلتا جارہا ہے اور مے سے غرض نشاط نہیں دن رات کی یک گونہ بےخودی ہے۔سحؔر کا کلام زبان وبیان کے کانٹے پر تلا ہوا اور قدیم شاعرانہ رکھ رکھاؤ کا نمونہ ہے۔مثلاً

دل کی دنیا جو اجڑتی ہے اجڑ جائے سحؔر　　گھر یہ آباد ہوا کرتا ہے ویراں ہوکر

دل کو ہم خوگرستم ورضا کرلیں گے　　صورتیں اور بھی ہیں درد کی درماں کے سوا

طوافِ شمع سے جز مرگ کچھ حاصل نہیں پھر بھی　　نہ جانے کیا امیدیں لے کے پروانہ نکلتا ہے

دل کی دولت اگر نہ ہو حاصل　　ہر تونگر غریب ہوتا ہے

ہندوستان کے مختلف شہروں میں اور خاص طور سے دہلی اور اطراف دہلی کے ادبی حلقوں میں جب ان کی مقبولیت کا سورج چڑھنے لگا تو حاسدانہ مزاج اور مشکوک ذہنیت کے حامل افراد نے یہ باور کرانا شروع کردیا کہ وہ اپنی اعلیٰ افسری کی وجہ سے شعری محفلوں کی جان بنے ہوہے ہیں۔لیکن حقیقت یہ ہے کی اپنی صداقت کا اظہار اور غزل کی تہذیب اور مزاج کی واقفیت کی بنیاد پر انھوں نے اپنی شہرت کا ایوان کھڑا کیا تھا۔وہ اپنی شاعری کے بارے میں ''طلوع سحر''میں ایک جگہ لکھتے ہیں''نقاد حضرات کو غالباً نہیں یقیناً اس مجموعے میں نقص نظر آئیں گے۔میں غدر گناہ کو بدتر از گناہ سمجھتا ہوں لیکن ان حضرات سے صرف اتنا ہی کہوں گا''سو پشت سے ہے پیشہ آبا سپہ گری''۔

ضمناً یہ بھی گزارش کردوں کہ''طلوع سحر'' کی اشاعت میں میرے ذاتی،مالی یا اقتصادی اغراض وابستہ نہیں ۱ ،اس کے علاوہ (بیدی صاحب) نے اپنی کتاب''یاروں کا جشن'' جو پاکستان سے شائع ہوئی ہے،میں لکھتے ہیں''مجھے اپنی شاعری پر ناز نہیں لیکن اس بات پر فخر ضرور کرتا ہوں کہ مجھے خداوندتعالیٰ نے اردو زبان کی خدمات کا موقع دیا اور توفیق بھی عطا فرمائی اور تادمِ تحریر میری کوشش یہی رہے گی کہ میں اردو زبان کی زیادہ سے زیادہ خدمت کرسکوں۔اردو زبان سے مجھے قدرتی لگاؤ ہے''۔

وہ فن کی قدروں سے کافی حد تک واقف تھے اور اس کا احساس بھی انھیں شعر موزوں کرتے وقت رہتا تھا۔سحؔر صاحب مشکل پسندی اور افکار کی گہرائی وگیرائی کے قائل تو ضرور تھے لیکن افسوس کہ ان کے بیشتر کلام میں بلند حوصلگی کے باوجود تخیل کی گہرائی نہیں ہے۔اور یہی ان کے کلام کی خامی کہی جا سکتی ہے۔

یہ پہلے بتایا جاچکا ہے کہ سحؔر صاحب کا نسبی تعلق سکھ مذہب کے بانی گرونانک دیوجی سے ہے،اور سکھ مذہب کی تشکیل میں ہندوازم اور مذہب اسلام کی قدروں کا غالب حصہ آمیختہ ہے،اسی لیے سکھ مذہب ایک پل کا کام دے رہا ہے اور انسانی میل جول کی حوصلہ افزائی کررہا ہے۔سحؔر نے نبی کریم

ﷺ کی مدح وستائش میں نعتیں بھی کہی ہیں اوران کی نعتوں کی وارفتگی کسی خوش عقیدہ مسلمان نعت گو سے کم نہیں ہے۔ان کی نعتوں میں گداز دل اور سوز عشق کی چنگاری دبی ہوئی ہے۔ایک شعر ملاحضہ ہو۔

عشق ہو جائے کسی سے کوئی چارا تو نہیں
صرف مسلم کا محمدؐ پہ اجارا تو نہیں

سحرؔ نے اس وقت ہوش کی آنکھیں کھولی تھیں جب ہندوستان میں تحریک آزادی کی لو تیز ہو چکی تھی۔ ہندوستان تشکیل وتخریب اور تشکیک وایقان کی منزل وہم گمان سے گزر رہا تھا۔کچھ قدریں لٹ رہی تھیں تو کچھ نئے نظریئے جنم لے رہے تھے۔ ہندوستانی قومیت اتحاد و یگانگت سے تشکیل پا رہی تھی،اجتماعی زندگی میں مذہبی جذبات درمیاں میں کوئی دیوار کھڑی نہیں کرتے تھے۔سحرؔ نے اسی ماحول سے اپنی ذہنی اور جذباتی تشکیل کی۔ساری دنیا کے ایک کنبہ ہونے کا تصور ان کے فکر وخیال اور جذبہ واحساس میں ایسا رچ بس گیا تھا کہ وہ تمام عمر کبھی کسی سطحی جذبے کا شکار نہیں ہوئے اور عقیدوں کی شکست و ریخت کے طوفان میں بھی وہ ثابت قدم رہے۔ان کی شاعر کا یہ بین الاقوامی پہلو کافی جاندار اور قدر کی نظر سے دیکھنے کے لائق ہے۔ان کی وطنی اور قومی نظموں میں ہندوستان کے مسائل اور ہندوستانی قومیت کی خصوصیات کا ذکر جا بجا ملتا ہے۔انھوں نے شخصی مرثیے لکھنے کے ساتھ محترم شخصیتوں کو منظوم خراج عقیدت بھی پیش کیا ہے۔اس طرح کی نظمیں کافی طویل اور تفصیل ہیں۔

کنور مہندر سنگھ بیدی سحرؔ اس دنیا میں نہیں ہیں لیکن انھوں نے جو خدمات اردو زبان وادب کی کی ہے وہ اردو حلقوں میں ہمیشہ یاد کی جائیں گی۔

[1] طلوع سحر،کنور مہندر سنگھ بیدی،احوال واقعی،جنوری ۱۹۶۲ء دہلی